२०८–आत्मा, ईश्वर, उपेश्वर, एवं विराट्भावानानुगत उपासनातत्त्व का स्वरूप-समन्वय–

अव्यय आत्मदेवता है, अक्षर सर्वव्यापक ईश्वर है, आत्मक्षर उपेश्वर है, विकारक्षर सर्व-भूतान्तरात्मा नाम से प्रसिद्ध देवसत्यमूर्त्ति विराट्पुरुष है। इन चारों की उपास्यरूपता में तो कोई सन्देह नहीं है। परन्तु पाँचवे वैकारिकक्षररूप उपास्य के सम्बन्ध में सन्देह उपस्थित होता है। इस विवर्त्त का हमने जीवसृष्टि से सम्बन्ध वतलाया है। जीवात्मा तो उपासक बनता है, न कि उपास्य। फिर जीव-विवर्त्तरूप वैकारिक क्षर को उपास्य कैसे बतलाया गया?, यही उक्त सन्देह का बीज है। प्रसङ्गोपात्त इस सन्देह का भी निराकरण कर ही लेना चाहिए।

२०९–'विश्व'–भावानुबन्धी षड्विध (६) जीवसर्गों का तात्त्विक–स्वरूप–संस्मरण—

जीव विवर्त्त (१)—**आधिकारिक अचेतनजीव**, (२—**आधिकारिक चेतनजीव**, (३)—**आधि-कारिक अर्द्धचेतनजीव**, (४)—**आश्वत्थिक अचेतनजीव**, (५)—**आश्वत्थिक चेतनजीव**, **एवं** [६]—**आश्वत्थिक अर्द्ध चेतनजीव**, भेद से ६ भागों में विभक्त माने जासकते हैं। यद्यपि हमारी दृष्टि से **सूर्य्य-चन्द्रमा-नक्षत्र-ग्रह-पृथिवी** आदि विवर्त्त उपेश्वर हैं, परन्तु विश्वव्यापक षोडशीपुरुष की दृष्टि से ये सब विश्वावयव "**जीव**" ही कहलाएँगे। इन जीवों को ही हम "**आधिकारिक अचेतनजीव**" कहेंगे। "**यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्**" [शारीरकसूत्र] इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार अर्थप्रधान आत्मक्षर-विकारक्षरमूर्त्ति, अतएव अचेतन [चेतनागर्भित] यह जीववर्ग [सूर्य्य चन्द्रमादि] कर्म्म भोगने के लिए प्रवृत्त नहीं हुए हैं। अपितु ईश्वराज्ञा [षोडशीपुरुष की आज्ञा] से ये जीव सृष्टिकर्म्म-के सञ्चालन का नियत समय के लिए अधिकार प्राप्त करके ही प्रकट हुए हैं। जब सृष्टिकर्म्म की अवधि समाप्त होजाती है, तो ये **आधिकारिक अचेतनजीव** स्वाधिकृत कर्म्म से उपरत बनते हुए उसी स्व-प्रभव ईश्वरप्रजापति में विलीन होजाते हैं। ऐसे जीव ईश्वरीय बल से नित्ययुक्त रहते हैं। अतः इन्हें मध्यस्थ बनाकर भी उपासना के द्वारा वह बल प्राप्त किया जासकता है। इनके अतिरिक्त **गङ्गा, यमुना, सर-स्वती, सरयू**, आदि दिव्य नदियाँ भी इसी वर्ग में अन्तर्भूत हैं।

२१०–आधिकारिक–चेतन जीवों से अनुप्राणिता उपासना का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय––

दूसरा विभाग **आधिकारिक चेतन जीवों** का है। धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए समय समय पर **ईश्वरांश (षोडशीपुरुषांश)** योगमाया को आगे कर **राम–कृष्ण–परशुराम–कूर्म्म–वराह–मत्स्य–वामन** आदि शरीर धारण कर इस धरातल पर मानवशरीर से अवतीर्ण हुआ करता है। ये भी अधिकार लेकर ही प्रादुर्भूत होते हैं। इन का शारीरिक कर्म्म भोगार्थ प्रवृत्त नहीं होता, अपितु ईश्वराज्ञासिद्ध अधिकार-भाव से युक्त बनता हुआ यह वर्ग भी तद्रूप बनता हुआ अवश्य ही उपास्य बन जाता है। धर्म्मग्लानि के शान्त होने पर ये 'अवतारपुरुष' अपने आधिकारिक कर्म्मों से उपरत होते हुए लीलासंवरण कर अपने उसी परमधाम में लीन होजाते हैं। इन्हें मध्यस्थ बना कर भी आत्मदेवता की उपासना की जा सकती है।

२११-आधिकारिक-अर्द्धचेतन-जीवों से अनुप्राणिता उपासना का संस्मरण—

तीसरा विभाग आधिकारिक अर्द्धचेतन जीवों का है। अश्वत्थ, बट, बिल्व, तुलसी, केल, आदि कतिपय वनस्पतियाँ, सोमवल्ली, ब्राह्मी आदि कतिपय ओषधियाँ हीं आधिकारिक अर्द्धचेतन-जीव हैं। इन में तत्तद्देवप्राणों की अधिकाररूप से प्रतिष्ठा रहती है। इनका आविर्भाव लोकोपासना के लिए ही हुआ है। इन्हें मध्यस्थ बना कर भी देवप्राणोपासना के द्वारा आत्मोपासना की जा-सकती है।

२१२-आश्वत्थिक-अचेतन जीवों का स्वरूपेतिवृत्त-समन्वय—

चौथा वर्ग आश्वत्थिक अचेतन जीवों का है। पाषाण, लोष्ठ, आदि पार्थिव जड़ पदार्थ, उपयोग में आने वाले और और जड़पदार्थ अचेतन जीव हैं। कर्म्मपाप्मा के अतिशय आवरण से इनका चिंदश सर्वथा अभिभूत रहता है। अतएव आत्मसत्ता रहने पर भी ये जड़ बन गए हैं। (छां० उपनिषत्)। ऐसे निरिन्द्रिय अचेतन जीव न ज्ञान के अधिकारी हैं, न उपासना के। फलतः इन का उद्धार सर्वथा असम्भव बन जाता है। प्रतिसञ्चरक्रम की अन्तिम सीमा हीं इन के उद्धार का एकमात्र उपाय है।

२१३-आश्वत्थिक त्रयोदशविध (१३) चेतन--जीवों का स्वरूपेतिवृत्त-समन्वय—

पाँचवाँ वर्ग आश्वत्थिक चेतन जीवों का है। ये जीव ब्रह्मा-इन्द्र-प्रजापति-पितर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस--पिशाच- मनुष्य--पशु--पक्षी--कीट--कृमि इन तेरह भागों में विभक्त हैं। कर्म्मतारतम्य से ही इन्हें तत्तद्योनियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें उत्तर उत्तर जीववर्ग पूर्व पूर्व की अपेक्षा अल्पशक्तियुत है। पूर्व पूर्व जीववर्ग उत्तर उत्तर के जीववर्ग की अपेक्षा विशेष शक्तिशाली हैं। इन तेरहों में ब्रह्मादि पिशाचान्त आठ जीववर्ग "सत्त्वविशालदेवयोनि" नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं मनुष्यादि कृम्यन्त पाँच जीववर्ग "रजोविशाल-तिर्य्यग्योनि" नाम से प्रसिद्ध हैं।

२१४-आश्वत्थिक-चेतन-जीवों की उपास्यता का समर्थन—

उक्त पाँचों वर्गों में से पशु-पक्षी-कीट-कृमि, इन चारों को तो न उपासना का अधिकार है, एवं न ज्ञान का। शेष मनुष्यवर्ग ही उपासना का अधिकार रखता हुआ आत्माभ्युदय-निःश्रेयस् करसकता है। आठ देवता यद्यपि कर्म्मसंतान से बद्ध बनते हुए आश्वत्थिक जीव बन रहे हैं। तथापि स्वतःसिद्ध आठ सिद्धियाँ, एवं ९ तुष्टियों से यह वर्ग सिद्धि-तुष्टि शून्य, किन्तु सिद्धि तुष्टि-कामुक मनुष्य का उपास्य भी बन जाता है।

२१५-आश्वत्थिक-अर्द्धचेतन-जीव, तन्निबन्धन प्राणदेवता, एवं तदनुगता उपासना का रहस्यपूर्ण--समन्वय—

६ ठा वर्ग आश्वत्थिक अर्द्धचेतनजीवों का है। सम्पूर्ण वनस्पतियाँ, सम्पूर्ण ओषधियाँ हीं अर्द्ध-चेतन जीव हैं, जैसाकि—"अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः" इत्यादि व्याससिद्धान्त से स्पष्ट है। ये भी ज्ञान-उपासना, दोनों मार्गों से वञ्चित रहते हुए "तत्रैवावलम्बितो वेतालः" को चरितार्थ कर रहे हैं। इसप्रकार सम्भूय जीववर्ग ६ भागों में विभक्त होजाता है।

१-१-आधिकारिक अचेतनजीव—(सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि-पवन-ग्रह-नक्षत्र-गंगा-यमुना-आदि

२-२-आधिकारिक चेतनजीव—(राम, कृष्ण, कूर्म्म, मत्स्य, वराह, वामन आदि)

३-३-आधिकारिक अर्द्धचेतनजीव-(अश्वत्थ, बट, तुलसी, बिल्व, सोम आदि)

४-१-आश्वत्थिक अचेतनजीव--(पाषाण लोष्ठादि जड़ भौतिक पदार्थ)

५-२-आश्वत्थिक अचेतनजीव—[अष्टविध देवयोनि, पञ्चविध तिर्य्यग्योनि]

६-३-आश्वत्थिक अर्द्धचेतनजीव-[ओषधि-वनस्पति-वर्ग]

२१६-षड्विध (६) जीववर्गा से अनुप्राणिता उपासना से अनुप्राणित नीर-क्षीरविवेक—

अब यह विचार कीजिए कि, इन ६ वर्गों में से कौन वर्ग उपास्य है ?, एवं पूर्वोक्त, उपास्य वर्गों में से किस उपास्यवर्ग में किस जीववर्ग का अन्तर्भाव है ? । यदि उपासनाकाण्ड को थोड़ी देर के लिए एक ओर रख कर उपास्य की विज्ञानदृष्टि से मीमांसा की जाती है, तो ६ ओं ही वर्ग हमारे लिए उपास्य बन जाते हैं । **आधिकारिक-- अचेतनजीव, आधिकारिक-- चेतनजीव, आधिकारिक-- अर्द्धचेतन,** एवं **आश्वत्थिक चेतनजीवों में अष्टविध देवसर्ग (देवयोनियाँ),** इनकी उपास्यता में तो कोई सन्देह ही नहीं है । शेष रहते हैं—**आश्वत्थिक पञ्चविध तिर्य्यग्जीव, आश्वत्थिक अर्द्धचेतनजीव,** एवं **आश्वत्थिक अचेतन जीव** । पहिले आश्वत्थिक पञ्चविध वर्ग को ही लीजिए ।

२१७-'मानवोपासना' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय (मनुष्य की मनुष्य के द्वारा उपासना)—

मनुष्यों में वे मनुष्य, जो **वेदशास्त्र-सम्पन्न** हैं, शास्त्रानुसार **ज्ञान-भक्ति-कर्म्म** का अनुष्ठान करते हैं, **भगवद्भक्तिपरायण हैं, लोकोपकार** ही जिनके जीवन का मूलमन्त्र हैं, पीड़ितों के दुःखों से जिनका हृदय रोपड़ता है, राग-द्वेष से जो बाहिर निकल चुके हैं, ऐसे **ज्ञानी, भक्त, महात्मा, कर्म्मठ, योगी, वीतराग, आचार्य्य, सन्त, गुरु, उपदेशक,** आदि महापुरुष अस्मदादि साधारण मनुष्यों के लिए अवश्य ही उपास्य हैं । हम इन की उपासना से, इन के संसर्ग से, इनके उपदेश से अवश्य ही अपना आत्माभ्युदय-साधन कर सकते हैं । और हम तो इस सम्बन्ध में यह भी आवश्यक समझते हैं कि, मनुष्य के मनुष्यत्व की अभिव्यक्ति महापुरुषलक्षणा मनुष्योपासना पर ही निर्भर है ।

२१८–उपासना से अनुप्राणित प्रथम–सोपान, तदनुप्राणित 'लौकिकब्रह्म', एवं तदनु-बन्धिनी उपयोगिनी उपासना का स्वरूप–समन्वय—

यही उपासना का प्रथम सोमान है। बिना गुरूपदेश के हम, [मानव] और पशु, समानधरातल पर ही प्रतिष्ठित हैं। आज जिस **ज्ञान-भक्ति-कर्म्म**-रहस्य का हम यशोगान कर रहे हैं, वह इस **मानवोपासना** का ही सुपरिणाम है। **"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"** के अनुसार श्रुति भी ब्रह्मवेत्ता इन महापुरुषों को साक्षात् "ब्रह्म" ही कह रही है। "ब्रह्म लौकिकम्+" कहती हुई स्मृति भी सुसंस्कृत द्विजाति को **"लौकिकब्रह्म"** मान रही है। यही कारण है कि, आर्य्यसन्तान अपने उपदेशक गुरु को **"साक्षात् भगवान्"** मान कर ही उसकी उपासना करने में सर्वात्मनैव अभ्युदय निःश्रेयस् की संसिद्धि मानती आरही है। सचमुच ईश्वरात्मसमर्पण-रूपा उपासना से पहिले हमें इन महापुरुषों की ही अनन्योपासना करनी पड़ेगी, ईश्वरत् इन की ही सेवा करनी पड़ेगी–**"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया"**। ये ही ज्ञाननिष्ठ–तत्त्ववेत्ता हमारी उपासना से सन्तुष्ट होते हुए हमें रहस्यबोध कराएँगे,–**"उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः"**। भगवान् भी ज्ञानी पुरुष को अपना आत्मा बतलाते हुए उसकी उपास्यता ही सिद्ध कर रहे हैं–**"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"**। इन महापुरुषों की चरणरज का स्पर्श कर अस्मत् सदृश कितने भावुक मानवों का उद्धार होगया, यह ऐतिहासिक चरित्रों से स्पष्ट है। **इसप्रकार आश्वत्थिक कोटि का यह पहिला मनुष्यवर्ग (उक्तलक्षण) भी हमारा उपास्य बन जाता है।**

२१९–देवप्राणनिबन्धन–पशुओं की उपासना का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

दूसरा विभाग पशुओं का हैं। पशुओं में मनुष्यों की अपेक्षा अवश्य ही ज्ञानमात्रा की न्यूनता है, यह भी मानते हैं। इन्हें **ज्ञान**, एवं **उपासना** का अधिकार नहीं हैं, यह भी विज्ञान-सिद्ध है। परन्तु वैज्ञानिक महर्षियों की दृष्टि से तो ये भी उपास्य ही बने हुए हैं। रहस्य इस उपासना का है–**"प्राणदेवता"**। तत्तत्पशुओं

÷१–स्वाध्यायेन, व्रतै, होमै, स्त्रैविद्येने, ज्यया शुभैः।
महायज्ञैश्च, यज्ञैश्च–'ब्राह्मी–यं क्रियते तनुः॥ (हारीतः)।

२–गार्भैर्होमैर्जातकर्म्मचौड़मौञ्जी–निबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥ (मनुः)।

३–धृतिः(१)–क्षमा(२)–दया(३)–शौच(४)–मनायासो(५)ऽनुसूयितम्(६)।
अस्पृहत्त्वा(७)–मकामत्त्वं(८)–ब्राह्मणानामभी गुणाः॥

४–संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैः, रुत्तरैरपि संस्कृतः।
नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो–''ब्रह्म–लौकिकम्''।
ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः॥ (शङ्खः)।

में तत्प्राण--देवताओं की प्रधानता रहती है। इस **'पशु-उपासना'** से पशुशरीरगत तत्तत्प्राणदेवता का हमारे भूतात्मा के साथ सम्बन्ध होजाता है, एवं भूतात्मा देवविभूति से युक्त होकर परम्परया हमारे अभ्युदय का कारण बन जाता है।

२२०-महद्भूतात्मक आराध्य गौपशु का औपासनिक-समन्वय—

उदाहरण के लिए **अश्वपशु** को ही लीजिए। अश्व में **'रैवन्त नाक्षत्रिकप्राण'** रहता है। इस अश्वसम्पति के परिग्रह के लिए **आर्य्यराजा** विजयदशमी को अश्व का पूजन करते हैं (थे)। **अश्वमेधीय अश्व** को श्रुति ने अत्यन्त पवित्र, एवं उपास्य माना है। गजपशु साक्षात् गणपति की प्रतिमा है। मूषकपशु साक्षात् गणपति-प्राणमय है। हमारी गौपशु-निबन्धना उपासना तो सर्वलोकविदिता ही है। स्वयं श्रुति ने-"माता रुद्राणां, दुहिता वसूनां, स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः" कहते हुए गोवंश के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित कीं हैं। सत्यकाम जाबालने इसी गोतत्त्वोपासना के बल पर ब्रह्म का साक्षात्कार किया था (छान्दोग्य-उपनिषत्)। सुप्रसिद्ध सूर्य्यवंशी सम्राट् दिलीप ने इसी उपासना से रघुवंश सुरक्षित रक्खा था।

२२१-बुद्धियोगनिष्ठा-प्रवर्त्तिका महती उपासना, एवं तदाधारभूत महतोमहीयान् दिव्य-प्राणमूर्त्ति गौपशु—

हमें तो इस महद्भूतात्मक गौपशु की उपासना के सम्बन्ध में यह कहते भी संकोच नहीं होरहा कि, जिसे आत्मज्ञान प्राप्त करना हो, जिसे वेद का मौलिक रहस्य जानना हो, जिसे आत्मा का अविद्यावरण हटाना हो, जिसे अपनी बुद्धि का विकास करना हो, एवं सर्वान्त में जिसे गीतोक्त बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करनी हो, उसे अनन्यभाव से गौमाता की ही सेवात्मिका उपासना करनी हीं चाहिए। नित्यप्रति नियमतः गौमूत्र का पान करना हीं चाहिए, गोष्ठान के पवित्र, मलविशोधक वातावरण में रहना हीं चाहिए, गोस्पर्श से अपने पाप्मा शरीर को धन्य बनाते ही रहना चाहिए, गोदर्शन से अपने आप को कृतकृत्य ही समझना चाहिए। इसी सर्वोत्कृष्टा उपासना के प्रसार के लिए हमारे चरितनायक, सर्वेश्वरने (भगवान् कृष्णने) गोचारण, गोसेवावृत्ति को भी अपने जीवन का एक मुख्य उद्देश्य बनाकर हमें संकेत किया कि, यदि तुम बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करना चाहते हो, तो पहिले अपनी बुद्धि को निर्म्मल बनाओ, एवं इसके लिए गोपशु की ही अनन्य भाव से आराधना करो।

२२२-सौर- दिव्य--इन्द्र--प्राणात्मिका गौ एवं तदुपासना का समन्वय—

तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि, इस पशु का विकास आत्मघन सूर्य्य, किंवा सौर इन्द्रप्राण से ही हुआ है-"आयं गौः पृश्निरक्रमीत्"। उधर "सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" के अनुसार सूर्य्य साक्षात् आत्मदेवता हैं, एवं-"धियो यो नः प्रचोदयात्" के अनुसार यही सौर इन्द्रप्राण तुम्हारी बुद्धि का स्वरूप-समर्पक है। ऐसी दशा में बुद्धिघन सूर्य्य-सजातीय गौपशु की उपासना के अतिरिक्त और

कोई उत्कृष्ट साधन बुद्धि को निर्मल बनाने वाला नहीं हैं। और यह भी निश्चित है कि, बिना इस उपासना के तुम मेरी बुद्धियोगनिष्ठा के भी अधिकारी नहीं हो *।

२२३–विभिन्नप्राणात्मक विभिन्न अश्व-गज-मूषक–आदि प्राणियों की उपास्यता का संस्मरण—

इसीप्रकार संहारप्राणात्मक सिंह भी शाक्तों के लिए क्रम उपास्य नहीं हैं। 'श्याव', एवं 'शबल' नामक–'श्वानप्राणों' से कृतात्मा श्वान (कुत्ता) भी प्रेतकर्म्म-निबन्धन-बलि-प्रयोग की दृष्टि से श्राद्धादि कर्म्मों में उपास्य बना हुआ है। शीतलाप्राणात्मक-कपाललिप्तरसप्राणात्मक रासभ (गधा) भी शीतलाशक्ति–वाहनत्त्वेक उपास्य बना हुआ है। निदर्शनमात्र है। प्राणदेवता को मूल में रखते हुए सभी पशु हमारे उपास्य बने हुए हैं।

२२४–दिव्यप्राणनिबन्धन पक्षी, कृमि, आदि की उपासना का संस्मरण—

तीसरा विभाग पक्षियो का है। रामभद्रोपास्य शिवप्राणात्मक नीलकण्ठपक्षी, ब्रह्मप्राणात्मक हंस, प्रेतप्राणात्मक काक, आदि पक्षी भी तत्तस्थानों में उपास्य ही माने गए हैं। कृमिवर्ग की सर्पजाति की उपासना भी प्रसिद्ध ही है। 'नागपूजन' से सम्बन्ध रखनेवाली 'नागपञ्चमी' भी सर्वविदिता ही है।

२२५--आश्वत्थिक-अचेतन-जीवानुबन्धिनी प्रतिमोपासना (मूर्त्तिपूजन), एवं शास्त्र-सिद्धा भूतोपसना के सम्बन्ध में वेदभक्तों का व्यामोहन—

इसके अतिरिक्त आश्वत्थिक अचेतन जीववर्ग की प्रतिमारूप से उपासना भी लोकप्रचलिता है ही। सभी तो भगवदंश हैं, फिर इस दृष्टि से कौन सा भाग उपासनामर्य्यादा से बाहिर निकल सकता है ?- "**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**"। इसी आधार पर भागवतने अणु अणु को भगवान् का अव-तार बतलाया है। "**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**" के अनुसार 'भगवत्तत्त्व' सर्वत्र सबमें समष्टि-व्यष्टिरूप से व्याप्त है। "**सब में उसे देखना, सबको उसमें देखना ही**" उपासना का मूलमन्त्र है। समझ में नहीं आता, वेदनिष्ठ भी स्वामी दयानन्दजी ने लोकप्रचलिता प्रतिमोपासना (जड़ोपासना) का किस आधारपर विरोध कर आर्य्यजाति की सनातन श्रद्धा पर आघात करते हुए लोकसंग्राहक बुद्धिवाद का भेद करडाला, जबकि–"**भूतेषु भूतेषु निचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति**"--इत्यादि श्रुति भूतोपासना को भी सर्वथैव उपादेय बतला रही है। अत्र निवेदनीय यही है कि,--आश्वत्थिक त्रिविध जीववर्ग भी अवश्य ही हमारा [उपासक मनुष्य वर्ग का] उपास्य बन सकता है। और इसी आधार पर हमने वैकारिक त्वरूप इस पाँचवें आश्वत्थिक–जीववर्ग को भी उपास्य बतलाया है। फलतः सन्देहबीज को अङ्कुरित होने का कोई अवसर नहीं मिल सकता।

---

* इस गोतत्त्व का विशद वैज्ञानिक विवेचन श्रीकृष्णतत्त्वखण्डान्तर्गत "**मानुषोत्तमकृष्णरहस्य**" प्रकरण में देखना चाहिए।

२२६--आधिकारिक-अचेतन-उपास्य-जीवों से अनुप्राणिता उपासना, एवं उपासनातत्त्व-निबन्धन पञ्चविध विवर्त्त-भावों का तालिका-माध्यम से समन्वय-प्रयास—

षड्विध जीव वर्गों में उपास्य कौन कौन है ?, इस का समाधान हुआ । अब वह प्रश्न सामने उपस्थित हुआ कि, किस वर्ग का किस संस्था में अन्तर्भाव है ? । **आधिकारिक, सूर्य्य-चन्द्र-गङ्गादिलक्षण अचेतन उपास्य जीवों का** विकारसंस्था में अन्तर्भाव है, जोकि चौथी संस्था मानी गई है, जिसे कि हमने **'देवोपासना'** कहा है । **अवतारलक्षण आधिकारिक जीवों का** तीसरी आत्मक्षरसंस्था में अन्तर्भाव है । पाठकों को स्मरण होगा कि, इसी संस्था को हमनें **'यज्ञप्रजापति'** कहा है । एवं पूर्वप्रकरणों में यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, यज्ञ ही विष्णु है, एवं जितने भी अवतार [२४] सुने जाते हैं, वे विष्णुतत्त्व से ही सम्बन्ध रखते हैं। आधिकारिक अश्वत्थादि अर्द्धचेतन उपास्यों का, एवं आश्वत्थिक त्रिविध उपास्य जीवों का पाँचवीं **वैकारिकक्षरसंस्था** में हीं अन्तर्भाव है, इसी को हमने **"भूतोपासना"** कहा है । **यक्ष-राक्षसःभूत-प्रेतादि की, महापुरुषों की, पशु-पक्षी-सर्पादि की, देवप्रतिमाओं की** उपासनाओं का भी इसी पाँचवी संस्था में अन्तर्भाव है, जैसाकि निम्नलिखित परिलेख से स्पष्ट है ।

१--निर्गुणाव्ययात्मोपासना (आत्मोपासना)]————**अव्ययः**--उपास्यः (ज्ञानम्)

२--सगुणेश्वरोपासना (ईश्वरोपासना)]————**अक्षरः**--उपास्यः (भक्तिः)

३--आधिकारिक-चेतन--अचेतन जीवोपासना (अवतारोपासना)] ——**आत्मक्षरः**--उपास्यः (सत्कर्म्म)

४--आधिकारिक--अचेतन-जीवोपासना (प्राणदेवतोपासना) } --(प्राणदेवोपासना)]—**विकारक्षरः**:--उपास्यः (सुकर्म्म)

५--क--आधिकारिक-अर्द्धचेतन-जीवोपासना--(औ० वनस्पत्युपासना)
ख--आश्वत्थिक-चेतनजीवोपासना--(देवयोनि--तिर्यग्योन्युपासना)
ग--आश्वत्थिकअर्द्धचेतन-जीवोपासना--(ओषधि-वनस्पत्युपासना)
घ -आश्वत्थिक-अचेतनजीवोपासना——(प्रतिमोपासना)
]—**वैकारिक्षरः**--उपास्यः (कर्म्म)

——*——

२२७-पञ्चविधोपासनामूला-ईश्वरोपासना, जीवोपासना, जगदुपासना,-त्रयी का स्वरूप-समन्वय—

इसी उपासना-विवर्त्त को हम **ईश्वरोपासना-जीवोपासना-जगदुपासना**, इन तीन दृष्टियों से भी देख सकते हैं । **विशुद्ध निर्गुण अव्यय**, एवं **सगुणषोडशी**, दोनों के समन्वितरूप को **"ईश्वर"** माना

जासकता है । मध्य के आधिकारिक चेतनवर्ग (अवतार) को "जीव" कहा जासकता है । एवं आगे के ४-५ वें दोनों विवर्त्तों को "जगत्" कहा जासकता है । इसप्रकार ५ उपास्य-सँस्थाओं का इन तीन उपास्यों में हीं अन्तर्भाव होजाता है । **ईश्वरोपासना ज्ञानयोगात्मिका है, जीवोपासना भक्तियोगात्मिका है, एवं विश्वोपासना कर्म्मयोगात्मिका है** । उपासक जीव विश्व को उपासना का साधना बनाता हुआ जीववर्ग की उपासना करता हुआ तद्द्वारा ईश्वरभाव प्राप्त करने में समर्थ होजाता है । **विश्वोपासना उपासना का प्रथम सोपान हैं, जीवोपासना इस का द्वितीय सोपान है, एवं ईश्वरोपासना उपासक का तृतीय सोपान है, और यही उपासक की कृतकृत्यता है** ।

१ १--निर्गुणोपासना
२--सगुणेश्वरोपासना } ——————ईश्वरः (ईश्वरोपासना)—उपासना (उत्तमसोपानम्)

२ ३--आधिकारिक--चेतन--जीवोपासना (१)]——जीवः [जीवोपासना]—भक्तिः [मध्यमसोपानम्]

४--आधिकारिक--अचेतन--जीवोपासना [२]
३ ५--**क**--आधिकारिक-अर्द्धचेतन-जीवोपासना [३]
ख--आश्वत्थिक-चेतन-जीवोपासना [४] —जगत् [विश्वोपासना]—कर्म्म [प्रथमसोपानम्]
ग--आश्वत्थिक-अर्द्धचेतन-जीवोपासना [५]
घ--आश्वत्थिक-अचेतन-जीवोपासना [६]

२२८--संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, तथा गीताशास्त्र से अनुप्राणित प्रमाणवचनों का उपक्रम—

"एक ही उपास्य उक्तरूप से पाँच विवर्त्त-भावों में परिणत होरहा है" यह सिद्धान्त तभी सर्वमान्य बन सकता है, जबकि इस सम्बन्ध में ऋजुभावात्मक श्रौत-स्मार्त्त-प्रमाण उपस्थित कर दिए जाँय । शास्त्रैकनिष्ठ भगवान् की गीता का भक्तिमार्ग तबतक पाँच भागों में विभक्त नहीं किया जासकता, जबतक कि इन पाँचों के लिए शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित नहीं कर दिए जाते । प्रमाण के लिए प्रकृत में हम **संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्** इन चार भागो में विभक्त वेदशास्त्र, एवं वेदनिष्ठ **गीताशास्त्र**, इन दो शास्त्रों को ही पर्य्याप्त समझते हुए इनके प्रमाण ही उद्धृत कर रहे है । इस सम्बन्ध में यह विशेसरूप से लक्ष्य में रखना चाहिए-कि **संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत् गीता**, शास्त्र के इन ५ पर्वों में प्रत्येक में उक्त पाँचों उपास्यों का संक्षेप, तथा विस्तार से निरूपण हुआ है । इन में से क्रमप्राप्त पहिले **संहिता-भाग** को ही लीजिए, और तदाधारेणैव अपनी श्रद्धा को दृढमूल बनाने का निःसीम अनुग्रह कीजिए ।

२२६–[१]–"वेदसंहितामूलक–पञ्चधा–विभक्त–उपास्य-तत्त्व"—

१-निर्गुण-अव्ययात्मा (अव्ययः)—

१–"परिकोशं मधुश्चुत–"अव्यये" वारे अर्षति ।
अभि वाणीऋषीणां सप्त नूषत" ॥
—ऋक्सं० ६।१०३।३।

२–"अजो" न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रभिः सत्यैः ।
प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः ॥"
—ऋक्सं० १।६७।३ ।

३–एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति, 'एकं' वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥
—ऋकसं० ८।५८।२ ।

४–अचिकित्वाश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥
—ऋक्सं० १।१६४।६।

—–*—–

२–सगुणः–षोडशीप्रजापतिः (अक्षरः ❀)—

१ —"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥"
—ऋक्सं० १०।१२१।४।

२—"प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः ।
शिवा सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तास्तां वयं प्रजया संमदेम ॥"
—ऋक्सं० ०।१६९।४।

❀–तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति, तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति ॥
—ऋक्सं० १।१६४।४२

३—"यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स 'षोडशी' ॥
—यजुःसं० ८।३६।

४—"यस्माज्जातं न पुरा किंच नैव य आ बभूव भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषी सचते स षोडशी" ॥
—यजुःसं० ३२।५।

३-सविकारो यज्ञप्रजापतिः [आत्मक्षरः ÷]—

१—"यज्ञो" देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः ।
आवोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादंहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत् ॥
—ऋक्सं० १।१०७।१।

२—"इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं "यज्ञो" भुवनस्य नाभिः ।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥
ऋक्सं० १।१६४।३५

३—यज्ञं पृच्छाम्यवमं स तद् तो वि वोचति ।
क्व ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद्बिभर्त्ति नूतनः ॥
—ऋक्सं० १।१०५।४।

४—"यज्ञेन "यज्ञ" मयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥
यजुःसं० ३१।१६।

———*———

४-साञ्जनो विराट् प्रजापतिः [विकारक्षरः ❀]—

१—तस्मा "द्विराड" जायत, विराजो अधिपूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥
—ऋक्सं० १०।९०।५।

÷-परिणो अश्वमश्वविद्गोमदिन्दो हिरण्यवत् । "क्षरा" सहस्रिणीरिषः ।
—ऋक्सं० ९।६१।३।

❀-समाववर्ति विष्ठितो जिगीषुर्विश्वेषां कामश्चरताममाभूत् ।
शश्वाँ अपो "विकृतं" हित्व्यागादनु व्रतं सवितुर्दैव्यस्य ॥
ऋक्सं० २।३८।६।

२—"विराट्"–मित्रावरुणयोरभि श्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः।
विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्त ऋषयो मनुष्याः ॥
—ऋक्सं० १०।१३०।५।

३—ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवीः कवीनाम् ।
तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो "विराज" मनु राजति ष्टुप् ॥
—ऋक्सं० ६।६६।१८।

४—"ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम् ।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं "गोपति" गवाम् ॥
—ऋक्सं० १०।१६६।१



५-सावरणो विश्वप्रजापतिः [वैकारिकत्त्वरः]—

१- त्वं नो अग्ने पित्रोरुपस्थ आ देवो देवेष्वनवद्य जागृविः ।
तनूकृद्बोधि प्रमितिश्च कारवे त्वं कल्याण वसु "विश्व" मोपिषे ॥
—ऋक्सं० १।११।९।

२–ऊर्ध्वो न पाह्यंहसो नि केतुना "विश्वं" समत्रिणं दह ।
कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः ॥
—ऋक्सं० १।३६।१४।

३–यद्वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः ।
अग्निष्ट--'द्विश्वमा' पृणाति विद्वान्येभिर्देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति ॥
—ऋक्सं० १०।२।४।

४–व्यस्तभ्नाद्रोदसी मित्रो अद्भुतोऽन्तर्वावदकृणोज्जोतिषा तमः ।
वि चर्म्मणीव धिषणे अवर्त्तयद्वैश्वानरो 'विश्व' मधत्त वृष्ण्यम् ॥
—ऋक्सं० ६।८।३।

१

———*———

२३०-[२]-ब्राह्मण-मूलक-पञ्चधा-विभक्त-उपास्य-तत्त्व—

१-निर्गुण-अव्ययात्मा [अव्ययः]—

१-सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥
—गो० ब्रा० पू० १।२६।

२-"सर्वं ह्ययमात्मा (अव्ययः)" [शत० ब्रा० ४।२।२।१।]।

३-"यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, अयमेव सः-योऽयमात्मा । इदममृतं, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम्" [शत० १४।५।५।१।]।

४-"असङ्गो ह्ययं पुरुषः" [शत० १४।७।१।१७।]।

२-सगुणः षोडशीप्रजापतिः [अक्षरः ❀]—

१-षोडशकलं वै ब्रह्म [गौ० उ० ब्रा० ३।३८।३।]

२-षोडशकलः प्रजापतिः [शत० ब्रा० ७।२।२।१७]।

३-स (प्रजापतिः) "षोडशधाऽऽत्मानं व्यकुरुत" (जै० उ० ब्रा० १।४।६।२।)।

४-त्रिवृद्धं (मनः-प्राण वाङ्मयः) * षोडशी (कौ० ब्रा० १७। ।३।

——*——

३-सविकारो यज्ञप्रजापतिः [आत्मक्षरः]—

१-एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः (शत० ब्रा० ४।३।४।३।)।

२-यज्ञ उ वै प्रजापतिः (कौ० ब्रा० १०।१।)।

३-स वै यज्ञ एव प्रजापतिः (शत० १।७।४।४।)।

४-विष्णुर्वै यज्ञः [ऐ० ब्रा० १।१५।]।

——*——

---

* यद्वेवाक्षरं-नाक्षीयत-तदस्मादक्षयम् । अक्षयं ह वै नामैतत्-तदक्षरमिति परोक्षमाचक्षते ।
—जै० उ० ब्रा० १।२४।२।

४–साञ्जनो विराट् प्रजापतिः (विकारक्षरः)—

१–विराट् सृष्टा प्रजापतेः, योनिरग्ने प्रतिष्ठितिः [तै० ब्रा० १।२।२।२७।]।

२–विराड् वाऽग्निष्टोमः (अग्नि-वाय्वेन्द्रष्टोमः) [कौ० ब्रा० १५।५]।

३–वैराजो वै पुरुषः [तां० ब्रा० २।७।८।]।

४–वाग्वै विराट् [शत० ३।५।१।३४]।

——*——

५–सावरणो विश्वप्रजापतिः (वैकारिकक्षरः)—

१–यद्वै विश्वं सर्वं तत् [शत० ब्रा० ३।१।२।११।]।

२–इमे वै लोका विश्वा सद्मानि [शत० ६।७।३।१०]।

३–"वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता" [तै० ब्राह्मण ३]।

४–यो जागार भुवनेषु विश्वा (शत० ब्रा० ११।३।१।८)।

२

——*——

२३१–३–आरण्यकमूलक पञ्चधा-विभक्त उपास्यतत्त्व—

१–निर्गुण अव्ययात्मा-(अव्ययः)—

१–तस्मात् पुरुषं पुरुषंप्रत्यादित्यो भवति [ऐ० आ० ३।२।३),

२–आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् [तै० आ० ६।१।५।]।

३–विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् "

४–मनो ब्रह्मेति व्यजानात् "

५–स एष पुरुषः समुद्रः [तै० आ० २।३।३]।

——**——

२–सगुणः षोडशीप्रजापतिः [अक्षरः]—

१—अम्भस्य पारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीयान् ।
शुक्रेण ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तः ॥
(तै० आ० १।१)।

२—यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
तदेव भूतं तदु भव्यमा इदं तदक्षरे परमे व्योमन् ॥ (तै० आ० १।१।)
३—प्रजापति र्वा इदं पुरुषमुदञ्चत ॥ (शां० आ० ११ अ० १) ।
४—तदेवर्त्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परम कवीनाम् ।
इष्टापूर्त्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्त्ति भुवनस्य नाभिः ॥
(तै० आ० १०।१) ।

——**——

३-सविकारो यज्ञप्रजापतिः (आत्मक्षरः)—

१—स एष वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरि क्रमो-यत्-"यज्ञः" (ऐ० आ० २।३।३) ।
२—एष वै यज्ञ यज्ञोऽहन्यहर्देवेषु देवोऽध्यूढो यदेतन्महदुक्थम्"
(ऐ० आ० २।३।४।) ।
३—मखाय त्वा, मखस्य शीर्ष्णे (तै० आ० ४।२।) ।
४—प्रसूतेन वै यज्ञेन देवाः स्वर्गं लोकमायन् (तै० आ० २।६।१।) ।

——**——

४-साञ्जनो विराट् प्रजापतिः [विकारक्षरः]—

१—अथातो विजवस्ता विराजो भवन्ति, तस्मात्पुरुषः (ऐ० आ० १।४।१।)
२—विराजः शंसति । अन्नं वै विराजः (ऐ० आ० १।५।२।) ।
३—तन्नक्षत्रियो विराजमाप्नोति (शा० आ० २।१६) ।
४—विराड्भ्यां पुरुषः प्रतिष्ठितः (ऐ० आ० १।४।२।) ।

——**——

५-सावरणो विश्वप्रजापतिः [वैकारिकक्षरः]—

१—विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम (शां० आ० २।४।) ।
२—देवानां जनिमानि विश्वा (ऐ० आ० २।५।१।)
३—विश्वतो दावन्--विश्वतो न आभर (ऐ० आ० ५।२।२।) ।
४---स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे (ऐ० आ० ३।१।६।) ।

३

——**——

२३२-४-उपनिषन्मूलक पञ्चधा-विभक्त उपास्य तत्त्व--

१--निर्गुण-अव्ययात्मा-[अव्ययः]—

१—दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥

—मुण्डकोपनिषत् २।१।२।

२—गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परे ऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥

— मुण्डकोपनिषत् ३।२।७।

३—एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

--कठोपनिषत् १।३।१७।

४—यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रे ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

--मुण्डकोपनिषत् ३।२।८।

---

२ सगुणः षोडशीप्रजापतिः (अक्षरः)—

१-सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ;
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि-"ओम्" इत्येतत् ॥

--कठोपनिषत् १।२।१५।

२-ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषो ऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं-तद् ब्रह्म-तदेवामृतमुच्यते ॥

--कठोपनिषत् २।६।१।

३-अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि (शरीरे) तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥

—कठोपनिषत् ३।४।१२।

४-यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा ऽस्मिन्संदेह्ये गहने प्रविष्टः ।
स विश्वकृत् , स हि सर्वस्य कर्त्ता, तस्य लोकाः, स उ लोक एव ॥

--बृहदारण्यकोपनिषत् ४।४।१३।

३-सविकारो यज्ञप्रजापतिः [आत्मक्षरः]—

१-अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

—ईशोपनिषत् ४।

२-स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्म्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

—ईशोपनिषत् ८।

३-यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः
तस्मादेतद् ब्रह्म--नामरूप--मन्नञ्च जायते ॥

—मुण्डकोपनिषत् १।१।६।

४-यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

—मुण्डकोपनिषत् १।१।६।

---—**—--

४-साञ्जनो विराट्प्रजापतिः (विकारक्षरः)—

१-एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे सञ्चरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा (महानात्मा पारमेष्ठ्यः) ।

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ५।३।

२-गुणान्वयो यः फलकर्म्मकर्ता कृतस्य तस्यैव न चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्म्मभिः ॥

—श्वेता० ५।७।

३-अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

—श्वे० उप० ५।१३।

४-एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्म्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

—श्वेता० ६।११।

५–सावरणो विश्वप्रजापतिः (वैकारिकक्षरः)

१–तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः ॥
—श्वेता० उप० ४।२।

२–त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।
—श्वेता० ४।३।

३–स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥
—श्वेता० ६।१६।

४–स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
स ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥
—श्वेता० ६।१७।

४

----**----

२३३-५-गीताशास्त्रमूलक-पञ्चधा-विभक्त-उपास्य-तत्त्व—

१ निर्गुण–अव्ययात्मा (अव्ययः)—

१–अनादित्वान्निर्गुणत्वात्--परात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति, न लिप्यते ॥
—गीता १३।३१

२–गति--भर्त्ता--प्रभुः--साक्षी- निवासः--शरणं--सुहृत्।
प्रभवः--प्रलयः--स्थानं--निधानं--बीज--मव्ययम् ॥ (आधिदैविकः--ईश्वराव्ययः)
—गीता ९।१८।

३–उपद्रष्टाऽ--नुमन्ता च--भर्त्ता--भोक्ता--महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः-'पर-' ॥ (आध्यात्मिकः-जीवाव्ययः)
—गीता १३।२२।

४–त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् (गुणातीतम्) ॥

—गीता ७।१३।

———*———

२–सगुणः-षोडशीप्रजापतिः—

१–मत्तः परतरं नान्यत्-किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

—गीता ७।७।

२–ये चैव सात्त्विका भावा, राजसा, स्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्वहं तेषु, ते मयि ॥

—गीता ७।१२।

३–अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ! ॥

—गीता ८।४।

४–क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः (षोडशी) ॥

—गीता १५।१६,१७

———*———

३–सविकारो यज्ञप्रजापतिः—

१–भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

—गीता ५।२९।

२–सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

—गीता ३।१०।

३–कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

—गीता ३।१५।

४--यज्ञार्थात्कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥
—गीता ३।६।

——*——

४-साञ्जनो विराट्प्रजापतिः—

१--इहैकस्थं जगत्--कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥
—गीता ११।७।

२--द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तदेवं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥
—गीता ११।२०।

३--कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्-प्रवृद्धो लोकान्त्समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥
—गीता ११।३२।

४--त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ! ॥
—गीता ११।३८।

——*——

५-सावरणो विश्वप्रजापतिः—

१--मया ततमिदं सर्वं जनदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि नचाहं तेष्ववस्थितः ॥
—गीता ६।४।

२--न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
—गीता ६।५।

३--मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्त्तते ॥
—गीता ६।१०।

४–मया प्रसन्नेन तवार्जुनेन रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥
—गीता ११।४७।

५

—*—

२३४–'यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' मूलक-पाङ्क्त-विश्वयज्ञानुबन्धी पञ्चापयव-उपास्य-विवर्त्तों का संस्मरण—

पाठक इससे यह कल्पना न करलें कि, पाँच उपास्य-विभागों को सिद्धान्त मान बैठाना लेखक की कल्पना है। यद्यपि यह ठीक है कि, ३-४-६-, किंवा असंख्य उपास्य, सभी शास्त्रसिद्ध हैं। परन्तु इन सबका आत्मा के [1] अव्यय–[2] अक्षर [षोडशी]–[3] आत्मक्षर–[यज्ञप्रजापति]; [4] विकारक्षर [विराट्प्रजापति]–[5] वैकारिकक्षर [विश्वप्रजापति] पाँच विवर्त्तों में ही अन्तर्भाव है। पाँचों उस एक ही के पाँच विवर्त्त हैं। एवं "यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः"–"यदक्षरं पञ्चविधं समेति"–"यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश–"पाङ्क्तो वै यज्ञः" इत्यादि श्रुतियाँ भी इस पञ्चोपास्यविवर्त्त का ही सिद्धान्तरूप से समर्थन कर रहीं हैं। इसी आधार पर हम उपास्यदेव के इन पाँच विवर्त्तों को ही सिद्धान्तकोटि में प्रविष्ट मानते हैं।

२३५–पञ्चपर्वात्मक महारम्भ आर्षशास्त्र में उपवर्णित पञ्चोपास्य-विवर्त्त—

जबकि पञ्चपर्वा [संहिता[1]–ब्राह्मण[2]–आरण्यक[3]–उपनिषत्[4]–गीता[5]] शास्त्र-में [प्रत्येक में] पाँच पाँच उपास्यतत्त्वों का विवेचन हुआ है, तो इसी आधार पर हमें यह भी मान ही लेना चाहिए कि, अवश्य ही पाँचों शास्त्रपर्वों में [प्रत्येक में] पाँचों उपास्यतत्त्वों की उपासना का भी निरूपण हुआ होगा। विस्तारभय से शास्त्र के चार पर्वों को तो हम छोड़ते हैं, केवल गीताशास्त्र में प्रतिपादित उन पाँचों उपासनामार्गों की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। पाँचों में से पहिले क्रमप्राप्त निर्गुण अव्यय की उपासना का ही गीता में अन्वेषण कीजिए।

१—निर्गुण–अव्ययोपासना–समर्थक गीतावचन–[देवयुगानुगता–उपासना]—

२३६–गीताशास्त्र की प्रत्यगात्मनिबन्धना-निर्गुणाव्ययमूला निर्गुणोपासना का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

जैसाकि पूर्व कहा गया है, अव्ययोपासना का न तो निष्कामभाव से सम्बन्ध है, एवं न कामभाव से। अपितु यहाँ केवल 'आत्मकामना' से ही सम्बन्ध है। अव्ययपुरुष विद्या-कर्म्ममय है। जानना, और करना इस अव्यय का स्वाभाविक धर्म्म है। यही उभयमूर्त्ति अव्ययपुरुष प्रत्यगात्मा [आध्यात्मिक ईश्वर] की प्रतिष्ठाभूमि बना हुआ है। जो भक्त बुद्धियोग के द्वारा यह अव्ययनिष्ठा प्राप्त कर लेता है, उसके

सकाम, एवं **निष्काम**, दोनों भाव उच्छिन्न होजाते हैं। फलतः इसका यह उपासनामार्ग विशुद्ध ज्ञानानुगत बनता हुआ आत्मानुगामी बन जाता है। और यों **यह उपासना अद्वैतमूला ही बन जाती है**। सकाम-भाव में तो द्वैत है ही, परन्तु ईश्वरानन्यतालक्षण निष्कामभाव भी द्वैतमर्य्यादा से पृथक् नहीं है। **"मैं अपनी इच्छा से कुछ नहीं करता, अपितु ईश्वर की इच्छा हीं सबकुछ कर रही है"** यही निष्कामभाव है। दूसरे शब्दों में-**'अपनी कामना'** हटा कर उसके स्थान में **'ईश्वरकामना'** को प्रतिष्ठित कर देना हीं निष्कामभाव है। इसमें निश्चयेन द्वैतगन्ध **अनुषक्त** है। हम उसकी और हमारी कामना पृथक् कर रहे हैं। **इधर अव्ययोपासक तो ज्ञान के द्वारा वही बन जाता है**। इस ब्राह्मीस्थिति में न तो इस उपासक को-**"मैं करता हूँ, मैं और वह एक हूँ"** यह अभिनय करने की ही कोई आवश्यकता रह जाती, एवं न **"मैं नहीं करता, उस की इच्छा से ही सबकुछ होरहा है"** यह कहने की ही कोई आवश्यकता रह जाती। यहाँ तो केवल अद्वैतमूला आत्मकामना का ही साम्राज्य है, जिसका कि वाणी के द्वारा अभिनय सर्वथा असम्भव है। कौन करता है, किसकी प्रेरणा है, किसकी इच्छा है, इन द्वन्द्व-भावों को यहाँ प्रवेश करने का भी अवसर नहीं मिल सकता। यहाँ तो अधिक से अधिक **"यो ऽस्मि सो ऽस्मि, यथानियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"** केवल इसी सहज-आत्मसिद्धा आत्मसंवित् की प्रधानता रहती है।

२३७-आत्मकाममयी अव्ययोपासना की स्वरूप-मीमांसा—

वस्तुतस्तु **'तथाकरोमि'** कहने का भी [अत्र निर्गुणोपासनायाम्] अवसर नहीं मिलता। कारण स्पष्ट है। अव्यय न ज्ञानमय है, न कर्म्ममय है। ज्ञानमय ज्ञानवान् कहलाता है, कर्म्ममय कर्म्मवान् कहलाता है। **अव्यय ज्ञान-कर्म्ममूर्त्ति है, "वान्"** नहीं हैं। **'वान्'** को ही यह कहने का अवसर मिलता है कि, **मैं जानता हूँ, मैं करता हूँ**। जो स्वयं ज्ञान--कर्म्ममूर्त्ति बन गया, उसे ज्ञान-कर्म्मानुष्ठान के अतिरिक्त इसके लिए समय ही कौनसा बच रहता है, जिसमें कि यह **"मैं करता हूँ"** यह कहै। नित्यकर्म्मज्ञान का कदापि अभिनय नहीं हुआ करता। **निष्कामभाव--सम्बन्धी, अक्षरानुबन्धी ज्ञानकर्म्मों का**, एवं **सकामभाव-सम्बन्धी क्षरानुबन्धी ज्ञानकर्म्मों का** ही अभिनय सम्भव है। हम प्रतिदिन भोजन स्नानादि नित्यकर्म्म करते हैं। परन्तु देखते है कि, इनका अभिनय नहीं होता। आत्मेच्छा से ही सब कुछ [अज्ञातदशावत् ही] यथावत् होता रहता है। **यही आत्मकाममयी अव्ययोपासना है**।

२३८-निर्गुणाव्ययोपासक की स्व परिस्थिति का विश्लेषण—

सामान्य लौकिक जनों की दृष्टि में तो ऐसा उपासक एक प्रकार से नास्तिक ही बना रहता है। कारण, न यह कभी माला लेकर जप ही करता, न उच्चस्वर से कभी नामसंकीर्त्तन ही करता, न ऐसे उत्सवों में यह अभिनिवेशपूर्वक कोई भाग ही लेता, न उद्घोषपूर्वक ईश्वरसत्ता का ही प्रचार करता। उसे इन कार्य्यों के लिए अवसर ही कहाँ है ?। वह **नित्यनिष्ठ, नित्यतृप्त योगी** अनन्यभाव से अपने कर्त्तव्यकर्म्म पर ही आरूढ रहता है। **संसार क्या कर रहा है ?, क्या कह रहा है ?**, इसकी मीमांसा का यहाँ यत्किञ्चत् भी अवसर ही नहीं है। **यह सबमें रहता हुआ भी, सब कुछ करता हुआ भी सबसे पृथक् है, एवं कुछ नहीं कर रहा। संसार इसे नहीं जानता, न यह जानना चाहता।** ख्याति का यह महान् शत्रु है। **जिसके कर्त्तव्य पर स्तुति से भी किसी ने अँगुली उठादी, वह भी इस मार्ग से गिर गया।**

२३६—अव्ययोपासनानुगत निर्गुणभाव, एवं तत्समर्थक-गीतावचन—

अव्ययज्ञानकर्म्मात्मिका, प्रत्यगात्मानुगता यही आत्मोपासना वैराग्यलक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा है। इस के आविष्कार-प्रचार का एकमात्र श्रेय भगवान् को ही है। अतएव इसे हम "भवगन्निनिष्ठा" कहते हैं। विवस्वान्, इक्ष्वाकु, जनकादि राजर्षि—इसी निष्ठा का अनुगमन करते हुए 'विदेह' कहलाए हैं, साथ ही यह भी ध्यान रखिए कि, इस का मूल प्रधानरूप से 'उपनिषत्' शास्त्र ही बना हुआ है। वैराग्यबुद्धियोगात्मिका अव्ययमूला इसी निर्गुणोपासना का स्पष्टीकरण करते हुए निम्नलिखित वचन हमारे सामने आते हैं---

१ - येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ (७।२८।) ।

२—जरामरणमोक्षाय 'मा' माश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म्म चाखिलम् ॥ (७।२६।)

३—साधिभूताधिदैवं 'मां' साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च "मां" ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ (७।३०।)

४—तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ (७।१७)

५—उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ (१७।१८।)

६—वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (७।१६।)

७—मद्भक्ता (अव्ययभक्ता) यान्ति मामपि ॥ (७।२३।) ।

८—योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ (६।४७) ।

९—पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ (८।२२।) ।

१०—समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ (६।२६।)

——*——

२४०–दुरधिगम्य दुःसाध्य अद्वैतपथ को गीता के द्वारा ऋजुभाव-प्रदान, एवं तन्नि-बन्धन गीताशास्त्र का महतोमहीयान् कौशल—

विचार करने पर प्रतीत होता है कि, गीता की उक्त **अव्ययोपासना** एक महती उच्च-भूमिका है। यह अद्वैतमार्ग शास्त्रों की दृष्टि में अत्यन्त ही दुर्गम पथ बन रहा है। गीताशास्त्र की सब से बड़ी विशेषता यही है कि, जिस अद्वैतभावना को अभिनिविष्टोंने एक जटिल समस्या बना रक्खी थी, जिस की प्राप्ति के लिए अद्वैतपथ–व्याख्याता संसार छोड़ना आवश्यक समझते थे, विधि–निषेधात्माक शास्त्रमार्ग से बाहिर निकलना अपेक्षित मानते थे, भगवान्ने उसे बुद्धियोग से सर्वथा ऋजु (सरलमार्ग) ही प्रमाणित कर दिया।

२४१–इतर शास्त्रापेक्षया गीताशास्त्र की अपूर्वता, विलक्षणता, एवं पूर्णता का संस्मरण—

छन्दोमर्य्यादा से सम्बन्ध रखते वाले ब्रह्मवीर्य्य से **शूद्रवर्ग** प्रकृत्यैव जन्मनैव वञ्चित है। **धामच्छ-द् अत्रिप्राण से युक्त स्त्रीवर्ग** भी इस से वियुक्त है। एवं **विड्वीर्य्ययुक्त वैश्य** भी इस से वञ्चित है। तीनों वर्गों का उपादान **'पाप्मा (असद्भाव)** ही है। अतएव इन तीनों को **'पापयोनि'** कहा जाता है। इन में शास्त्रसिद्ध विधि--निषेध के अनुपालन की योग्यता का अभाव है। परन्तु भगवान् उसी उच्चभूमिका के द्वारा उनका भी अभ्युदय कर रहे हैं, यह क्या कम आश्चर्य्य है ?। धर्म्मव्याध का दृष्टान्त भी इस सम्बन्ध में ज्वलन्त उदाहरण है। मानव अपना अपना कर्म्म करते रहें, साथ ही काम-निष्काम-भावों से आत्मपरित्राण करते हुए कर्त्तव्यबुद्ध्या स्व स्व-कर्म्म में अनन्यनिष्ठा से प्रवृत्त रहें, यही **आत्मोपासन-लक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा है।** **"तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च"** का भी यही रहस्य है। यहाँ अनुस्मरण का यही तात्पर्य्य है कि, कर्म्म में प्रवृत्त वह व्यक्ति सदा उस अव्ययात्मा को अपने स्मृतिपटल पर अङ्कित रक्खे। कौन क्या करते हैं, इस भाव से दूर रहता हुआ अपने आप को कर्त्तव्यकर्म से अभिन्न समझे। न केवल वैश्य-शूद्र-**स्त्रीवर्ग** ही, अपितु एक **दुराचारो** भी इस अनुस्मरण से मुक्त होजाता है। इस अव्ययसंस्मरण से स्वल्पकाल में हीं वह सदाचारी बनता हुआ बुद्धियोगनिष्ठा का अधिकारी बन जाता है। क्योंकि गीता की दृष्टि में—**"सम्य-ग्व्यवसितो हि सः"**। **इसप्रकार उच्चभूमिका इसदृष्टि से सरलतम बनी हुई है, और यही गीताशास्त्र की इतर शास्त्रों से** अपूर्वता, पूर्णता, एवं **विलक्षणता है।** एवं यही गीता का 'बुद्धि-योग' है।

१

२–सगुणषोडशीप्रजापत्युपासनासमर्थक–गीतावचन—

२४२–यज्ञात्मक विश्वकर्म्मों की अबन्धनता, एवं तत्प्रेरक अन्तर्य्यामी-यज्ञेश्वर-प्रजापति–

अव्यय के अनन्तर मनः (अव्ययः)–प्राण (अक्षर)–वाङ् (आत्मक्षर) मय अक्षरमूर्त्ति षोडशकल ईश्वरप्रजापति का स्थान है। इसे ही पूर्वप्रकरण में हमने **'ओङ्कार'** कहा है। यही 'विश्वात्मा' है। इसी की कामना से **'यज्ञात्मक विश्वकर्म्मों'** का सञ्चालन होरहा है। यह षोडशी–प्रजापति

अव्यय के ज्ञान-कर्म्म से ज्ञानवान् एवं कर्म्मवान्, बनता हुए सब में प्रविष्ट होरहा है। इसी की इच्छा से सब का सञ्चालन होरहा है—"भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया"।

२४३–मुकुलितवृत्तिरूपा अस्मिता की निवर्त्तिका ऐश्वर्य्यप्रदात्री भक्ति, एवं उस की सगुणरूपता का समन्वय—

जीवात्मा इसी का अंश है। अंशी की इच्छा ही अंशेच्छा है। जीवात्मा का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह कर्म्म को ईश्वरेच्छा से ही नियन्त्रित समझे। अपनी कामना को हटा कर उस के स्थान में उस तन्त्राची की इच्छा का ही समावेश करदे। यही निष्कामभाव (ईश्वरकामभाव) मूला अक्षरोपासना कहलाएगी। 'ओङ्कार ही इस उपासना का मूल धरातल बनेगा'। इस अनुध्यान से यह उस का 'भाग' (अंश) बन जायगा, फलतः भक्तियोगनिष्ठा प्राप्त होजायगी। यद्यपि 'भाग' यह आज भी बना हुआ है, परन्तु अविद्यावरण से यह उस के ऐश्वर्य्यभाव से वञ्चित होरहा है। परिणामतः वह अपने कर्त्तव्य–निर्णय में पद पद पर कुण्ठित ही होता रहता है। सांसारिक–विभीषिकाओं से व्याकुलमना ही बना रहता है। जब प्रणवध्यान के द्वारा यह अविद्यावरण हटा देता है, तो उस ईश्वर की ईश्वरता की, किंवा विकासलक्षण ऐश्वर्य्य की इस में स्वतः ही अभिव्यक्ति होजाती है। मुकुलितवृत्ति (अस्मिता) जाती रहती है, ऐश्वर्य्यलक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त होजाती है।

२४४–काशिराज प्रतर्द्दनादि भारतीय-नृपतिवरों की परम्परा में प्रचलिता ऐश्वर्य्य-बुद्धियोगात्मिका-भक्ति—

काशिराज प्रतर्द्दन, केकय, बब्बर प्रावाहणि आदि नृपतिगण इसी भक्ति से ऐश्वर्य्यशाली होगए हैं। यही निष्कामभावमूला, ईश्वरानन्यता–लक्षणा गीता की (राजविद्यानुगता) "ऐश्वर्य्यबुद्धियोगनिष्ठा' है। "मैं कुछ नहीं करता, वही सब कुछ करता है" यही इस की मूलप्रतिष्ठा है। यही गीता का भक्ति-योग" है, जिस का कि, विश्लेषण परीक्षाप्रकरण के अन्त में होने वाला है। इस भक्तिलक्षणा उपासना से ज्ञानवान् बना हुआ यह भक्त कालान्तर में (प्रयाणकाल में) उस पूर्वोक्त 'माम्' [अव्यय] को प्राप्त करने में समर्थ होजाता है।

२४५–राजविद्यानुगता, षोडशीपुरुषनिबन्धना-ईश्वरानन्यता–लक्षणा भक्ति, एवं सगुण-षोडशीप्रजापत्युपासना–समर्थक-गीतावचन—

अव्ययभक्ति इसी जन्म में "मां" प्राप्ति का कारण बनती हुई विदेहभाव का कारण बनती है, एवं षोडशीरूपा अक्षरभक्ति जन्मान्तर में, यदि कुछ विघ्न आगए, तो अनेक जन्मों के पीछे [कलाभाव के आत्यन्तिक निर्वाण होने पर] अव्ययमूलक विदेहभाव प्राप्त होता है। दोनों उपासनाओं में यही अन्तर है। साथ ही यह भी ध्यान रखिए कि, इसका प्रधानरूप से 'आरण्यक' ही मूल बना हुआ है। इस राजविद्यानुगता, षोडशी-प्रजापति-निबन्धना, ओङ्कारात्मिका, निष्कामभावमूला, ईश्वरानन्यता लक्षणा, ऐश्वर्य्यबुद्धियोगोपयिका, भक्तिरूपा उपासना का स्पष्टीकरण करते हुए ही आगे के वचन हमारे सम्मुख आते है।

१—कविं पुराणमनुशासितार*मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं ÷ तमसः परस्तात् ॥ (८।९)।

२—प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ (८।१०)।

३—यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ (८।११)।

४—ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
य प्रयातिः त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ (८।१३)।

५—अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ (८।१४)।

६—महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ (९।१३)।

७—सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (९।१४)।

८—अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ (१०।८)।

९—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि × बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ (१०।१०)।

१०—बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
"वासुदेवः सर्वमिति" स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (७।१९)।

२

*—शास्ता—अक्षरः—"अक्षरस्य प्रशासने गार्गि !"।
÷—आदित्य सूर्य्य है, एवं इसी में अक्षर की अभिव्यक्ति हुई है।
× अक्षरभक्त्यैव निर्गुणाव्ययमूलक—बुद्धियोगावाप्तिरिति सिद्धान्तितं प्रागेव ।

३—सविकारयज्ञप्रजापत्युपासनासमर्थक गीतावचन—

२४६-विकारानुबन्धी सत्यप्रतिष्ठ यज्ञप्रजापति, एवं तदनुगता उपासना—

यह लोकप्रचलित प्रवृत्ति-मूलक उसी कर्म्मयोग का संशोधित रूप है, जिसे कि कतिपय राष्ट्रवादियोंने गीता का मुख्य विषय मानने की भ्रान्ति करली है। षोडशीपुरुष के अनन्तर **अमृतवाक्-आपः-अग्नि-मय यज्ञप्रजापति** का ही स्थान है। वाक्सत्य वेदतत्त्व है। आपः सोम है, एवं अग्नि अग्नि है, और दोनों का समन्वितरूप ही **यज्ञप्रजापति** है, एवं वागात्मक (वेदात्मक) सत्यप्रजापति ही इसकी प्रतिष्ठा है, जैसाकि पूर्वप्रकरण में विस्तार से वतलाया जाचुका है।

२४७-'तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्' मूलक यज्ञात्मक कर्म्म, एवं तद्रूपा भक्ति—

हमारे सम्पूर्ण कर्म्म इस प्रजापति को अनन्य बनाते हुए ही सम्पन्न हों, यही तीसरा **कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग है**। "तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्" के अनुसार यह धर्म्मरूप प्रजापति ही उस पूर्वोक्त **अक्षरब्रह्म** की प्रतिष्ठाभूमि है—"तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्"।

२४८-यज्ञप्रजापति के अर्चनोपासन से अनुप्राणिता त्रिगुणात्मिका भक्ति—

इस यज्ञप्रजापति को निमित्त बनाकर यज्ञ-तप-दान करना, इष्ट- आपूर्त्त-दत्त करना, और और भी लोक-संग्राहक लोकाभ्युदयमूलक, किन्तु विश्वशान्ति के समर्थक-कर्म्म करना यज्ञार्थ (यज्ञप्रजापति के लिए किए हुए कर्म्म) कर्म्म कहलाएँगे। इस कर्म्म से यज्ञप्रजापति का अर्चन होगा, यह परम्परया षोडशी-प्रजापति की प्राप्ति का कारण बनेगा, षोडशी-प्रजापति परम्परया अव्ययावाप्ति का कारण बन जायगा। इसप्रकार **अपने कर्म्मों से यज्ञप्रजापति का अर्चन करता हुआ यह कर्म्मात्मक भक्त परम्परया सिद्धि प्राप्त करने में समर्थ होसकेगा**—"स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः"।

२४९-कर्म्ममय-भक्तिमार्ग की त्रिगुणात्मकता के प्रचण्डविरोधी गीताचार्य्य—

ध्यान रहे, इस मार्ग में ईश्वरात्मक अक्षर, किंवा प्रणव लक्ष्य नहीं है। अपितु कर्म्ममार्ग ही लक्ष्य है—"**कर्म्मेति मीमांसकाः**"। **कर्म्म को ही ईश्वर समझ कर निष्कामभाव से इसकी आराधना करना कर्म्ममय भक्तिमार्ग है**। कर्म्मका आत्मक्षर से सम्बन्ध है, अतएव इसके द्वारा तद्रूपा यज्ञप्रजापतिसंस्था ही प्राप्त होती है। यदि सकामभाव है, तो पुनरावर्त्तन है। और प्रवृत्तिमूलक यही कर्म्मयोग त्रिगुणात्मक बनता हुआ, भोगैश्वर्य्य-गतिप्रधान बनता हुआ, अशाश्वत स्वर्गफल का उत्तेजक बनता हुआ भगवान् की दृष्टि में सर्वथैव "हेय" है—"**निस्त्रैगुण्यो भवार्जुनः !**"

२५०-गीता के द्वारा संशोधित गुणात्मक-भक्तिमार्ग का 'धर्म्मबुद्धियोगात्मक' स्वरूप—

निष्कामभाव से लोकसंग्रह-दृष्टिमात्र से किया हुआ यह कर्म्मानुष्ठान इष्टकामधुक् बनता हुआ परम्परया मुक्तिलक्षणा सिद्धि का ही कारण बन जाता है, और **यही गीता का संशोधित, कर्म्मबुद्धियोग-लक्षण कर्म्मयोग, किंवा कर्म्मनिष्ठा है**। आर्षविद्यानुगत यही मार्ग ऋषियों का "**योग**" है—"**कर्म्मयोगेन योगिनाम्**"।

२५१–ब्राह्मणभागनिबन्धन धर्म्मबुद्धियोगपथ—

दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, यहाँ **कर्म्म हीं उपास्यदेवता है**, अतएव इसे हम कर्म्मात्मिका भक्ति भी कह सकते हैं। जो सर्वव्यापक ईश्वर की अनन्यता में असमर्थ हैं, वे अपने कर्म्म को ईश्वर मानते हुए भी (निष्कामभाव की कृपा से) अभ्युदय-साधन करलेते हैं–"नहि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात ! गच्छति"। इस उपासना का मूल प्रधानरूप से "ब्राह्मणभाग" ही है, यह भी अविस्मरणीय है।

२५२–अवतारोपासनात्मिका सविकारोपासना, एवं उस के विविध विवर्त्त—

"अवतारोपासना' का भी इसी 'सविकरोपासना' में अन्तर्भाव है। आधिकारिक–चेतन–जीवात्मक-अवतारपुरुषों को अपने कर्म्म का साक्षी बनाता हुआ भी उपासक भक्तिबल के द्वारा अभ्युदय-साधन कर सकता है। इसके अतिरिक्त सूर्य्य-चन्द्र-पृथ्वी-गङ्गा आदि आधिकारिक-अचेतन-जीवों को मध्यस्थ बनाता हुआ भी उपासक अभ्युदय-साधन कर सकता है। इस दृष्टि से इस कर्म्मात्मिका भक्ति के तीन क्रमसंस्थान होजाते हैं।

२५३–लोकात्मक-विश्वधर्म्म से अनुप्राणित कर्म्मात्मक-भक्तिमार्ग का स्वरूप-समन्वय—

१––लोकचक्रात्मक विश्वधर्म्म की सुव्यवस्थिति के लिए निष्कामभाव से वर्णाश्रमधर्म्मानुसार स्वस्वकर्म्म में प्रवृत्त रहना, दूसरे शब्दों में कर्म्ममय विश्व को (यज्ञात्मक विश्व को) लक्ष्य बनाकर तदर्थ (तत्संग्रहार्थ) निष्कामभाव से कर्म्म करना हीं कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग है।

२५४–अवतारचरित्रनिबन्धन-कर्म्मात्मक-भक्तिमार्ग का स्वरूप-समन्वय—

२––रामकृष्णादि अवतारपुरुषों के निष्कामभावमूलक उदात्त, लोकसंग्राहक चरित्रों को आदर्श बनाते हुए, उनके अमानव दिव्य शरीरों का संस्मरण करते हुए अपने आपको केवल कर्म्माधिकारी, एवं फलानधिकारी समझते हुए निष्कामभाव से कर्त्तव्यकर्म्म में प्रवृत्त रहना हीं कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग है।

२५५–आधिकारिक-अचेतन-सूर्य्यचन्द्रादि जीवनिबन्धन-कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग का समन्वय—

३––जिसप्रकार सूर्य्यचन्द्रादि आधिकारिक-अचेतन-जीव ईश्वराज्ञासिद्ध अधिकारभाव (उत्तरदायित्व) से युक्त होकर 'विश्वरक्षाकर्म्म' में असङ्गभाव से, किंवा निष्कामभाव से युक्त-प्रवृत्त हैं, एवमेव इनके आदर्श को लक्ष्य में रखकर हमें भी अधिकारबुद्धया कर्म्म में निष्कामभाव से ही प्रवृत्त रहना चाहिए, यही कर्म्मात्मक भक्तिमार्ग है।

२५६–भक्तिमार्ग के प्रथम, मध्यम, उत्तम-भावनिबन्धन तीन विभिन्न सोपान––

उक्त तीनों मार्गों में भी 'अधिकारीभेद' व्यवस्थित किया जासकता है। प्रथममार्ग उत्तमाधिकारियों से, द्वितीय मार्ग मध्यमाधिकारियों से, एवं तृतीय मार्ग प्रथमाधिकारियों से सम्बन्ध रखता

है । शास्त्र ने जिन **यज्ञादि कर्म्मों** का विधान किया है, शास्त्र पर पूर्ण निष्ठा रखते हुए वर्णधर्म्मानुसार अधिकारभेद से **"यज्ञप्रजापति"** रूप **'उपेश्वर'** के निमित्त निष्कामभाव से कर्म करना हीं **कर्म्मात्मिका-भक्ति का उत्तममार्ग है ।**

२५७-ईश्वरसत्ता से तटस्थ मानवों के अभ्युदय से अनुप्राणित भक्तिमार्ग की रूपरेखा-

कुछ एक ऐसे व्यक्ति भी हैं, जोकि **ईश्वरसत्ता**,किंवा **उपेश्वरसत्ता** पर विश्वास नहीं रखते । रामकृष्णादि ईश्वरावतारों को वे महापुरुष ही समझते हैं । कोई हानि नहीं । महापुरुषों का आदर्श भी तो हमारा अभ्युदय कर सकता है । हमें यह तो मान हीं लेना पड़ेगा कि, ये महापुरुष लोकाभ्युदयार्थ ही कर्म्म में प्रवृत्त रहते थे [हैं] । इनके आदर्श को सम्मुख रखते हुए निष्मामभाव से हमें उनके बतलाए हुए सिद्धान्तो के अनुसार ही कर्म्ममाग में प्रवृत रहना चाहिए । जो सात्त्विक जीव उन्हें साक्षात् ईश्वर मान कर उनका संस्मरण करते हुए कर्म्म में प्रवृत्त रहते हैं, वे तो पूर्वोक्त उत्तम मार्ग के ही अनुयायी कहलाएँगें ।

२५८-केवल प्रकृतिपरायण प्राकृत-मानवों का चरित्र-चित्रण, एवं तदभ्युदयपथ-संस्मरण—

कुछ एक बुद्धिवादी ऐसे भी हैं, जिनकी दृष्टि में अवतारपुरुषों का महापुरुषत्व, एवं उन का आदर्श केवल सामयिक है । कितने एक पश्चिमी, एवं तदनुयायी भारतीय तो इन के चरित्रों में दोष निकालने में भी लज्जा का अनुभव नहीं करते । इन की यह कुत्सित-विचारधारा भी आज विद्वत्ता ? ही मानी जारही है । प्रत्येक बात में **"नेचर"** का समावेश करना हीं इन का परम पुरुषार्थ है । कारुणिक भगवान् कहते हैं, कोई हानि नहीं । तुम ईश्वरसत्ता पर भी विश्वास मत करो, अवतारों को महापुरुष भी मत समझो, उनके आदर्श का भी अनुगमन मत करो, केवल प्रकृति के ही अनुगामी बने रहो ।

२५९-प्रकृतिसिद्ध-लोकसंग्राहक-कर्त्तव्यानुष्ठानानुगत सदाचरण, एवं तन्निबन्धन पारम्परिक-अभ्युदय—

सूर्य्य-चन्द्रमा-वायु-अग्नि आदि प्रकृति के ही तो अवयव हैं । तुम्हें मानना पड़ेगा कि, ये सभी प्राकृतिक जड़पदार्थ बड़े संयम से नियमपूर्वक लोकसत्ता के पालक बने हुए हैं । किसी से राग द्वेष न रखते हुए, अपने किसी वैय्यक्तिक स्वार्थ को सिद्ध न करते हुए **उपकार-अपकार-प्रेम-द्वेष,** आदि द्वन्द्वभावों से वियुक्त रहते हुए अपने कर्त्तव्य पर अनन्यनिष्ठा से प्रतिष्ठित हैं । इनके इसी **'आधिकारिक कर्त्तव्य'** से हमारी, किंवा विश्व की स्वरूप–रक्षा होरही है । तुम इन्हीं के आदर्श को लक्ष्य में रखकर अपने उन कर्त्तव्य-कर्म्मों पर निष्कामभाव से, रागद्वेष-परित्याग-पूर्वक आरुढ रहो, जिनसे कि लोकाकाभ्युदय होता रहे, विश्व के मानवसमाज में शान्ति-प्रेम, तथा सौहार्द बना रहे । ऐसा करने से प्रकृति का तुम पर अनुग्रह होगा । परोक्षरूप से तुम्हारा भूतात्मा यज्ञप्रजापति का भक्त (भाग) बन जायगा । यज्ञ के द्वारा ईश्वरनिष्ठा प्राप्त होजायगी। तद्द्वारा वही सिद्धि तुम्हें भी मिल जायगी, जोकि **रजोयुक्त महापुरुषोपासकों को, सत्त्वयुक्त अवतारपुरुषोपासकों को, त्रीगुणातीत यज्ञकर्म्मोंपासककों को,** एवं **सर्वातीत ईश्वरोपासकों** को परम्पराया प्राप्त होजाती है ।

२६०-प्रचलित कर्म्म-ज्ञान-योग-निष्ठाओं का भगवान् के द्वारा संशोधन—

उक्त तीन कर्म्ममार्गों के अतिरिक्त एक चौथा कर्म्ममार्ग और बच रहता है, जिसे कि प्रचलित निष्ठाओं की परीभाषा में "ज्ञानयोग" कहा जासकता है। गीता के शब्दों में 'सिद्धविद्या'-नुगत यही "**ज्ञानबुद्धियोग**" है। प्राचीनोंनें (कपिलादिने) कर्मत्याग ही इस योग का मुख्य धरातल माना था। परन्तु भगवान् ने इसका विरोध किया, और निवृतिभाग को आगे करते हुए इस में आत्मोपयिक अव्यक्त कर्मों का समावेश किया।

२६१-ज्ञान-कर्म्म-योग निष्ठाओं का संशोधित-समन्वयात्मक-स्वरूप—

जैसा कि पूर्व के निर्गुणोपासना-प्रकरण में विस्तार से बतलाया गया है, **वेदोक्त प्रवृत्तिकर्म्म ही कर्म्मयोग है, एवं वेदोक्त निवृत्तिकर्म्म ही ज्ञानयोग है**। दोनों का धरातल एक ही है। **प्रवृत्तिकर्म्मात्मक कर्म्मयोग**, एवं निवृत्तिकर्म्मात्मक **ज्ञानयोग**, दोनों में निष्कामभावमूलक निवृत्तिकर्म्म है। इसीलिए निवृत्तिकर्म्म-लक्षण ज्ञानयोग [सांख्य] कर्म्मयोग बन रहा है, एवं निष्कामभावमूलक प्रवृत्तिकर्म्म योग [योग] ज्ञानयोग [सांख्य] बन रहा है—**"एकं सांख्यं च योगञ्च"**। दोनों में कर्म्म है, इस दृष्टि से दोनों कर्म्मयोग है। कर्म्मयोगात्मक कर्म्म में यज्ञादि कर्मों का लोकसंग्रह-दृष्टि से संग्रह है, इसलिए यह धर्म्मलक्षण बुद्धियोग बन रहा है।। ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग में तपोमूलक आत्मोपयिक कर्मों का संग्रह है, इसलिए [ज्ञानात्मक आत्मा का अनुगामी बनता हुआ] यह ज्ञानयोग बन रहा है।

२६२-चतुर्थ- बुद्धियोग' के सम्बन्ध में लोकनैष्ठिकों का व्यामोहन, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

इसप्रकार इस वेदोक्ता कर्म्मात्मिका भक्ति में हीं **धर्म्मबुद्धियोगलक्षणा कर्म्मभक्ति** एवं **ज्ञानबुद्धियोगलक्षणा ज्ञानभक्ति, इन दोनों** का समावेश होरहा है। विद्वान् कहा करते हैं कि, गीता में हीं क्या, सभी शास्त्रों में **ज्ञान-भक्ति-कर्म्म** के अतिरिक्त कोई चौथा काण्ड हो ही नहीं सकता। कहना पड़ेगा कि- अभी वे **"दभ्रमेव त्वं ब्रह्मणो वेत्थ रूपम्"** के ही उपासक बने हुए हैं। यदि वे अवधानपूर्वक गीता के अक्षरों पर दृष्टि डालते, तो स्वयं गीता ही उन्हें इन तीनों से पृथक् उस चौथे "**बुद्धियोग**" का दर्शन करादेती, जोकि गीता का मुख्य उद्देश्य है।

२६३--उभयात्मिका उपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अव्ययोपासना ही बुद्धियोगात्मिका, किंवा ज्ञानात्मिका उपासना है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। **'ज्ञानात्मिका उपासना'** का तात्पर्य्य है-**अव्ययज्ञानकर्म्मात्मिका बुद्धियोगोपासना**। अव्यय का कर्म्म असङ्गभाव के कारण ज्ञानात्मक है, अतएव वहाँ ज्ञान-कर्म्म का द्वैत नहीं रहने पाता-"**निर्द्वन्द्वो-नित्यसत्त्वस्थः**"। केवल यही सूचित करने के लिए हमने इस प्रथमोपासना को ज्ञानात्मिका उपासना कहा है। वस्तुतः यह तो उभयात्मिका उपासना है।

२६४--ज्ञानसजातीयता से अनुप्राणित कर्म्म, और उस का ज्ञानमयत्त्व—

इसे ज्ञानात्मिका उपासना कहने का एक रहस्य और भी है। आगे की तीनों भक्तियों में जिस कर्म्म का अनुष्ठान होता है, उनसे संस्कार उत्पन्न होता है। निष्कामभाव से संस्कारलेप का बन्धन अवश्य ही नहीं

होता, परन्तु अक्षर-क्षर-सम्बन्धी कर्म्म संस्कार उत्पन्न किए बिना नहीं रहते। इधर अव्ययानुगत कर्म्म संस्कार का भी जनक नहीं बनता। जैसे अव्ययात्मक ज्ञान स्वर-रूप से असङ्ग रहता है, तथैव अव्ययात्मक कर्म्म भी "न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति" के अनुसार संस्कारलेपासक्ति से असंस्पृष्ट रहता हुआ असङ्ग ही बना रहता है। इसी ज्ञानसजातीयता से अव्ययात्मक कर्म्म ने ज्ञान का आसन ग्रहण कर रक्खा है।

२६५--बुद्धियोगात्मिका उपासना, और तन्निबन्धन पारिभाषिक-'योग' शब्द—

इसीलिए हमने **बुद्धियोगलक्षणा निर्गुणाव्ययोपासना को उभयात्मिका होने पर भी ज्ञानात्मिका कहा है**। एवं यह योगात्मक बुद्धियोग अक्षरानुगत भक्तिमार्ग, आत्मक्षरानुगत कर्म्म, एवं ज्ञानमार्ग, तीनों से पृथक् रहता हुआ सर्वथा ही विलक्षण है। इसी बुद्धियोगात्मिका उपासना को भगवान् ने केवल "योग" शब्द से, एवं तदनुयायी निर्गुणोपासक को "योगी" शब्द से व्यवहृत किया है।

२६६--बुद्धियोगनिबन्धन योग, और युक्त-भाव—

और आगे चलिए। इस **वैराग्यबुद्धियोगात्मिका उपासना** के, योग के, किंवा तदनुयायी योगी के भी दो विवर्त्त हैं। दो प्रकार की निर्गुण-अव्ययोपासना [योग] है, एवं दो ही प्रकार के निर्गुणोपासक [योगी] हैं। योगी को गीता-परिभाषा में **"युक्त"** कहा गया है। इस दृष्टि से वे दोनों योग क्रमशः **योग-योगतम** कहलाएँगे, एवं दोनों योगी क्रमशः **युक्त-युक्ततम** कहलाएँगे।

२६७--द्विविध योगी, एवं उन का तात्त्विक-स्वरूप--समन्वय-प्रयास—

वह उपासक **'युक्तयोगी'** कहलाएगा, जो **"उदासीनवदासीनम्"** इस वृत्ति में प्रतिष्ठित रहता हुआ लोकसंग्रह में प्रवृत्त रहेगा। बड़े से बड़ा हर्ष इसे किसी भी अवस्था में **"अहा-हा"** का अनुगामी नहीं बना सकेगा, एवं न बड़े से बड़ा शोक इसे **"हाय-हाय"** का अनुगामी बना सकेगा। सब में सहयोग रक्खेगा। ऐसा 'लौकिक' बना रहेगा, मानो यह सर्वात्मना संसारी ही हो। परन्तु सदा शान्तभाव से युक्त रहेगा। **ऐसा योग 'योग' कहलाएगा, एवं ऐसा योगी 'युक्त' कहलाएगा।**

२६८-उदासीनवदासीन-युक्त-योगियों के द्वारा सामाजिक अनुकरण-प्रिय समाज का शैथिल्य, एवं बाह्याचरणानुगत-संस्कार—

भगवान् कहते हैं--अभी थोड़ी सी त्रुटि रह गई। थोड़ा और आगे बढ़ो। मानलीजिए-यदि समाज में अधिक संख्या इन उदासीन-योगियों की ही होजाय, तो लोकसंग्रह अवश्यमेव सङ्कट में पड़ सकता है। समाज के साधारण व्यक्ति तो इस वृत्ति के अनुगमन में असमर्थ रहेंगे, नेतृत्त्व उक्तलक्षण उदासीन योगियों के हाथ में रहेगा। परिणामतः समाज का स्वाभाविक हास्य-विनोद जाता रहेगा, उदासीनता का वातावरण व्याप्त होजायगा, परिणामतः कालान्तर में समाज में शिथिलता आजायगी। यह कौन जानेगा कि, इस विरक्तयोगी का अन्तर्जगत् घनानन्द से परिपूर्ण है ?। तदनुयायीवर्ग तो-**"यद्यदाचरति श्रेष्ठः"** के अनुसार इसकी बाह्यवृत्तियों का ही अनुसरण करने लग पड़ेगा। परिणामतः ऐसे समाज का स्वभाविक विकास उसी-प्रकार अभिभूत होजायगा, जैसेकि उदासीन-दम्पती की सन्तति यावज्जन्म मुर्झाता ही बनी रहती है

(मुंह लटकाए रहती है) । हम देखते हैं कि, कुटुम्बियों को हँसते देख कर नहें नहें बालक भी हँसने लगते हैं, एवं रोते देख कर उदास होजाते हैं । और इस बाह्याचरण की बालक के अन्तर्जगत् में अमिट छाप लग जाती है, अन्तर्जगत् तथात्मक ही नहीं बनता रहता है ।

२६९–लोकसंग्रहनिष्ठ भगवान् के द्वारा उदासीनयोगी के युक्त-योग में यत्किञ्चित् संशोधन—

उक्त लक्षण बुद्धियोगी लोकसंग्रह में सर्वात्मना सफल नहीं होसकेगा । उसका विशुद्ध बुद्धियोग मनोयोग की ओर झुके हुए संसारियों की प्रथम तो उदासी का कारण ही बन बैठेगा । अथवा तो विरोधवृत्ति का अनुसरण करते हुए वे इसे बहिष्कृत ही करदेंगे । उदासीनता में उन का विकास रुकेगा, बहिष्कार में समाज का सन्मार्ग–प्रदर्शक कोई न रहेगा । लोकसंग्रह के अनन्य पक्षपाती भगवान् यही देखकर इस 'युक्तपद्धति' में थोड़ा सा संशोधन और चाहते हैं ।

२७०–युक्त-योगी के बौद्धिक-उदासीनक्षेत्र में मानस-श्रद्धाभाव-का समावेश, एवं तद्द्वारा युक्त-योगी की रूक्षता का निराकरण—

वे कहते हैं कि, **बुद्धि के साथ मानसी–श्रद्धा का योग और करलो** । हम मानते हैं कि, तुम में पूरी श्रद्धा है, मन का भी पूर्णयोग है । परन्तु तुह्मारा यह मानसभाव (श्रद्धा) अभी विशुद्ध अव्ययानुगत (आत्मानुगत) बनता हुआ एकाङ्गी ही बन रहा है । तुम सांसारिक कर्म्मों में भी पूर्ण योग दे रहे हो । परन्तु तुह्मारा मानस जगत् इस योग से हटा हुआ है । **अमनस्करूप ही तुह्मारा सहयोग है** । तुम अपने मानस-भाव को थोड़ा इधर भी झुकाते रहो । लोकसंग्रह के साथ साथ लोकी मनुष्यों के कर्म्मों में श्रद्धा भी प्रकट करते जाओ । ऐसा न करने से उक्त दोषों के अतिरिक्त उनमें बुद्धिभेद की भी आशङ्का से पीछा न छूटेगा । करो क्या ?, सुनो !

२७१–श्रद्धारस से समन्वित 'योगी' का युक्ततमत्त्व, एवं तन्निबन्धन-लोकसंग्रह—

यदि किसी को दुःखी देखो, तो उस में भी श्रद्धा प्रकट करो । स्वयं दुःख का अभिनय करते हुए [जबकि तत्त्वतः तुम दुःख से दूर हो] उसे सांत्वना प्रदान करो । यदि किसी को हर्ष होरहा है, तो तुम भी उस के हास्य–सरोवर मे स्नान करो । **हास्य–विनोद–गल्प-गोष्ठी–आदि** में ऐसे बने रहो, ऐसे घुलमिल जाओ, जैसे एक सामान्य संसारी । **तभी तुम उन संसारियों के अतिसन्निकट पहुँचते हुए उनका आत्मविशोधन करसकोगे** । और इस अवस्था में—**श्रद्धायुक्त तुह्मारा यह योग योगतम बन जायगा, दूसरे शब्दों में युक्तभाव युक्ततमरूप में परिणत हो जायगा** ।

२७२–'युक्त', और 'युक्ततम' शब्दों का स्वरूप-समन्वय, एवं तत्र भगवान् के द्वारा श्रेणिविभाग का संस्थापन—

उक्त दोनों मार्गों मे से भगवान् का अधिक झुकाव किस ओर है ?, वे उदासीनलक्षण, विश्वानुगत श्रद्धाभावविरहित योग, एवं युक्तयोगी को अभीप्सित मानते हैं, अथवा विकासलक्षण विश्वानुगत श्रद्धायुक्त

योगतम, एवं युक्ततमयोगी को ?। उत्तर भगवान् के जीवन से ही मिल जाता है। हर्ष, एवं शोक से परे रहने वाले बुद्धियोगी भगवान् ने अपना जीवन कैसा हास्यपूर्ण बनाए रक्खा, इस सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। बाललीला-सम्बन्धी भगवान् का **नन्दनन्दन** रूप तो इस **युक्ततमयोग** से अथ से इति पर्य्यन्त **युक्ततम** है ही, परन्तु हम देखते हैं कि ईश्वरीय लीला-सम्बन्धी भगवान् का वासुदेवरूप भी इस **युक्ततमभाव** से शून्य नहीं है।

२७३–सर्वमूर्त्ति आप्तकाम भगवान् वासुदेव कृष्ण के 'युक्ततमत्त्व' का स्वरूप-संस्मरण, एवं तन्निबन्धन गीता का-'रहस्ययोग'—

जयद्रथ के वधावर से पूर्व अर्जुन के विलाप पर भगवान् रोपड़ते हैं। द्रौपदी के रुदन पर उदासीनवृत्ति से उसे धैर्य्यप्रदान कर रहे हैं। भक्त के विलाप पर उनका अन्तर्जगत् व्याकुलसा दिखाई देता है। कर्ण के द्वारा फैंकी गई–'**एकपुरुषघातिनीशक्ति**' से जब एक अक्षौहिणी सेना का चूर्ण करता हुआ हिडिम्बापुत्र घटोत्कच धराशायी होजाता है, तो भगवान् शँखनाद के साथ अर्जुन को गले लगाकर रथ पर ही नृत्य करने लग पड़ते हैं। क्रोध को बुद्धियोगी का विरुद्ध धर्म्म मानते हुए भी स्वयं भगवान् रुद्ररूप धारण कर पितामह पर चक्र प्रहार के लिए दौड़ पड़ते हैं। क्या कोई भक्त यह स्वीकार करेगा ?। असम्भव। यह तो भगवान् का लोकसंग्रहात्मक प्रदर्शनमात्र ही था। और यही भगवान् का **योगतम योग था**, एवं इसीलिए भगवान् युक्ततम योगी थे। यही गीता का **रहस्ययोग** है।

२७४–गीतायोग के दो विभिन्न 'महिमाविवर्त्त', उभयविवर्त्तात्मिका सुप्रसिद्धा-'बुद्धियोगनिष्ठा', एवं तन्निबन्धना निर्गुणाव्ययोपासना का स्वरूप-समन्वय—

इसप्रकार निर्गुणाव्ययोपासनारूप इस योग के **विशुद्ध बुध्द्यनुगत योगरूप योग**, एवं **बाह्य-श्रद्धाभिनयरूप श्रद्धानुगत योगतमरूप योग**, ये दो विवर्त्त होजाते हैं। दोनों को हम "**बुद्धियोग**" इस एक नाम से ही व्यवहृत करेंगे। एवं यही **प्रचलित ज्ञान-कर्म्म-भक्ति**, इन तीनों निष्ठाओं से सर्वथा स्वतन्त्र **उभयात्मिका**, किंवा **ज्ञानात्मिका अव्ययोपासना** कहलाएगी। साथ ही यह तो सिद्ध ही है कि, इस उपासना में **मनोमय आनन्द, मनोमय विज्ञान**, एवं **मनोमय मनोरूप निर्गुण अव्यय** ही उपास्य है।

२७५–ईश्वरोपासना-लक्षण-'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' की 'भक्ति' रूपता, तदनुवर्त्मा नृपति-श्रेष्ठ, एवं गीता से अनुप्राणित 'तपः' शब्द का स्वरूप-समन्वय, और गीता का पारिभाषिक-'तपस्वी'—

इसके अनन्तर दूसरी **षोडशीपुरुषोपासना** बतलाई गई है। इसे ही हमनें **ईश्वरोपासनालक्षण ऐश्वर्य्यबुद्धियोग कहा है**, एवं **केकय-प्रतर्द्दनादि** भारतीय राजाओं में हीं इसका विशेष प्रचार बतलाया है। साथ ही पूर्व में इसके सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, **त्रिवृत् आत्मप्राण** ही इस उपासना का मुख्य धरातल है। षोडशीप्रजापति अक्षरप्रधान बनता हुआ प्राणप्रधान ही सिद्ध किया गया है।

उधर–"एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति" के अनुसार ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण कर देना हीं वास्तविक "तप" है। श्रुति ने "स तपोऽतप्यत" के अनुसार प्राणव्यापार को ही तप माना है। इसी आधार पर इस दूसरी उपासना को हम "तप" कह सकते हैं, एवं इसके अनुयायी भक्तों को "तपस्वी" कह सकते हैं। गीता का आदरणीय "तपस्वी" योगप्रक्रियाओं का अनुगामी कायक्लेश में रत तपस्वी नहीं है, अपितु आत्मसमर्पणलक्षणा भक्ति का अनुयायी ही गीतानुमोदित तपस्वी है।

२७६–गीताशास्त्रनिबन्धन--'योगी'--'तपस्वी'--'कर्म्मी'--'ज्ञानी'--विभागों का स्वरूप-समन्वय—

तीसरा स्थान **यज्ञप्रजापत्युपासना** का बतलाया गया है। इसका **वाङ्मय क्षर** (**आत्मक्षर**) से सम्बन्ध बतलाया गया है। एवं इसी के निवृत्तिकर्म्मलक्षण ज्ञानयोग, प्रवृत्तिकर्म्मलक्षण कर्म्मयोग, ये दो भेद बतलाए गए हैं। यही गीता की **सांख्य, एवं योग–निष्ठाएँ** हैं। **योगनिष्ठानुयायी 'कर्म्मी' कहलाता है, एवं ज्ञानी ज्ञानबुद्धियोग का अनुयायी है।** इसप्रकार गीता में **अव्यय-षोडशी-यज्ञप्रजापति**, इन तीन उपास्यों के आधार पर क्रमशः **वैराग्यबुद्धियोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, धर्म्मबुद्धियोग–ज्ञानबुद्धियोग** ये चार विभाग किए हैं, एवं इन चारो के अनुयायियों को क्रमशः **योगी, तपस्वी, कर्म्मी, ज्ञानी**, इन नामों से व्यहृत किया है।

२७७-राजर्षि, पुण्यकर्म्मा ब्राह्मण, तथा ऐश्वर्य्यशाली राजाओं के द्वारा गीता के चतुर्विध-बुद्धियोगों का अनुगमन—

गीताने इन चारों श्रेणियों को **राजर्षि-भक्त–ब्राह्मण** इन तीन वर्गों में विभक्त माना है। **वैराग्यबुद्धियोगात्मिका उपासना के अनुयायी राजर्षि हैं।** ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मिका भक्ति के **अनुयायी राजा "भक्त" हैं। एवं धर्म्मबुद्धियोमात्मिका कर्म्ममयी, ज्ञानबुद्धियोगात्मिका ज्ञानमयी उपासना के अनुयायी भारतीय पुण्यकर्म्मा ब्राह्मण हैं। दो निष्ठाओं का अनुगमन विशेषतः ब्राह्मणवर्ग ने किया है, भक्तिनिष्ठा का अनुगमन राजा लोगों नें, एवं बुद्धियोगनिष्ठा का अनुगमन जनकादि राजर्षियों नें हीं किया है।** [गी० ६।२३]।

२७८–वैराग्यबुद्धियोगात्मक-'योग' की सर्वश्रेष्ठता का स्वरूप-समन्वय—

उक्त चारों मार्गों में से वैराग्यबुद्धियोगात्मक योग, इस में भी पूर्वकथनानुसार **मानसश्रद्धाभाव से युक्त योग** ही सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वज्येष्ठ, है। इसी वर्गीकरण का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं--

तपस्विभ्योऽधिको योगी।
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ॥
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी।
तस्माद्योगो भवार्जुन ! ॥ (६।४६)।
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः। (६।४७)।

१–राजर्षिविद्यानुगतः–वैराग्यबुद्धियोगः–ज्ञानात्मिका उपासना–पनोमयी

२–राजविद्यानुगतः–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः–क्रियात्मिका भक्तिः—प्राणमयी

३–सिद्धविद्यानुगतः–ज्ञानबुद्धियोग्यः—निवृत्तिकर्म्मात्मिका भक्तिः-वाङ्मयी

४–आर्षविद्यानुगतः–धर्म्मबुद्धियोगः –प्रवृत्तिकर्म्मात्मिका भक्तिः-वाङ्मयी



१–बुद्धियोगः (मनोमयः)—योगः—तदनुयायी–"योगी" } –"राजर्षयः"

२–भक्तियोगः (प्राणमयः)—तपः—तदनुयायी–"तपस्वी" } —"भक्ताः"

३–कर्म्मयोगः (वाङ्मयः)—कर्म्म–तदनुयायी–"कर्म्मी"
४–ज्ञानयोगः (वाङ्मयः)—ज्ञानम्–तदनुयायी–"ज्ञानी" } –"ब्राह्मणाः"



१–अव्ययः बुद्धियोगाधिष्ठता } —अव्ययोपासना

२–षोडशी-ईश्वरः भक्तियोगाधिष्ठाता } —अक्षरोपासना

३–यज्ञोपेश्वरः-कर्म्ममूर्त्तिः कर्मयोगाधिष्ठाता
४–यज्ञोपेश्वरः-ज्ञानमूर्त्तिः ज्ञानयोगाधिष्ठाता } –आत्मक्षरोपासना



२७९–कर्म्मनिबन्धना-शुक्रात्मिका-वाङ्मयी-भक्ति के विभिन्न चार महिमा-विवर्त्त, एवं तन्निबन्धन सर्वोत्तम, उत्तम, मध्यम, प्रथम-भावानुबन्धी श्रेणिविभाग—

आत्मक्षरप्रपञ्चमूर्त्ति–यज्ञप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली कर्म्मात्मिका वाङ्मयी भक्ति के पूर्व कथनानुसार चार विवर्त्त होजाते हैं। **यज्ञादिकर्म्म** पहिला विवर्त्त, आत्मोपयिक **धारणाध्यानादिलक्षण ज्ञान** दूसरा विवर्त्त, आधिकारिक चेतनजीव-लक्षण **अवतारोपासना** तीसरा विवर्त्त, एवं आधिकारिक अचेतनजीव लक्षण **सूर्य्य–चन्द्रादि की उपासना** चौथा विवर्त्त। चारों में निष्कामकर्म्मलक्षणा–यज्ञकर्म्मात्मिका उपासना (कर्म्मयोग) सर्वोत्तम, निष्कामकर्म्मलक्षणा–आत्मोपयिक-कर्म्मात्मिका उपासना (ज्ञानयोग) उत्तम, अवतारोपासना मध्यम, एवं सूर्य्यचन्द्राद्युपासना प्रथम, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

१–यज्ञकर्म्मात्मिका–उपासना	चतुरोपासनासु–सर्वोत्तमा	
२–आत्मोपयिककर्म्मात्मिका–उपासना	,,	उत्तमा
३–अवतारोपासना	,,	मध्यमा
४–प्रकृतिपर्वोपासना	,,	प्रथमा

—:*:—

अब इस सम्बन्ध में गीताप्रमाण उद्धृत कर प्रकान्त तीसरे विवर्त्त को उपरत किया जारहा है। उक्त चारों हीं प्रकार लोकसंग्राहक भगवान्नें अधिकारी–भेद से उपादेय माने हैं, जैसाकि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है।

२८०–[१]–यज्ञकर्म्मात्मिका उपासना सर्वोत्तमा–(कर्म्मयोगो–योगिनाम्)–भगवत्–सम्मतः—

१—यज्ञदानतपः कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेवतत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ (१८।५।)
२—एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्या फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ! निश्चितं मतमुत्तमम्॥ (१८।६।)
३—सहजं कर्म्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्व्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ (१८।४८)।
४—त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ (२।४५।)।
५—संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते॥ (५।२)।

१

——**——

२८१–[२]–आत्मकर्म्मात्मिका उपासना उत्तमा (ज्ञानयोगो सांख्यानाम्) भगवत्–सम्मतः (किन्तु अरुचिकरः)

१—ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्त्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ (९।१५।)।

२—ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ (१२।३।) ।

३—संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ (१२।४) ।

४—क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ (१२।५।) ।

५—अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ (१३।११।)

२

-----**-----

२८२-[३]-अवतारपुरुषोपासना (कर्म्मयोगः) भगवत्-सम्मतः, किन्तु-अरुचिकरः—

१—कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ (७।२०) ।

२—यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ (७।२१) ।

३—स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् ॥ (७।२२) ।

४—अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो * यान्ति········ ·······॥ (७।२३) ।

५—अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ (७।२४) ।

३

——**——

*—अवतारदेवयजः

२८३-[४]-प्रकृत्यवयवोपासना [कर्म्मयोगः]--

१--ये ऽप्यन्य देवता ÷ भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ (९।२३।) ।
२--न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ (९।२४।)
३--यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ (१५।१२।)
४--गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ (१५।१३)
५--एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ (१६।२२।)

४

---**---

४-साञ्जनविराट्प्रजापत्युपासनासमर्थक-गीतावचन--

२८४-अञ्जनपरिग्रहात्मिका विराट्पुरुषोपासना, आवरणपरिग्रहात्मिका विश्वरूपोपासना से अनुप्राणित पूर्वापर-विरोध, एवं तन्निराकरण-प्रयास--

अब चौथा उपास्य-विवर्त्त हमारे सामने आया । यही '**देवसत्योपासना**' कहलाती है । पूर्व में हमनें **साञ्जना विराडुपासना** को, एवं **सावरणा विश्वोपासना** को, दोनों को **विश्वोपासना** कहा है । जिन ६ प्रकार के जीवों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उनमें से प्रथम **आधिकारिक चेतनजीवों (अवतारपुरुषों)** का तीसरे **यज्ञप्रजापति-विवर्त्त** से सम्बन्ध माना है । एवं दूसरे **आधिकारिक सूर्य्य-चन्द्रादि अचेतनजीवों** का **विराट्संस्था** से सम्बन्ध बतलाया है । इधर पूर्वप्रतिपादिता यज्ञोपासना में अवतारोपासना के साथ साथ सूर्य्य-चन्द्रादि-लक्षण अचेतनजीवों का भी समावेश सिद्ध किया है । इससे पूर्वापरविरोध प्रतीत होता है । तत्र विराडुपासना को अचेतनजीवोपासना सिद्ध करना, पूर्व की यज्ञोपासना में भी अचेतनजीवोपासना का समन्वय करना अवश्य ही पूर्वापरविरोध है । परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर इस विरोध का कोई मूल्य नहीं रह जाता ।

÷--प्राणदेवताः

२८५–अमृतशुक्रानुबन्धी विराट्प्रजापति के साथ मर्त्यशुक्रानुबन्धी विश्वमूर्त्ति का सह समन्वय, एवं पूर्वापरविरोध-निराकरण—

पाठकों को स्मरण होगा कि, वाक्-(वाङ्मय स्वयम्भू), आपः (आपोमय-परमेष्ठी), एवं अग्निः (अग्निमय सूर्य्य), इन तीनों के समुच्चय को हमनें **यज्ञप्रजापति** कहाथा, एवं **अग्निः** (सूर्य्य)–वाक् (पृथिवी) की समष्टि को **विराट्प्रजापति** कहा था। मध्यस्थ **अमृत सूर्य्य** को यज्ञप्रजापति का अन्तिमपर्व बतलाया था, एवं मध्यस्थ उसी सूर्य्य को (मर्त्याग्निशुक्रदृष्टि से) विराट्प्रजापति का पहिला पर्व माना था। क्योंकि सूर्य्यसंस्था का दोनों ओर सम्बन्ध है, अतएव इसी से सम्बन्ध रखने वाली अचेतनजीवोपासना का हमनें यज्ञप्रजापति के साथ भी सम्बन्ध बतलाया है, एवं आज इस विराटप्रजापति के साथ भी सम्बन्ध बतला रहे हैं।

२८६–यज्ञप्रजापति-निबन्धना निष्कामोपासना, एवं विराट्प्रजापति-निबन्धना-सकामोपासना का संस्मरण—

दोनों में यह विवेक अवश्य कर लेना चाहिए कि, यज्ञप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली **अचेतनजीवोपासना**, किंवा **प्राणदेवोपासना** का **निष्कामभाव** से सम्बन्ध है, एवं **विराट्प्रजापति से** सम्बन्ध रखने वाली अचेतनजीवोपासना का **कामभाव** से सम्बन्ध है।

२८७–यज्ञियदेवतामयी, काम्यकर्म्ममयी, त्रिगुणभावात्मिका, विराडुपासना का गीता के द्वारा संग्रह, एवं तत्र संशोधन—

वहाँ की **देवोपासना** लोकसंग्रह को मूल बनाती हुई **स्वार्थयुक्त परमार्थभाव** पर प्रतिष्ठित है, एवं यहाँ की उपासना लोकसंह की उपेक्षा करती हुई स्वार्थभाव पर ही प्रतिष्ठित है। विराडुपासना ३३ यज्ञिय–देवताओं की उपासना है, विकाररूप देवताओं की उपासना है। एवं यज्ञसम्बन्धिनी देवोपासना विश्वेदेवों की उपासना है, प्रकृतिपर्वों की उपासना है। यज्ञप्रक्रिया के द्वारा विराट्के **सर्वज्ञात्मक इन्द्ररूप आहवनीय, हिरण्यगर्भात्मक वायुरूप दक्षिणाग्नि**, एवं **वैश्वानरात्मक अग्निरूप गार्हपत्याग्नि** से सम्बन्ध रखने वाले **१२ आदित्य, ११ रुद्र, ८ वसु, प्रजापति, वषट्कार**, इन ३३ यज्ञिय–देवताओं का वैध–काम्य यज्ञ के द्वारा अपने **मानुष भूतात्मा** में आधान करते हुए इस यज्ञिय–दैवसंस्काराकर्षण से (जो कि दिव्यसंस्कार–"दैवात्मा" नाम से प्रसिद्ध है) शरीरत्यागानन्तर–**नाचिकेतस्वर्ग** में प्रतिष्ठित होजाना हीं इस प्राणदेवोपासना का मुख्य फल है। **यही, यज्ञियदेवतामयी, काम्यकर्म्ममयी, त्रिगुणभावात्मिका वैधयज्ञमयी उपासना विराडुपासना है**। गीताने इसका जहाँ संग्रह किया है, वहाँ निन्दा भी पर्य्याप्त की है। इस उपासना की क्या इतिकर्त्तव्यता है, क्या फल है ?, यह निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

[संग्रह]--१-त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥
–गीता ९।२०।

२–ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति।
एवं त्रयीधर्म्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥
–गीता ९।२१

३–अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ॥
–गीता ९।२४

---*---

[विरोध]--१–नतु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥
–गीता ९।२४

२–यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥ (२।४२।) ।

३–कामात्मनः स्वर्गपरा जन्मकर्म्म-फलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥ (२।४३।) ।

४–भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ (२।४४) ।

५–यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वस्य वेदस्य ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ (२।४६।)

५--त्रैगुण्यविषया वेदा * निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! ॥ (२।४५) ।

४

---*---

* यज्ञकर्म्म की मीमांसा करते हुए पाठकों को यह व्यवच्छेद कर ही लेना चाहिए कि, देवोपासना के भगवान् ने तीन प्रकार बतलाए हैं। पहिला प्रकार है–ब्राह्मणोक्तपद्धति के अनुसार निष्कामभाव से लोक-

५—सावरणविश्वप्रजापत्युपासनासमर्थक गीतावचन—

२८८—आधिकारिक, तथा आश्वत्थिक-जीववर्गानुबन्धी विविध-उपासना-मार्ग, एवं तत्समष्टिरूपा 'विश्वोपासना' का संस्मरण—

(१) आधिकारिक **अर्द्धचेतनजीव** [अश्वत्थ वट-तुलसी आदि कतिपय भौतिक ओषधि वनस्पति वर्ग], (२)-**आश्वत्थिक चेतनजीव** [अष्टविध देवयोनियाँ, आचार्य्य-सन्त-ज्ञानी-भक्त आदि महापुरुष-लक्षणात्मक मनुष्य, गौ आदि पवित्र पशु, नीजकण्ठादि पवित्र पक्षी, सर्पादि दिव्य कृमिकीट], (३) **आश्वत्थिक अर्द्धचेतनजीव** (ओषधि-वनस्पति-वर्ग), (४) एवं **आश्वत्थिक अचेतनजीव** [शालग्रामशिला, अन्य भगवत्-प्रतिमाएँ], इन चारों की उपासना ही **विश्वोपासना** है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। **यही उपासना भूतोपासना है**। कामभाव में यह शाश्वत अभ्युदय से वञ्चित है, एवं निष्कामभाव में यही विराट् के द्वारा यज्ञोपासना बनती हुई परम्परया आत्मा की अभ्युदय-निःश्रेयस्-संसाधिका बन जाती है। आगे के गीतावचन इसी '**विश्वोपासना**' का समर्थन कर रहे हैं।

संग्रहदृष्टि से बिना किसी फलाकांक्षा के **यज्ञ-दान-तपोरूपा यज्ञोपासना**। **"न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्"** कहते हुए भगवान्नें न केवल इसमें अपनी सम्मति ही प्रकट की है, अपितु इस **प्रथम-देवोपासनात्मक यज्ञकर्म्म को आवश्यक भी माना है**, जैसाकि-**"सहयज्ञाः"** इत्यादि श्लोकभाष्यमें स्पष्ट होने वाला है।

दूसरी देवोपासना आदर्शमूला है। सूर्य्य—चन्द्रादि प्रकृति के प्राणदेवताओं के कर्त्तव्याधिकारों को लक्ष्य में **रखकर लोकशान्तिमूलक कर्म्म करते रहना ही दूसरी देवोपासना है**। प्रथमोपासना गीता की सुप्रसिद्धा योगनिष्ठा(कर्म्मनिष्ठा)है, दूसरी देवोपासना आधिकारिक-अचेतन-जीवलक्षणा है। दोनों का निष्कामभाव के सम्बन्ध से तीसरी यज्ञप्रजापत्युपासना में हीं अन्तर्भाव है। तीसरी देवोपासना कामनामय यज्ञकर्म्म से समन्विता है। इसका भी आधिकारिक अचेतन जीवलक्षण विकारात्मक ३३ यज्ञिय देवताओं से ही सम्बन्ध है। गीताने इसी की निन्दा की है। कामना का सम्बन्ध ही इस निन्दा का मूल है। यदि कामना का परित्याग कर दिया जाता है, तो यह विराडुपासना भी यज्ञप्रजापत्युपासनारूप में परिणित होती हुई शाश्वत अभ्युदय का (परम्परया) ही कारण बन जाती है।

२८९–(१)–आश्वत्थिक-चेतनजीवोपासना (अष्टविध-देवसर्गात्मिका) लोकसिद्धिरूपा—

१—सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ! ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥
२—यजन्ते सात्त्विका देवान्, यक्ष-रक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्, भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥
३—अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः काम-राग-बलान्विताः ॥
४—कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
'मां' चैवान्तःशरीरस्थं तान्-विद्धि-आसुरनिश्चयान् ॥
—गीता १७।३ से ६ पर्य्यन्त

५—यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
तानि यान्ति भूतेज्याः ··············· ॥
—गीता ९।२५।

६—आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन ! ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते ॥
—गीता ८।१६।

२९०–कामोपभोगपरम-कामकामी-मानववर्ग से अनुप्राणिता चतुर्द्दशविध-भूतसर्गनिबन्धना-सिद्धि-चमत्कार-व्यामोहनान्विता-विश्वोपासना का दुःखपूर्ण-इतिवृत्त—

अथमत्र विशेषः । पूर्व के जीवप्रकरण में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, 'विश्व' नामक सावरण–अन्तिम–प्राजापत्य–विवर्त्त से प्रक्रान्त भक्तिसन्दर्भ में प्राधानिक–शास्त्रोक्त [सांख्योक्त] ब्रह्मादि स्तम्ब पर्य्यन्त आभिव्याप्त चतुर्द्दश–विध भूतसर्ग ही अभिप्रेत है, जैसाकि पूर्व के 'विश्व' शब्द–समन्वय–प्रसङ्ग में–'लोकस्तु भुवने जने' के माध्यम से स्पष्ट किया जाचुका है । गीतोक्त–'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः' । से चतुर्द्दशविधा यह भूतसृष्टि (चान्द्री, तथा पार्थिवी जीवसृष्टि) ही अभिप्रेत है । लोकसिद्धिकामुक–लौकिक-चमत्कारव्यामोहनपरायण-लौकैषणासक्तव्यासक्त-अतएव सर्वात्मना प्रदर्शनप्रिय 'कामकामी' लौकिक–मानव ही इस चतुर्द्दशविधा भूतोपासना का अनुगामी बना रहता है, जिस के व्यक्तित्व-स्वरूप-विमोहक अन्यान्य भीषणतम दुष्परिणामों के साथ साथ ऐसे उपासक को सदैव 'संसृति' रूप जन्म–मृत्यु–

प्रवाह में ही प्रवाहित रहना पड़ता है, जैसा कि--'पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन !' से स्पष्ट है। और लोक-सिद्धि-चमत्कार---लक्षणा---आश्वत्थिक---चेतनजीवोपासनात्मिका----चतुर्दशविधा---भूतोपासना का यही विशेषधर्म है, जिसका एवंरूपेण वर्गीकरणात्मक समन्वय भी सम्भव है-उसी गीताशास्त्र के आधार पर।

२९१-अष्टविध-देवयोनिवर्गानुगता लौकिक-उपासना के सम्बन्ध में गीताशास्त्र का स्पष्टीकरण—

चौदह-प्रकार के भूतसर्गों में ब्रह्म, प्रजापति, इन्द्र, पितर, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, नामक अष्टविध सत्त्वविशाल-अपादधर्म्मा-२८-'अठाईस) इन्द्रियसमन्वित- देवयोगिसर्ग माना गया है। भगवान्ने इन आठों का ही व्यवस्थान्तर से संग्रह कर लिया है। ब्रह्म, और प्रजापति, दोनों का एक ही-'ब्रह्मवर्ग' है। 'इन्द्रः सर्वा देवताः' के अनुसार इन्द्रवर्ग ही देववर्ग है। पितृवर्ग स्वतन्त्र है ही। यक्ष, और राक्षस, ये दोनों भी स्वतन्त्र हैं। परकायप्रवेशधर्म्मा गन्धर्व ही-'प्रेत' है। 'पिशाच' ही-'भूतगण' है। इसप्रकार निम्नलिखित-रूपेण आठों की ही उपासना गीता के द्वारा संग्रहीत है--

१—ब्रह्म
२—प्रजापतिः } "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः" (निष्कैवल्य-सात्त्विकाः)

३—इन्द्रः } "यजन्ते सात्त्विका देवान्, यान्ति देवव्रता देवान्" (सत्त्वरजोमयाः)

४—पितरः } "पितॄन्-यान्ति-पितृव्रताः" (सत्त्वरजोमयाः)

५—गन्धर्वाः } "प्रेतान्" (रजस्तमोमयाः)

६—पिशाचाः } "भूतगणांश्चान्ये-भूतानि यान्ति भूतेज्याः" (तमोमयाः)

७—यक्षाः
८—रक्षसाः } "यक्षरक्षांसि-राजसाः" (रजस्तमोमयाः)

———★———

२६२—[२]—आश्वत्थिक-चेतन-मानवजीवोपासना-प्रणिपात-परिप्रश्न-सेवात्मिका-*

(कर्म्मभोगबद्धमानवस्यास्मच्छ्दृशस्य-तत्त्वनिष्ठ--आचारपरायण--मानवश्रेष्ठं--प्रत्यात्मसमर्पणम्)

१-तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

-गीता ४।३४।

२-यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्त्तते ॥

-गीता ३।२१।

———*———

२६३—[३]—आश्वत्थिक-पशु-पक्षि-कृम्यादि-लक्ष्णानां-चेतन-जीवानामुपा-सना-विभूतिरूपा—

१-उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धिमामृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां,मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहम् ॥
२--झषाणां मकरश्चास्मि, धेनूनामस्मि कामधुक् ।
वैनेतयश्च पक्षिणां, सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥
(अश्वः, गजः, सिंह, मकरः, गरुडः, सर्पः)--

-गीता १० अध्याय

---

*--बुद्ध्यनुगतः--प्रणिपातधर्म्मः

मनोऽनुगतः--परिप्रश्नधर्म्मः (कुतर्कमूलः प्रश्नः प्रश्नः, सुतर्कमूलो जिज्ञासात्मकः-प्रश्न एव-परिप्रश्नः--ऋषिभाषायां 'सम्प्रश्नः'

शरीरानुगतः-सेवाधर्म्मः

मानवानुगता-उपासना त्रिविधैव । नान्यः पन्था विद्यते ।

२९४—[४]—आश्वत्थिक-अर्द्धचेतनजीवोपासना-

["अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्" (गीता १० अध्याय)]

——✻✻——

२९५--[५]-आश्वत्थिक-अचेतनजीवोपासना-[योगरूपा-प्रतिमोपासना]

१—पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः

—गीता ९।२६।

२—यत्करोषि, यदश्नासि, यज्जुहोषि, ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

—गीता ९।२७।

३—यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ! ।
न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया 'भूतं' चराचरम् ॥

—गीता १०।३९।

२९६—मर्त्यवाक्शुक्रमय 'विराट्'. एवं मर्त्यभूतशुक्रमय-'विश्व' का स्वरूप-संस्मरण, तथा तन्निबन्धना उपासनाओं के उच्चावच तारतम्य, और प्रासङ्गिक 'राजर्षयः', 'पुण्याः', भक्ताः, शब्दों का समन्वय—

अब इस सम्बन्ध में कतिपय तथ्यों का स्पष्टीकरण कर इस प्रमाण-प्रकरण को उपरत किया जारहा है । उक्त-प्रकरण पाँच उपास्यों के आधार पर पाँच मार्ग हमारे सामने रखता है, यह सर्वथा प्रमाणित कर देता है । इन पाँच वर्गों में से प्रथमवर्ग का राजर्षियों के साथ, दूसरे वर्ग का भक्तों के साथ, एवं तीसरे वर्ग की यज्ञकर्मात्मिका उपासना का ब्राह्मणवर्ग के साथ सम्बन्ध बतलाया है, एवं इसी में ज्ञान-कर्म-निष्ठाओं का समन्वय किया गया है । विराडुपासनात्मक (काम्ययज्ञकर्म्मोपासनात्मक) चौथे वर्ग को, एवं विश्वोपासनात्मक पाँचवें वर्ग को गीता किस नाम से व्यवहृत करती है ?, यह प्रश्न अभी शेष रह जाता है । इस प्रश्न का उत्तर है "पुण्य" शब्द । आरम्भ के तीनों वर्ग पुण्य--पापादि द्वन्द्वों से (निष्कामभाव के कारण) बहिर्भूत हैं । पुण्य-पाप-द्वन्द्व मृत्युभाव है, इधर मर्त्यवाक् शुक्रमय विराट्, एवं मर्त्यभूतशुक्रमय विश्व, दोनों में द्वन्द्वभाव का सम्बन्ध है । दूसरे शब्दों में—सत्-असत् का, पाप--पुण्य का मीमांसन इन्हीं अन्त की दोनों संस्थाओं में सम्भव है, और इसी दृष्टि से इन दोनों उपासकों को "पुण्याः" (पुण्य--संस्कारयुक्त) कहा जासकता है । यज्ञोपासकों को [निष्कामयज्ञकर्म्मात्मक कर्म्मयोगोपासकों को, एवं निष्काम-आत्मकर्म्मात्मक-ज्ञानयोगोपासकों को] "ब्राह्मणाः" कहा जासकता है, ईश्वरोपासकों को "भक्ताः" कहा जासकता है, एवं अव्ययोपासकों को "राजर्षयः" कहा जासकता है ।

२६७–द्वन्द्वातीता उपासना, एवं द्वन्द्वात्मिका उपासना का तारतम्य-प्रदर्शन, तथा तामसी-उपासना के भीषण परिणामों का दिग्दर्शन—

'पुण्याः' वे ही कहलाएँगे, जो विराट्, एवं विश्व के उपासक होंगें। अत्रापि यह विवेक तो कर ही लेना पड़ेगा कि, आधिकारिक अचेतन जीव (विराट्यज्ञ) के सात्त्विक उपासक, आश्वत्थिक चेतन ब्रह्म--प्रजापति--इन्द्र, इन तीन देवयोनियों के सात्त्विक उपासक, महापुरुषलक्षण आश्वत्थिक चेतन जीवों के सात्त्विक उपासक, गौ आदि पवित्र पशुरूप आश्वत्थिक चेतन जीवों के सात्त्विक उपासक, अश्वत्थ-तुलसी-वटादिरूप आश्वत्थिक अर्द्धचेतन जीवों के सात्त्विक उपासक, एवं प्रतिमालक्षण आश्वत्थिक अचेतन जीवों के सात्त्विक उपासक तो "पुण्या" कहलाएँगे। एवं भूत--प्रेतादि आश्वत्थिक चेतन जीवों के राजसतामस, किंवा तामस उपासक 'पाप' कोटि में माने जायँगे। कारण, इस 'आसुरी-उपासना' से आत्माभ्युदय की सम्भावना भी नहीं है। तामसी उपासना अन्ततोगत्त्वा आत्मपतन का ही कारण बनती है, जैसाकि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है–

> १–मोघाशा मोघकर्म्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
> राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
> २–न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
> माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
> ३–घन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः॥

२६८–अव्ययोपासक-ईश्वरोपासक-यज्ञोपासक-विराडुपासक, एवं विश्वोपासक-भेदेन उपासकों के श्रेणिविभागों का तालिका-माध्यम से स्वरूप-समन्वय—

इसप्रकार "यक्ष--राक्षस--गन्धर्व--पिशाच" इन चारों आश्वत्थिक चेतन-जीवों की उपासना को छोड़कर विश्वोपासना के शेष--वर्गों का उपासक वर्ग ही "पुण्याः" का अधिकारी सिद्ध होता है। तीसरे विराडुपासक की पुण्यता में तो कोई सन्देह ही नहीं है। स्वयं भगवान्‌ने हीं–"ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र--लोकान्" कहते हुए इन्हें "पुण्याः" (पुण्यात्मानः) माना है। इन्हीं उक्त चारों नाम-व्यवहारों का पाँच-वर्गों में अन्तर्भाव करते हुए भगवान् कहते हैं—

> किं पुनर्ब्राह्मणाः, पुण्याः, भक्ताः, राजर्षयस्तथा।
> अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
> —गीता ९।३३।

अव्ययोपासका:—बुद्धियोगिनो युक्ता—योगिन:]——————————राजर्षय:

ईश्वरोपासका:—भक्तियोगिनो युञ्जाना:—]——————————भक्ता:

यज्ञोपासका:—ज्ञान-कर्म्मयोगिनो-आरुरुक्षव:-कर्म्मिणो ज्ञानिनश्च]—ब्राह्मणा:

विराडुपासका:—काम्यकर्म्मयोगिन: कामपरायणा:
विश्वोपासका:—काम्यकर्मोपासका:—कामोपभोगपरमा: } ——————————पुण्या:

———*———

२६६–'ज्ञानी', 'जिज्ञासु', 'अर्थार्थी', 'आर्त्त', मानवों से अनुप्राणित भक्तिमार्ग के चार प्रसिद्ध विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय—

गीता ने उपासकवर्ग को **आर्त्त**, **जिज्ञासु**, **अर्थार्थी**, **ज्ञानी**, इन चार भागों में विभक्त किया है। प्रसङ्गोपात्त यह भी विचार कर लेना चाहिए कि, उक्त पाँचों वर्गों में किस का किस उपासक श्रेणि में अन्तर्भाव है ?। विचारकक्षा के अन्तिम धरातल पर पहुँचने से यह मान लेना पड़ेगा कि-"**ज्ञानी**" उपासक '**बुद्धियोगी**' (**युक्तयोगी, किंवा युक्ततमयोगी**) होगा। ईश्वरोपासक, एवं यज्ञप्रजापत्युपासक (ऐश्वर्य्यबुद्धियोगी, धर्म्म-बुद्धियोगी, ज्ञानबुद्धियोगी तीनों) **जिज्ञासु** श्रेणि में माना जायगा। विराडुपासक (भोगैश्वर्य्य की इच्छा से काम्ययज्ञ-कर्मों में प्रवृत्त रहने वाला कामुक) **अर्थार्थी** उपासक माना जायगा। एवं विश्वोपासक को **आर्त्त** उपासक कहा जायगा। दु:खी मनुष्य ही भूतप्रेतादि को मनाता फिरता है, वही कातरभाव से "**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**" यह कहता है। यही देवप्रतिमाओं के सम्मुख करुणामयी प्रार्थना किया करता है। चारों में कौन सर्वश्रेष्ठ ?, पाठक कह उठेंगे–**ज्ञानी, बुद्धियोगी, युक्तयोगी**। इसप्रकार गीतासिद्धान्त अपने आप स्फुट होजाता है। देखिए—

१--चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन !।
आर्त्तो, जिज्ञासु, रर्थार्थी, ज्ञानी च भरतर्षभ !॥
२--तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय:।
३--उदारा: सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थित: स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

—गीता ७।१६।१७।१८

अव्ययोपासकः——ज्ञानी
ईश्वरोपासकः
यज्ञोपेश्वरोपासकः } —जिज्ञासुः
विराडुपासकः]—अर्थार्थी
विश्वोपासकः]—आर्त्तः

—चतुर्विधा भजन्ते माम्—
"पृथकृत्त्वेन"

——— * ———

३००-युगधर्म्मभेदनिबन्धन-उपासना-पथों का संस्मरण—

उपास्य तत्त्व के सम्बन्ध में प्रवृत्त भक्तिप्रकरण के अनुरोध से जो कुछ वक्तव्य था, वह परिसमाप्त है। अब इस सम्बन्ध में केवल यही कर्त्तव्य शेष रह जाता है कि, इन पाँचों उपास्यों की पाँचों उपासनाओं का क्रमशः **देवयुग-वेदयुग-पुराणयुग-दर्शनयुग-वर्त्तमानयुग, इन युगों** के साथ समन्वय कर दिया जाय। और सर्वान्त में इसप्रकरण के मुख्य विषय **"वेदयुगानुगत भक्तिमार्ग"** का दो शब्दों में उपसंहार कर इस सन्दर्भ को समाप्त किया जाय।

३०१-देवयुगानुगता 'उपासना' लक्षणा 'भक्ति' का संस्मरण—

अब यह स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है कि, देवयुगारम्भकाल में हीं-भगवान् कृष्ण के द्वारा (अन्यशरीर से) विवस्वान् के प्रति सर्वप्रथम इस निर्गुण अव्ययमूला, राजर्षिविद्यानुगता वैराग्य-बुद्धियोगलक्षणा मनोमयी, किंवा ज्ञानमयी (अव्ययज्ञानकर्म्ममयी) **'उपासना'** नाम की **'भक्ति'** का उपदेश होचुका था। इसीलिए यह भी निर्विवाद है कि, देवयुगानुगता उपासना **'निर्गुणाव्यय-उपासना'** ही थी।

३०२-वेदान्तोपनिषन्मूलः देवयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

प्रकरण के आरम्भ में इस उपासना के सम्बन्ध में यह विप्रतिपत्ति उठाई गई थी कि, उपासना का द्वैतभाव से सम्बन्ध है, सीमित उपास्य से सम्बन्ध है। इधर निगुण आत्मा असीम है। फलतः उस की उपासना असम्भव है। कहना न होगा कि, उक्त निर्गुण अव्यय-स्वरूप-परिज्ञान के अनन्तर इस विप्रतिपत्ति का कोई महत्त्व शेष नहीं रहजाता। अव्यय द्वन्द्वातीत भी है, निर्गुण भी है, परन्तु मायापरिग्रह से युक्त होता हुआ विश्वसीमा के भीतर भी है। **मायातीत निराकार परात्परब्रह्म अवश्य ही अपरिच्छिन्न बनता हुआ अनुपास्य है। परन्तु मायी अव्यय के सम्बन्ध में समानप्रत्ययप्रवाहमूला, अद्वैतलक्षणा उपासना अवश्य ही बन सकती है, और यही उपासना सर्वोत्कृष्ट उपासना है। वेदका उपनिषत् भाग ही इसकी-प्रतिष्ठा है।**

३०३-आरण्यकग्रन्थमूला वेदयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

कुछ समय पीछे ही विश्वयुक्त **प्रजापति** की उपासना का विकास हुआ। **यही उपासना वेदयुग-कालीन-उपासना कहलाई। अक्षरमूर्त्ति प्राणमय, किंवा क्रियामय षोडशीप्रजापति ही** इस उपासना

का उपास्य देवता बना। यहाँ आंशिकरूप से द्वैतभाव का विकास हुआ। 'अहं, और ओम्' का पार्थक्य समझते हुए ही अनन्यता स्थापित हुई। यही भक्तिरूपा उपासना **'वेदयुगानुगत भक्तिमार्ग'** कहलाया, गीताने इसे ही **'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग'** नाम से व्यवहृत किया। **वेदका आरण्यकभाग ही इसकी मूलप्रतिष्ठा बना।**

३०४-ब्राह्मणग्रन्थमूला पुराणयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

आगे जाकर **पुराणयुग** का समन्वय हुआ। इस युगमें **अवतारोपासना** के साथ-साथ **निष्काम-यज्ञकर्म्म, एवं निष्काम-आत्मोपयिक आत्मीयकर्म्म**, इन तीन भावों का विकास हुआ। **यज्ञकर्म्म योग-निष्ठा (कर्म्मनिष्ठा) कहलाई, आत्मीयकर्म्म सांख्यनिष्ठा (ज्ञाननिष्ठा) कहलाई।** लोकरुचि के भेद से ही इन **प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपा** दो-विभिन्न निष्ठाओं का विकास हुआ। यही गीता का संशोधन प्राप्त कर आगे जाकर (क्रमशः) **'धर्म्मबुद्धियोग,-ज्ञानबुद्धियोग'** इन नामों से व्यवहृत हुई। इस उपासना का उपास्यदेवता माना गया **सविकार, अमृतवाक्शुक्रमय-यज्ञप्रजापति**। **एवं वेद का (प्रवृत्ति-निवृत्ति-कर्म्मप्रतिपादक-कर्म्म-ज्ञाननिष्ठा--प्रतिपादक) ब्राह्मणभाग ही इसकी मूलप्रतिष्ठा बना।**

३०५-तत्त्वदर्शनविजृम्भणमूला-दर्शनयुगानुगता-उपासना का स्वरूप-समन्वय--

आगे जाकर **दर्शनकाल** का आगमन हुआ। समाज दार्शनिक दृष्टि से तत्त्वान्वेषण में प्रवृत्त हुआ। विज्ञानसिद्ध वैदिकतत्त्व विलुप्त होगए, एवं इन का स्थान **मतवादमूलक, अतएव कलहमूलक दर्शनवाद ने छीन लिया**। परिणामतः--पूर्वप्रचलित भक्तिमार्गों का वास्तविक स्वरूप विलुप्त होगया, और उसके स्थान **तत्त्ववादमूला विराट्-उपासना** का आविर्भाव हुआ। विराट् के ज्ञानप्रधान **सर्वज्ञतत्त्व** के आधार पर प्रचलित **वेदान्तनिष्ठाने** जन्म लिया, विराट् के क्रियाप्रधान **हिरण्यगर्भतत्त्व** के आधार पर **प्रचलित सांख्यनिष्ठा** का आविर्भाव हुआ, एवं विराट् के अर्थप्रधान **वैश्वानरतत्त्व** के आधार पर **कणाद के द्वारा प्रचलित कर्म्मनिष्ठा** का आविष्कार हुआ।

३०६-कर्म्मासक्तिमूला दार्शनिक-भक्ति, दर्शनभक्तिनिबन्धना लोकनिष्ठाएँ, एवं भगवान् के द्वारा उन का संशोधनात्मक-समन्वय--

दर्शनग्रन्थ ही इस कर्म्मात्मिका भक्ति की मूलप्रतिष्ठा बनें। महाभारतकाल में तो यह मार्ग चरम-सीमा पर हीं पहुँच चुका था। देवयुगारम्भ में भगवदुपदिष्टा बुद्धियोगनिष्ठा विलुप्त होचुकी थी, ईश्वरानन्यता-लक्षणा अक्षरोपासना भी अस्तप्राय बन चुकी थी, यज्ञकर्म्मात्मिका कर्म्मनिष्ठा से, एवं आत्मकर्म्मात्मिका सांख्यनिष्ठा से सम्बन्ध रखने वाली यज्ञेश्वरोपासना के प्रवृत्तिकर्म्ममार्गनें काम--फलासक्ति का आसन ग्रहण कर लिया था, निवृत्तिकर्म्ममार्ग पर अवैध, कायक्लेशात्मक कर्म्मत्यागलक्षण संन्यास ने अधिकार स्था-पित कर लिया था। इसी भीषणता का दमन करने को लिए महाभारतयुग में उसी प्रथमोपदेष्टा को पुनः वासुदेवशरीर से अवतार धारण करना पड़ा। और उसने अर्जुन को निमित्त बना कर पुनः विकृतिभाव में परिणता चारों निष्ठाओं का संशोधन कर सर्वोपरि बुद्धियोगनिष्ठा स्थापित की।

३०७–कालदोषानुगता योगविलुप्ति, एवं व्याख्याताओं के द्वारा योगचतुष्टयी के मौलिक-स्वरूपों का अभिभव—

अवश्य ही कुछ शताब्दियों पर्य्यन्त **'गीता का बुद्धियोग,** एवं तदनुप्राणित बुद्धियोगात्मक इतर तीनों योग व्यवस्थित ही रहे होंगे। परन्तु कालदोष से आगे जाकर पुनः इन चारों का ही स्वरूप विकृत होगया, और विश्वोपासना ने इनका स्थान छीन लिया। **यही प्रचलित भक्तिमार्ग कहलाया, व्याख्याताओं के** व्याख्याग्रन्थ ही इसकी मूलप्रतिष्ठा बनें, जैसाकि तत्प्रकरण में हीं स्पष्ट होने वाला है।

३०८–सर्वयुगानुगता सर्वोपासना का स्वरूप–समन्वय, एवं भूतोपासनात्मक 'प्रतिमा-पूजन' का अनादित्व—

उक्त कथन का यह तात्पर्य्य नहीं है कि, पाँचों युगों में [प्रत्येक में] केवल तत्तदुपासनाओं का ही प्रचार था। तारतम्य से देवयुग में हीं पाँचों का विकास होचुका था। और तो और, **जिस प्रतिमापूजन को हमने वर्त्तमान युग का भक्तिमार्ग माना है,** उसका विकास भी उसी युग में होचुका था, जिसेकि हम देवयुग कहते हैं, एवं जो विज्ञान दृष्टि से **"उपनिषत्"** युग भी माना जासकता है। हम देखते हैं कि, आज **"प्रतिमापूजन"**(जो कि उपासनासिद्धि * का एक सरलतम मार्ग है] पर अनेक प्रकार के **आक्षेप** होरहे हैं। जो भारतीय वेदभक्ति की अनन्यता घोषित करते हुए भी अज्ञानवश वेदसिद्धा प्रतिमापोसना पर आक्षेप करते हैं, उससे तो हमारी कोई क्षति नहीं है। कारण वे हमारे बन्धु हैं, भ्रान्तिवश उन्होंनें यह भूल कर रक्खी है। और हमारा विश्वास है कि, बान्धव-सम्बन्धाकर्षण से हम किसी भी समय उनकी भ्रान्ति का परिमार्ज्जन कर सकेंगे, निश्चयेन कर ही देंगे। परन्तु विज्ञानगर्विष्ठ पश्चिमी विद्वान् भी इस सम्बन्ध में भ्रान्ति कर रहे हैं। उनकी इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए ही हमनें विश्वोपासनात्मक प्रचलित भक्तिमार्ग नाम के पाँचवें प्रकरण में **"प्रतिमापूजन, और उपासना"** नाम के वैज्ञानिक प्रकरण का समावेश करना आवश्यक समझा है, जैसाकि पाठक तत् प्रकरण में देखेंगे। यहाँ इस सम्बन्ध में केवल यही वक्तव्य है कि, **सभी युगों में सभी उपासनामार्ग प्रचलित रहे हैं, परन्तु तत्तन्मार्गों की प्रधानता से हमनें तत्तद्युगों को तत्तदुपासनाओं से ही युक्त मान लिया है।**

३०९–लोक–धर्म्म–वेद–प्रजा–चतुष्टयी के आदिव्यवस्थापक भगवान् भौम–मानुष–ब्रह्मा के द्वारा चतुर्युगव्यवस्था, एवं तद्युगानुगता उपासनाचतुष्टयी का स्वरूप-समन्वय–

एक बात और। देवयुगकालीन ब्रह्मा के द्वारा **लोक--धर्म्म--वेद-- प्रजा**--की व्ययवस्था के साथ-साथ चतुर्युगों की भी व्यवस्था हुई थी। **देवयुग** के अव्ययवहितोत्तरकाल में हीं अपनी स्थिति रखने वाले **वेदयुग** को **'सत्ययुग'** माना जासकता है, **पुराणयुग** को **'त्रेतायुग'** कहा जासकता है। **दर्शनयुग** को **"द्वापर"** माना जासकता है, एवं वर्तमान **कलहमूलक युग** को **'कलियुग'** कहा जासकता है। **देवयुग बुद्धियोगात्मिका**

---

* **अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।**
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

निर्गुण-अव्ययोपासनाकाल है, वेदयुगात्मक सत्ययुग अक्षरमूर्ति, अतएव हृदयमूर्ति, अतएव सत्यमूर्ति षोडशी-प्रजापत्युपासनाकाल है, पुराणयुगात्मक त्रेतायुग * यज्ञप्रजापत्युपासनाकाल है, दर्शनयुगात्मक द्वापरयुग विराट्प्रजापत्युपासनाकाल है, एवं वर्त्तमानयुगात्मक कलियुग विश्व--प्रजापत्युपासनाकाल है। इसी विज्ञानमिति के आधार पर हमनें इस तीसरे प्रक्रान्त प्रकरण के पाँच अवान्तर प्रकरण मान लिए है, जिनकी कि मौलिकता सिद्ध करने के लिए 'षट्परिग्रहयुक्त पञ्चोपास्य-विवर्त्त' का गाथागान करना आवश्यक हुआ।

अन्यत्र धर्म्मात्—	१-देवयुगः—आदियुगः (संहितोपनिषत्कालः)—निर्गुणाव्ययोपासना-विवर्त्तम्
	२-सत्ययुगः--वेदयुगः (आरण्यककालः)—सगुणप्रजापत्युपासना-विवर्त्तम्
श्रौतधर्म्मः	३-त्रेतायुगः--पुराणयुग; (पुराण-ब्राह्मणकालः)—सविकारयज्ञेश्वरप्रजापत्युपासना-विवर्त्तम्
सान्ध्यः	४-द्वापरयुगः-दर्शनयुगः (सूत्रकालः) —साञ्जनविराट्प्रजापत्युपासना-विवर्त्तम्
स्मार्त्तधर्म्मः	५-कलियुगः-वर्त्तमानयुगः (संघर्षकालः स्मार्त्तकालोवा)-सविकारविश्वप्रजापत्युपासना-विवर्त्तम्

—*—

प्रकारान्तरेण--

देवयुगोपासना—ज्ञानमयी-मनोमयी———"अमृतोपासना"———**अमृतम्**

सत्ययुगोपासना--क्रियामयी-प्राणमयी-———"ब्रह्मोपासना"———**ब्रह्म**

त्रेतायुगोपासना--अर्थमयी-अमृतवाक्--शुक्रमयी-"शुक्रोपासना"

द्वापरयुगोपासना—अर्थमयी-मर्त्यवाक्-"शुक्रमयी-देवोपासना(शुक्रम्)"

कलियुगोपासना--अर्थमयी-भूतवाङ्मयी—"भूतोपासना (शुक्रम्)"

(त्रेता, द्वापर, कलि) — **शुक्रम्**

---

* **"त्रेतायां बहुधा सन्ततानि" (त्रेताग्नियज्ञात्मक वितानयज्ञकाल)।**

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ।
आर्त्तो, जिज्ञासु, रर्थार्थी, ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥
तेषां 'ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ (गीता ७।१६,१७) ।

सर्वसंग्रहः—

१—अव्ययः—अव्ययः (मनः)—अमृतम्—आत्मा (मायामयः)——उपास्यः—वैराग्यबुद्धियोगात्मिका—"उपासना" * योगिनः (राजर्षयः—ज्ञानी

२—अक्षरः—षोडशी (प्राणः)—ब्रह्म——ईश्वरः (सकलः-सगुणः)—उपास्यः—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मिका—"उपासना" * तपस्विनः (भक्ताः) }—जिज्ञासुः
३—आत्मक्षरः—यज्ञः (वाक्) म—उपेश्वरः (सविकारः)—उपास्यः—धर्म्म-ज्ञान-बुद्धियोगात्मिके-"उपासने" * कर्म्मिणो,ज्ञानिनश्च(ब्राह्मणाः) }

४—विकारक्षरः-विराट् (वाक्) क्ष—देवाः (साञ्जनम्)—उपास्यः—भोगैश्वर्य्यानुगता— "उपासना" }———————अर्थार्थी
- पुण्यात्मानः (पुण्याः)
५—वैकारिकक्षरः-विश्वम् (वाक्) क्ष—भूतानि (सावरणम्)—उपास्यः—कामकामयी——— "उपासना" }———————आर्त्तः

———*———

३१०-परावरब्रह्ममूलक-'उद्गीथोङ्कार' का पावन-संस्मरण—

वेदयुगानुगता आरण्यकभागमूला उपासना का मूलाधार है—'उद्गीथोङ्कार', जो कि उपनिषदों में **'परावरब्रह्म'** नाम से भी प्रसिद्ध है। जिस षोडशी--प्रजापति का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उसे ही **'उद्गीथोङ्कार'** भी कहा जासकता है, एवं उसी को **'ईश्वर'** भी माना जसकता है ; फलतः उसी की उपासना **'ईश्वरोपासना'** कहला सकती है। इस विषय का **माण्डूक्योपनिषत्** में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है, अतएवात्र पिष्टपेषण निरर्थक है। उपासना के समन्वय के लिए यहाँ दो शब्दों में तत्संस्मरणमात्र ही कर लिया जाता है।

३११-आत्मप्रजापति के तीन संस्थाविवर्त्त, तदनुप्राणित विश्व, एवं 'आत्मा', तथा 'विश्व' की समष्टिरूप 'आत्मन्वी' का संस्मरण—

निर्गुण-अव्ययात्मा, सगुण-षोडशी--प्रजापति, एवं **सविकार-यज्ञप्रजापति**, इन तीनों आत्मसंस्थाओं को **मनः-प्राण-वाङ्मयी** मानते हुए क्रमशः **अव्यय, अक्षर, क्षर**--प्रधान बतलाया गया है। एवं अन्त की **साञ्जनविराट्प्रजापति**, एवं **सावरणविश्वप्रजापति**, इन दो संस्थाओं का क्रमशः **मर्त्यवाक्शुक्रमयी**, तथा **भूतवाङ्मयी** बतलाते हुए **विकारक्षर**, तथा **वैकारिकक्षर**-रूप माना गया है। इसी दृष्टि से इन पाँच संस्थाओं की आगे जाकर तीन हीं संस्थाएँ शेष रह जातीं है। **क्षर-विकारक्षर-वैकारिकक्षर**, तीनों क्षरविवर्त्त हैं, यज्ञप्रजापति विवर्त्त हैं। पाठकों को यह भी स्मरण होगा ही कि, इसी आधार पर हमनें **अव्यय-अक्षर**, इन दो को तो-**'आत्मा'** कहा है, एवं क्षर-विकार-वैकारिक, इन तीनों को **'विश्व'** कहा है-[देखिए पृष्ठ सं० १६६]।

३१२-अतीतलक्षण अव्ययात्मा, वर्तमानलक्षण अक्षरात्मा, भविष्यल्लक्षण क्षरात्मा, कालातीत परात्पर, एवं चारों की समष्टिरूप-'षोडशी-प्रजापति' का संस्मरण—

क्षरप्रधान विश्व क्षणिक बनता हुआ **'नास्तिसार' है**। 'अस्ति' शब्द का प्रयोग इस क्षणिक क्षरविश्व के लिए नहीं किया जासकता। यह सदा भविष्यत् की मर्य्यादा से ही आक्रान्त रहता है। **अतीत-लक्षण अव्ययात्मा, वर्त्तमानलक्षण अव्यय**, दोनों से पृथक् भविष्यल्लक्षण **क्षर** ही विश्व है। **अतीत, किंवा भूत--मर्य्यादा से आक्रान्त अव्यय, वर्त्तमान मर्य्यादा से आक्रान्त अक्षर, एवं भविष्यत्-मर्य्यादा से युक्त क्षर, तीनों की समष्टि ही षोडशी-प्रजापति है।**

३१३-'प्रणवोङ्कार'-लक्षण प्रथमा ओङ्कारसंस्था का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

इस षोडशी--प्रजापति का **क्षरलक्षण भविष्यदर्थ** ही आगे जाकर **यज्ञ-विराट्-विश्व**--रूप में परिणत होता है। इन तीनों में भी अपेक्षया हम **यज्ञ को भूत, विराट् को वर्त्तमान, एवं विश्व को भविष्यत् कह सकते हैं**। एवं **षोडशी को त्रिकालातीत कहा** जासकता है। और इसी दृष्टि से केवल **भविष्यदर्थरूप क्षरप्रजापति भी त्रिकालमर्य्यादा** से युक्त होता हुआ **'ओङ्कार'** बन जाता है। **यही पहिली 'ओङ्कारसंस्था' है**। इसी को हम **'प्राणवोङ्कार'** कह सकते हैं। **प्रस्ताव को ही स्तुति कहते हैं। उपक्रम ही प्रस्ताव है। भौतिक विश्व ही आत्मा की प्रस्तावभूमि है**। अतएव प्रस्तावात्मक इस क्षररूप ओंङ्कार को अवश्य ही **'प्रणव'** कहा जासकता है।

३१४–'उद्गीथोङ्कार' लक्षणा द्वितीया ओङ्कारसंस्था का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

भविष्यदर्थ के अनन्तर वर्त्तमानलक्षण प्राणमय अक्षर आता है। निष्कल अव्यय–गर्भित पञ्चकल अव्ययमूर्त्ति अक्षर ही भूत है, पञ्चकल अक्षरमूर्त्ति अक्षर ही वर्त्तमान है, एवं यज्ञ–विराट्–विश्वगर्भित पञ्चकल आत्मक्षरमूर्त्ति अक्षर ही भविष्यत् है। इस दृष्टि से वर्त्तमानलक्षण षोडशी-प्रजापति भी त्रिकालमर्य्यादा से युक्त होता हुआ **'ओङ्कार'** बन जाता है। यही दूसरी ओङ्कार-संस्था है। इसी को 'उद्गीथोङ्कार' कहा जाता है।

३१५–'उद्गीथोङ्कारा' नुगत–'उत्–गी–थम्' पर्वों का आत्मनिबन्धन स्वरूप–समन्वय—

'उत्–गी–थम्' की समष्टि ही 'उद्गीथम्' है। 'उत्' 'अमृतभाव' का सूचक है, 'थम्' 'मृत्युभाव' का सूचक है, 'गी' दोनों का 'संधाता' है। निर्गुण अव्यय अमृतप्रधान बनाता हुआ 'उत्' है, यज्ञ–विराट्–विश्वरूप क्षर–मृत्युप्रधान बनता हुआ 'थम्' है। मध्यस्थ षोडशी दोनों से युक्त होकर षोडशी बनता हुआ 'गी' बन कर उद्गीथम् है। षोडशी अव्ययदृष्ट्या 'उत्' बना हुआ है, अक्षर–दृष्ट्या 'गी' बना हुआ है, एवं क्षर की दृष्टि से 'थम्' बना हुआ है। अतएव इसे अवश्य ही 'उद्गीथ' कहा जासकता है।

३१६–छान्दोग्य-सम्मत 'उद्गीथोङ्कार', एवं तदनुप्राणित 'परावरब्रह्म' का संस्मरण—

छान्दोग्यने अक्षर को ही प्रधानरूप से उद्गीथ माना है। और ऐसा मानना विज्ञानसिद्ध भी है। कारण, मध्यस्थ अक्षर ही उस ओर के 'उत्'-लक्षण अव्यय से, एवं इस ओर के 'थम्' लक्षण क्षर से युक्त होता हुआ 'उद्गीथम्' बन जाता है। 'उत्' लक्षण अव्यय 'पर' है। 'थम्' लक्षण क्षर 'अवर' है। एवं दोनों से युक्त 'गी' लक्षण मध्यस्थ बनता हुआ अक्षर 'परावर' है। यही 'परावरोङ्कार' त्रैकालिक उद्गीथ अक्षर है।

३१७–'सर्वोङ्कार' लक्षणा तृतीया ओङ्कारसंस्था का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

अब वह तीसरी निर्गुण–अव्यय–संस्था बच रहती है, जोकि त्रिकालातीता है, एव जिस के हमने आनन्द–विज्ञान–मन, ये विवर्त्तभाव बतलाए हैं। यही 'तत्' 'सर्व' बना हुआ है। इस के आनन्दभाग को 'अकार' माना जासकता है, विज्ञानभाग को 'उकार' कहा जासकता है, 'सर्वगर्भित' मनोभाग को 'मकार' कहा जासकता है, एवं व्यापक परात्पर को 'अर्द्धमात्रा' माना जासकता है। यही तीसरी 'ओङ्कारसंस्था' है। इसे ही 'सर्वोङ्कार' भी कहा जासकता है। यही मूलोङ्कार सर्वरूप में परिणत हुआ है—'तदु नात्येति किञ्चन"।

३१८–ओङ्कारानुगता अर्द्धमात्रा, एवं तत्र प्रतिष्ठिता अकार, उकार, मकार–त्रयी—

ओङ्कार में 'अर्द्धमात्रा, अकार, उकार, मकार' ये चार मात्राएँ होतीं हैं। इन मात्राओं के सादृश्य से ही उक्त तीनों आत्मसंस्थाओं को क्रमशः सर्वोङ्कार-उद्गीथोङ्कार प्रणवोङ्कार, अभिधाओं से समन्वित मान लिया गया है। अब देखना यही है कि, इन तीनों संस्थाओं में किस रूप से चारों पर्वों का भोग हो रहा है ?।

३१९-सर्वोङ्कारानुगत चार पर्वों का स्वरूप-समन्वय—

पहिले क्रमप्राप्त निर्गुणाव्ययलक्षण त्रिकालातीत, सर्वकालरूप सर्वोङ्कार को ही लीजिए। परात्पर इस की अर्द्धमात्रा है, आनन्दभाग अकारमात्रा है, विज्ञानभाग उकार मात्रा है, एवं षोडशी-यज्ञ-विकार-विश्व, इन चारों को अपने गर्भ में रखने वाला काममय मनोभाग मकारमात्र है तथा समष्टि सर्वोङ्कार है।

३२०-उद्गीथोङ्कारानुगत चार पर्वों का स्वरूप-समन्वय—

दूसरा अक्षरमूर्त्ति सगुण शोडशी-प्रजापति है। त्रिकालातीत सोलहवाँ निर्गुण अव्यय-अर्द्धमात्रा है, पञ्चकल भूतलक्षण अक्षरमूर्त्ति-अव्यय अकार है, पञ्चकल वर्त्तमानलक्षण अक्षर-मूर्त्ति अक्षर उकार है। यज्ञ-विराट्-विश्वगर्भित भविष्यल्लक्षण अक्षरमूर्त्ति क्षर मकार है। एवं समष्टि उद्गीथोङ्कार है।

३२१-प्रणवोङ्कारानुगत चार पर्वों का स्वरूप-समन्वय—

तीसरा क्षरमूर्त्ति सविकार यज्ञप्रजापति है। त्रैकालिक षोडशी अर्द्धमात्रा है, यज्ञेश्वर विष्णु अकार है, विकारमूर्त्ति विकार उकार है, आवरणमूर्त्ति विश्व मकार है, एवं समष्टि प्रणवोङ्कार है। यह तो हुआ ओङ्कार का स्थूल विस्तार। यदि इस के अवान्तर प्रस्तारों का विचार किया जाता है, तो अणु अणु में चतुष्पर्वा ओङ्कार की सत्ता सिद्ध होजाती है, जिसके कि कुछ एक उदाहरण कठविज्ञानभाष्य में उद्धृत हुए हैं।

३२२-ज्ञानयोगानुगत सर्वोङ्कार, भक्तियोगानुगत उद्गीथोङ्कार, तथा कर्म्मयोगानुगत प्रणवोङ्कार का स्थितभेदमूलक समन्वय—

निष्कर्ष यही हुआ कि, व्यवहारमात्र के लिए भूतकालिक, वस्तुत: कालातीत-निर्गुण अव्यय सर्वोङ्कार कहलाया। वर्त्तमानलक्षण अक्षरमूर्त्ति षोडशी उद्गीथोङ्कार कहलाया, एवं भविष्य-ल्लक्षण क्षरमूर्त्ति यज्ञप्रजापति प्रणवोङ्कार कहलाया। सर्वोङ्कार विज्ञेयकोटि में आता हुआ ज्ञाना-त्मिका बुद्धियोगलक्षणा उपासना का प्रतिष्ठा बना। उग्दीथोङ्कार उपास्यकोटि में आता हुआ क्रिया-त्मिका भक्तियोगलक्षणा उपासना की मूलप्रतिष्ठा बना। एवं प्रणवोङ्कार व्यवहारकोटि में आता हुआ अर्थात्मिका कर्म्मयोगलक्षणा उपासना का आधार बना।

३२३-ज्ञानात्मिका उपासना, भक्त्यात्मिका उपासना, एवं कर्म्मात्मिका उपासना-भेदभिन्ना उपासनात्रयी का स्वरूप समन्वय—

इस से यह भी सिद्ध होगया कि, ज्ञानात्मिका उपासना, भक्त्यात्मिका उपासना, कर्म्मात्मिका उपासना, तीनों का आरम्भ, किंवा मूल लक्ष्य "ओङ्कार" ही होना चाहिए। इन तीनों में से गीता ने दो ओङ्कारों का ही प्रधानरूप से विश्लेषण करना आवश्यक समझा है। कारण स्पष्ट है। अव्ययात्मलक्षण सर्वो-

ङ्कार तो गीता का प्रतिपाद्य विषय ही है। इस के लिए तो भगवान्ने पद पद पर "नाम" "मम" "अहम्"–"मत्तः" यही कहना पर्य्याप्त समझा है। शेष षोडशी-प्रजापति-लक्षण अक्षरमूर्त्ति उग्दीथ को भक्तिरूप उपासना का, एवं यज्ञप्रजापति–लक्षण क्षरमूर्त्ति प्रणव को कर्म्मरूप उपासना का स्पष्ट शब्दों में उपक्रम माना है, जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

उग्दीथोङ्कारः–१–ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ } –षोडशीः

—गीता ८।१३।

प्रवणोङ्कारः—२–तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञ-दान-तपः– क्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ } –यज्ञः

—गीता १७।२४

३२४–विज्ञेय अव्ययात्मा, उपास्य अक्षरात्मा, एवं व्यवहार्य्य क्षरात्मा–निबन्धना मार्गत्रयी का स्वरूप-समन्वय, तथा तालिका–माध्यमेन तत्स्पष्टीकरण–प्रयास—

अब यह स्पष्ट करने की भी आवश्यकता नहीं रह गई है कि, अव्ययोपासना वास्तव में उपासना नहीं है, अपितु एकप्रकार का ज्ञानयोग ही है। क्षरोपासना भी उपासना न होकर एकप्रकार का कर्म्मयोग ही है। 'उपासना', जिसे कि हम "भक्ति" कह सकते हैं, वह तो अक्षरोपासना ही है। यही कारण है कि, उपासनाकाण्ड के सम्बन्ध में यत्रतत्र श्रुतियों में 'अक्षर' को ही मूल लक्ष्य माना गया है। अव्यय को 'विज्ञेय' * माना है, क्षर को 'व्यवहार्य्य' माना हैं। इसप्रकार भक्तिमर्य्यादा की दृष्टि से आरण्य-कमूला, वेदयुगानुगता अक्षरोपासना हीं प्रधान बनी रह जाती है।

*–"स आत्मा–अव्ययः–विज्ञेयः" (माण्डूक्योपनिषत् ८)।

१–सर्वोङ्कारः-(परब्रह्मोपासना–परोऽव्ययः)(भूतं–कालातीतम्)

*–परात्परः } -अर्द्धमात्रा
१–आनन्दः } —अकारः
२–विज्ञानम् } —उकारः —सर्वोङ्कारमूर्त्तिर्निगुण–अव्ययः–"ज्ञानात्मिका अव्ययोपासना--(बुद्धियोगः)–देवयुगानुगता

३ [१-मनः (३) / २-षोडशी / ३-यज्ञः / ४-विराट् / ५-विश्वम्] —मकारः

—*—

२–उद्गीथोङ्कारः–(परावरब्रह्मोपासना--परावरोऽक्षरः)(भवत्)

भूतम् { *–परात्परगर्भितानन्दविज्ञानमनोमूर्त्तिरव्ययः } अर्द्धमात्रा; १–पञ्चकलोऽक्षरमूर्त्तिरव्ययः } अकारः } उत्--परः

भवत् { २-पञ्चकलोऽक्षरमूर्त्तिरक्षरः } उकारः } —गी —परावरः

भविष्यत् [१-पञ्चकलोऽक्षरमूर्त्तिरात्मक्षरः (३) / २-विकारयुक्तो यज्ञप्रजापतिः / ३-अञ्जनयुक्तो विराट्प्रजापतिः / ४-आवरणयुक्तो विश्वप्रजापतिः] मकारः } —थम्— —अवरः

उद्गीथोङ्कारमूर्त्तिः सगुणः षोडशी
"मत्स्यात्मिका--अक्षरोपासना"
(वेदयुगानुगता)

—:*:—

३--प्राणवोङ्कारः-(अक्षरब्रह्मोपासना-अक्षरः क्षरः) (भविष्यत्)

भूतम्	*-षोडशीप्रजापतिः	अर्द्धमात्रा	—प्रणवोङ्कारमूर्त्तिः सविकारो यज्ञप्रजापतिः कर्म्मात्मिका-उपासना (सर्वयोगः)--सर्वयु ।ानुगता''
भवत्	१-यज्ञप्रजापतिः	अकारः	
	२-विराटप्रजापतिः	उकारः	
भविष्यत्	३-विश्वप्रजापतिः	मकारः	

———*———

३२५-ओङ्कारस्वरूप-विश्लेषक-श्रुतिसन्दर्भ—

इसी ओङ्कार--प्रपञ्च का रहस्य बतलाती श्रुति कहती है—

''ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं, तस्योपव्याख्यानं-भूतं, भवद्, भविष्यदिति सर्व--मोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव । सर्वं ह्येतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म । सोऽयमात्मा चतुष्पात्'' (माण्डूक्योपनिषत्० २) ।

१--''बुद्धियोगात्मिका उपासना का तात्पर्य्य है-अपने आपको अव्ययरूप मानते हुए आत्म-कामभाव से शास्त्रीय ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-मार्गों में लोकसंग्रहपूर्वक प्रवृत्त रहना । यहाँ न ईश्वर का स्मरण है×, न भजन है, न पूजन है, न आस्तिक्य है, न नास्तिक्य है, न अहिंसा है, न हिंसा है, न पाप है, न पुण्य है, न सत् है, न असत् है । कुछ नहीं है, सब कुछ है । द्वन्द्वातीता यही उपासना भगवत्-सम्मता है । यही ''निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !'' वाली निर्गुणोपासना है, इसी सर्वोच्च उपासना का रहस्य बतलाती हुई उपनिषछ्रुति कहती है---

''तद्वा अस्यैतत्-आत्मकामं, आप्तकामं, अकामं रूपम् । तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरं, एवमेवायं शारीर आत्मा (भूतात्मा) प्राज्ञे-

---

×[१] सो जाने जेहि देहि जनाई ।
जानत तुम्हें तुमहि होइ जाई (तुलसी) ॥

[२] जब मैं था-तब हरि नहीं, अब हरि-मैं नाहिं ।
प्रेमगली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं ॥

[३] वह अगर ग़ैर कोई हो तो मुझे याद रहे ।
मैं अगर ग़ैर कोई हूँ तो वो मुझे भूले ॥

नात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरम् । तद्वा अस्यैतत्–अतिच्छन्दः (असीमम्), अपहतपाप्मा (परिग्रहशून्यम्), अभयं (परात्परमयम्) रूपमशोकान्तरम् । अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, वेदा अवेदाः, यज्ञा अयज्ञाः । अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति, भ्रूणहा अभ्रूणहा, पौल्कसोऽपौल्कस, श्चाण्डालोऽचाण्डालः, श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसो,ऽनन्वागतः पुण्येन, अन्वागतः पापेन तीर्णो भवति, हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति ।

यद्वै तन्न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयति, न वदति, न शृणोति, न मनुते, न स्पृशति, न विजानाति, पश्यन्–जिघ्रन्–विजानन्–वदन्–शृण्वन्–मन्वानो–विजानन्–द्रष्टव्यं–घ्रातव्यं–रसं–वक्तव्यं–श्रोतव्यं–मन्तव्यं–स्प्रष्टव्यं–विज्ञेयं न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयति० । न हि द्रष्टेः, घ्राणस्य० विपरिलोपः । न तु तद्द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्, यज्जिघ्रेत्० । सलिल एको द्रष्टा अद्वैतो भवति । एष ब्रह्मलोकः सम्राट् ! इति हैनं (विदेहजनकं) उवाच (याज्ञवल्क्यः) । एषास्य परमा सम्पत् । एषोऽस्य परमो लोकः । एषोऽस्य परम आनन्दः । एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" ××××× । अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः, स एको ब्रह्मलोक आनन्दः । यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहत, एष ब्रह्मलोकः सम्राट् ! इति हैनमनुशशास । एतदमृतम्" ।

३२६–श्रोत्रिय, अवृजिन, एवं अकाम–पुरुषानुबन्धिनी उपासना का स्वरूप–समन्वय—

निर्गुण उपासना का क्या स्वरूप है ?, उपास्य कौन है ?, इसका अधिकारी कौन है ?, एवं इसका परिणाम क्या है ?, उक्त श्रुति से इन सब प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है । अमृतलक्षण अव्ययब्रह्म ही यहाँ उपास्य है । सर्वत्र समबुद्धि रखते हुए, द्वैतभावना का सर्वथा परित्याग करते हुए कर्त्तव्य कर्म्मों में अनन्यभाव से प्रवृत्त रहना हीं उपासना का प्रकार है । श्रोत्रिय, अवृजिन, एवं अकाम व्यक्ति ही इस उपासना का अधिकारी है ।

३२७ कर्म्मत्यागानुगामी व्याख्याताओं की भ्रान्ति का निराकरण—

यह बड़े ही खेद का विषय है कि, व्याख्याताओंनें इस उपासना को कर्म्मत्याग-लक्षणा मानते हुए वस्तुतत्त्व का सर्वनाश ही कर डाला है । कहना न होगा कि, ऐसे व्याख्याता, एवं उनके ऐसे व्याख्यान सर्वथा कल्पित, अतएव दूर से ही प्रणम्य हैं । श्रुतिने–"अवृजिनः" कहा है । प्रव्रज्या का नाम कर्म्मसन्यास माना गया है । श्रुति कहती है—जो कर्म्मसन्यास न कर कर्म्म में अकामभाव से प्रवृत्त

रहता है, वही इसका अधिकारी है, ।' इससे अधिक कर्म्म का समर्थन और क्या होसकता है ? । "**सर्व–कर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः**" का भी यही रहस्य है ।

३२८–समदर्शनानुगत विषमवर्त्तन का मौलिक रहस्य, एवं भेदसहिष्णु–अभेदमूलक तात्त्विक अद्वैत–सिद्धान्त का स्वरूप–समन्वय—

कुछ एक महानुभाव यह भी अनुमान करते होंगे कि, "श्रुतिने जिस अद्वैतमार्ग का उपदेश दिया है, उस मार्ग का अनुगामी आत्मोपासक संसार के उपयोग की वस्तु नहीं रहती ।" कुछ एक कल्पना-रसिक यह भी कल्पना करते होंगे कि, इस योग के अनुयायी के लिए **वर्णाश्रमधर्म्म का**, तन्मूलक ब्राह्मणादि भेदों का कोई महत्त्व नहीं है ।" परन्तु श्रुतिस्वारस्य को देखते हुए ये सभी अनुमान सर्वात्मना हीं असत्य हैं । श्रुतिने **अद्वैतभावना** का उपदेश देते हुए साथ साथ ही **व्यवहारभेद की रक्षा भी सर्वात्मन ही की है** । इसीलिए इस अधिकारी को "**श्रोत्रिय**" कहा है । '**श्रुति' से 'शास्त्र' अभिप्रेत है** । शास्त्रीय–मर्य्यादा का पूर्णरूप से पालन करता हुआ यथाधिकारसिद्ध कर्म्म करता हुआ उपासक ही इस मार्ग का अधिकारी है, चाहे वह किसी वर्ण का हो ! सर्वत्र समदर्शन करते हुए, अपने अधिकारसिद्ध यज्ञादि, युद्धादि, वाणिज्यादि, सेवादि वृत्तियों में प्रवृत्त रहने वाले ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र , सभी इस मार्ग से अभ्युदय–निःश्रेयसभाक् बन सकते हैं ।

३२९–आत्मपुरुषानुबन्धी–समदर्शन, तथा विश्वप्रकृत्यनुबन्धी 'विषमवर्त्तन' का लोकानुगत स्वरूप–समन्वय, एवं तन्निबन्धना अद्वैतमूला–निर्गुणोपासना का संस्मरण—

'**समदर्शन** को '**समवर्त्तन**' का स्थान देते हुए इसी को '**बुद्धियोग**' मान लेना तो किसी भी दृष्टि से सुसङ्गत नहीं बन सकता । **समवर्त्तन जहाँ सहजसिद्ध** [प्रकृतिसिद्ध] **है, वहाँ समदर्शन** प्रयास साध्य है । शूद्र–ब्राह्मण–क्षत्रिय, सबका वर्त्ताव [व्यवहार–कर्त्तव्य–आचरण] समान होजाय, और इसीका नाम तात्त्विक ज्ञान हो, तो समवर्त्तन के अनुगामी पशुओं को भी तत्त्वज्ञानी हीं मान लेना चाहिए । **भेदरहित आचरण ही तो पशुओं का स्वाभाविक धर्म्म है । ऐसी जीवन्मुक्ति तो बिना प्रयास के ही प्राप्त है, और** होसकती है । मानना पड़ेगा कि, गीता का बुद्धियोगात्मक ज्ञान, किंवा उक्त श्रुति का अभेदज्ञान **दृष्टिमूलक ही है, व्यवहारमूलक नहीं । समझो अभेद, देखो अभेद, किन्तु व्यवहार में भेदमर्य्यादा का अनुगमन करो, यही वास्तविक अद्वैतमार्ग है । भेदसहिष्णु अभेद ही सच्चा अद्वैतमार्ग है, और यही सच्ची बुद्धियोग–निष्ठा, किंवा निर्गुण–उपासना है ।**

३३०–आत्मानन्द पर नास्तिकों का आक्षेप, एवं तन्निराकरण—

"**न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरं वेद**" का तात्पर्य्य भी यह नहीं है कि, जैसा नास्तिक लोग कहा करते हैं । शाश्वत **अद्वैतानन्द लक्षण-विदेहभाव** का परिहास करते हुए **श्रमणक** कहा करते हैं कि, "**उस आत्मनन्द को लेकर हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध होसकता है, जिसमें न भीतर का कुछ बोध है, न बाहिर का । संज्ञाशून्य, जडवत् बन जाना कौनसा पुरुषार्थ है**" । कहना न होगा कि, ये मन्द–बुद्धि भी श्रुति के वास्तविक तात्पर्य्य से वञ्चित ही रह गए हैं ।

३३१–'संज्ञान' को प्रतिमूर्त्ति अद्वैतानन्दनिष्ठ महामानव, एवं 'न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' का समन्वय—

"न बाहिर का ज्ञान रहता, न भीतर का ज्ञान रहता" इसका तात्पर्य्य है–'बाहिर-भीतर का भेद हट जाता है', भेद ज्ञान, एवं तन्मूलक भेदानन्द (समृद्धानन्द–विषयानन्द) नहीं रहता। सर्व्वत्र आत्मज्ञान का प्रसार होजाता है। हृदयस्थ आत्मा, एवं बहिःस्थित विश्व, दोनों आत्मसम्पत् बन जाते हैं। इस आत्मसम्पत् के अनुगामी बुद्धियोगी ही तो "ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" कहलाते हैं। सच पूछा जाय, तो ये ही बाहिर–भीतर के मौलिक रहस्य को समझते भी हैं। हम सामान्य मनुष्य क्या जाने कि, बाहिर क्या है ?, और भीतर क्या है ?। उनमें संज्ञाभेद नहीं है, अपितु वे तो संज्ञा की प्रतिमूर्त्ति हैं।

३३२- विषयलोलुओं के विषयसुख का अनुभवक्षेत्र, एवं स्वानुभवैकगम्य अद्वैतात्मानन्द—

यह ठीक है कि, अस्मादादि विषयलोलुओं की भाँति उन्हें 'आनन्द' का अनुभव नहीं होता। और होना भी नहीं चाहिए। अनुभव का तो आगन्तुक आनन्द से ही सम्बन्ध है। 'हमें आनन्द का अनुभव होता है', इसका सीधा सा अर्थ है–'अभी हम दुःखी हैं। दुःखी को ही तो सुख का अनुभव होता है। भूखे मनुष्य को ही भोजन से तृप्ति का अनुभव होता है। जिसने बुद्धियोग के द्वारा तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करते हुए, बाहिर भीतर का भेद समझते हुए भेदवाद का परित्याग कर शाश्वत आनन्द प्राप्त कर लिया है, दूसरे शब्दों मे जो स्वयं आनन्दमूर्त्ति बन गया है, उसे अनुभव क्यों होने लगा ?। क्यों उसकी शान्तवृत्ति उत्तेजित होने लगी ?। और क्यों नास्तिक लोग उसकी इस चरमा स्थिति का रहस्य सम-झने लगे ?। इति सर्वमेव समन्वितम्।

३३३–अद्वैतानन्दप्रवर्त्तिका 'सर्वोङ्कारोपासना' का संस्मरण—

तात्पर्य्य यही हुआ कि, आत्मकाममूलक, किंवा अकाममूलक, अद्वैतदर्शनानुगत, द्वैतवर्त्तनानुगत, अधिकारसिद्ध कर्त्तव्यकर्म्मानन्यतालक्षण बुद्धियोगात्मक मार्ग ही निर्गुण–अव्ययोपासना कहलाती है। एवं इसे ही हमने "सर्वोङ्कारोपासना" कहा है।

३३४–'समदर्शिनः', और–'विषमवर्त्तिनः' का स्वरूप-समन्वय—

"उस स्थिति पर पहुँचने के अनन्तर ब्राह्मण अब्राह्मण होजाता है" इसका तात्पर्य्य यही है कि,—ब्राह्मणत्व का अभिमान नहीं रहता। आत्मदृष्ट्या सब एक धरातल पर आजाते हैं। यही कारण है कि, जहाँ जहाँ भगवान् ने द्वन्द्वातीत इस योग का उपदेश दिया है, वहाँ वहाँ—"पण्डिताः समदर्शिनः (न तु समवर्त्तिनः)"—"समं पश्यन् हि सर्वत्र" (न तु वर्त्तयन्)–"तत्त्वदर्शिनः" इत्यादि रूप से समदर्शनभाव के अभेद का ही स्पष्टीकरण किया है।

३३५–व्यावहारिक, प्रकृतिसिद्ध भेदवाद का स्वरूप–समन्वय—

परमार्थकोटि को जाने दीजिए। व्यवहार में भी सर्वत्र एक आत्मा समझते हुए भी हमें पिता-पुत्र-भ्राता-स्त्री-कन्या-माता-सेवक-आदि का भेद मानना ही पड़ता है। एवं सब के साथ भिन्न भिन्न ही व्यवहार

किए जाते हैं। प्रकृति के रहस्यपूर्ण सिद्धान्तों से सर्वथैव पराङ्मुख, अतएव वर्णभेदमूलक वर्त्तनभेद के अन्यतम शत्रुओं से हम पूँछते हैं कि, क्या आप इस भेदव्यवहार को हटा सकेंगे ?। यदि हाँ, तो **कोई नेता, कोई सामान्य सभ्य,** यह भेद क्यों ?। दीजिए न सबको समान आसन ?।

३३६-ऐन्द्रियक-व्यापार भेदनिबन्धन व्यावहारिक-भेद का समन्वय—

हम देखते हैं कि, **आँख-कान-नाक-मुख** सब में वह एक ही आत्मप्रत्यय काम कर रहा है। परन्तु क्या आँख का काम कान से, कान का नाक से, नाक का मुख से लिया जासकता है ?। आपको मानना पड़ेगा कि, समदर्शनमूलक भेदवर्त्तन ही प्रकृति का स्वाभाविक नियम है। और यही वास्तविकी बुद्धियोग-निष्ठा है।

३३७-अद्वैतनिष्ठ भगवान् वासुदेव कृष्ण के द्वारा प्रकृतिभेदनिबन्धन भेदव्यवहारों का अनुगमन—

रही बात उन अद्वैतवादियों की, जो इस मार्ग को कर्म्मत्यागपरक मानने का दुःसाहस करते हैं, उनके समाधान के लिए '**कृष्णवर्त्तन**' ही पर्य्याप्त है। भगवान् कृष्ण अद्वैततत्त्व के अन्यतम उपासक थे। साक्षात् अद्वैत की प्रतिमा थे। आत्मकाम थे, आप्तकाम थे। परन्तु-"**नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि**" यही उनका लक्ष्य था। अद्वैत के इस महान् शिक्षकने किसप्रकार अधिकारसिद्ध कर्म्म का स्वयं भी पालन किया, एवं दूसरों को भी उस ओर प्रेरित किया, इस सम्बन्ध में कुछ भी वक्तव्य शेष नहीं है।

३३८-क्रियायोगात्मिका भक्ति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

"क्रियायोगात्मिका भक्ति" का तात्पर्य्य है-अपने आप को अक्षरमूर्ति षोडशी ईश्वर का अंश मानते हुए, दोनों का अभेद समझते हुए, "**योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्**" यह भावना रखते हुए अपनी (अंशरूप जीवात्मा की, शारीरक-आत्मा की) कामना को ईश्वरकामना के साथ समन्वित करते हुए निष्कामभाव से अधिकारसिद्ध कर्म्म में प्रवृत्त रहना"।

३३९-कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका वास्तविक-भक्ति, एवं नामसंस्मरणपथ की आपातरमणीयता—

इस **भक्तिरूपा सगुणोपासना** में अश्वत्थमूर्ति ईश्वर का अक्षरधिया नित्य स्मरण (नित्यलक्ष्य) अपेक्षित है। भक्त का यह कर्त्तव्य होगा कि, अपने प्रत्येक कर्म्म के उपक्रम में वह उस ईशसत्ता का, ईशकामना का, ईशप्रेरणा का ही अनुभव करे। **यहाँ स्मरण से "हरे राम हरे कृष्ण" यह नाम स्मरण अपेक्षित नहीं है।** कर्त्तव्यनिष्ठ के लिए तो कर्म्म हीं साक्षात् ईश्वर है। वह ईश्वरानुभूति के द्वारा अक्षर को लक्ष्य बनाता हुआ सदा अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा पर ही आस्था-श्रद्धा-पूर्वक प्रतिष्ठित रहेगा।

३४०-'योगात्मिका' भक्ति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

उस '**ईश्वरानुभूति**' के दो मार्ग है। **एक मार्ग लोकसंग्रह का विरोधी है, एवं दूसरा मार्ग लोकसंग्रह का अनुगामी है।** अधिकारी-भेद से भगवान् ने दोनों का ही समर्थन किया है। योग-

प्रक्रिया के द्वारा कायशुद्धि–पूर्वक धारणा--ध्यान समाधि, तीनों का एकत्र संयम करते हुए अपने मन को अन्तर्मुख बनाकर प्रत्यगात्मलक्षण ईश्वर में लीन कर देना एक प्रकार की योगात्मिका भक्ति है। मन्त्र--हठ-लय, योग के ये तीन अङ्ग इसी भक्ति में अन्तर्भूत हैं।

३४१–'राजयोगात्मिका' भक्ति का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

दूसरा मार्ग है–'कायक्लेशात्मक किसी योगमार्ग का अनुगमन न करते हुए अपनी बुद्धि, मन, इन्द्रियवर्ग, सबको अपने जीवात्मा की कामना से पृथक् समझते हुए ईश्वरकामना से इनका सञ्चालन मानते हुए कर्त्तव्यकर्म्मों में प्रवृत रहना'। यही राजयोगात्मक राजपथ (सरलमार्ग) है। यहाँ का ईश्वर उद्गीथोङ्कारानुभूति-लक्षण है। निम्न लिखित गीतावचनों से दोनों मार्गों का समर्थन गतार्थ बन जाता है —

३४२—(१)—मन्त्र-हठ-लय-योगात्मक भक्तिमार्ग (योगमार्ग)—

१-योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥
–गीता ६।१०।

२-तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
–गीता ६।११।

३—समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
४—प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः॥
५—युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥
—गीता० ६।१३,१४,१५।

१

——❋❋——

३४३-(२)-राजयोगात्मक भक्तिमार्ग (भक्तिमार्ग)—

१—मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्-परायणः ॥
—गीता १८।६५।

२—अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
—गीता १०।८।

३—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
—गीता १०।१०।

४—संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पित-मनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥
—गीता १२।१४।

५—य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥
—गीता १३।१३।

२

—-**—-

३४४—बृहदारण्यकोपनिषन्मूला उपासना का स्वरूप–दिग्दर्शन–

१—"स वा अयमात्मा (षोडशी) सर्वेषां भूतानामधिपतिः, सर्वेषां भूतानां राजा । तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिताः, एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वे प्राणाः, सर्वे लोकाः, सर्वे देवाः, सर्वाणि भूतानि, सर्वऽएतऽआत्मनः समर्पिताः" ।

२—"पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः ऽपुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्–इति । स वाऽअयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः । नैनेन किं चनानावृतम् , नैनेन किं चनानावृतम्" ।

३—स वा अयमात्मा ब्रह्म * । विज्ञानमयो मनोमयो वाङ्मयः-प्राणमयश्चक्षु-र्म्मयः श्रोत्रमय आकाशमयो वायुमयस्तेजोमय आपोमयः पृथिवीमयः क्रोधमयोऽक्रोध-मयो हर्षमयोऽहर्षमयो धर्म्ममयोऽधर्म्ममयः सर्वमयः । तद्यदेदंमयोऽदोमय इति यथाकारी, यथाचारी तथा भवति । साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो-भवति । पुण्यः पुण्येन कर्म्मणा भवति, पापः पापेन । अथो खल्वाहुः-काममय एवायं पुरुष इति ; तदेष श्लोको भवति--

४—यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
यदैतदनु पश्यति आत्मानं देवमञ्जसा ।
"ईशानं" भूतभव्यस्य न तदा विचिकित्सति ॥
यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेव मन्यऽआत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥
विरजः पर आकाशादज आत्मा महा ध्रुवः ।
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥

५—तस्मादेवंवित् शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वात्मान्येवात्मानं पश्येत् । सर्वमेनं पश्यति । सर्वोऽस्यात्मा भवति, सर्वस्यात्मा भवति, सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तपति, नैनं पाप्मा तपति । विपापो विजरो विजि-घत्सोऽपिपासो ब्राह्मणो भवति, ए एवं वेद" । ÷

इति-"युगधर्म्मानुगता-विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"वेदयुगानुगता-सगुणोपासना"

नामक

द्वितीय-अवान्तर-प्रकरण उपरत

२

-----**----

* अव्ययस्तु-"एतदमृतम्" (बृ. आ. उप.) अनया-श्रुत्या अमृतम् । षोडशीपुरुषस्तु "ब्रह्म" ।

÷ प्रस्तुत-प्रकरण में प्रतिपादित उपासनाओं का प्रतिरूपविधा से भी सम्बन्ध माना जासकता है, जिस प्रतिरूप विधा का भक्तियोगपरिक्षा-उत्तरखण्डान्तर्गत "उपासनाभेदनिर्वचन" नामक प्रकरण के 'प्रतिरूपविधा' नामक परिच्छेद में प्रतिपादन हुआ है ।

श्री:

(३)-पुराणयुगानुगता-सविकारोपासना से अनुप्राणित-पारिभाषिक परिलेख—

"विकारक्षरोपासना"-(यज्ञप्रजापतिः--उपेश्वरः)

कर्म्मानुगतं-कर्म्म-एव-उपासना-क्रियात्मिका (शुक्रम्)
सविकारोपासना-उपेश्वरोपासना-अर्थात्मिका
वाङ्मयी-उपासना अर्थात्मिका

—*—

सोऽयं विकारः-क्षरः { १-वाक्—सत्यः; २-आपः- } यज्ञः; ३-अग्निः } यज्ञः } 'आत्मक्षरः'-तदिदं-क्षरविवर्त्तम्--वागविवर्त्तमेव

स एव-अर्थात्मकेन-कर्म्मणा अन्वेष्टव्यः

—*—

'अन्वेषणं'-नाम-शुक्रस्वरूपमीमांसनम्
तत्पर्य्यालोचनं वा
सैषा-अर्थात्मिका-उपासना-कर्म्मैव
तृतीया

३

—★—

(सोऽयं--पुराणयुगः--तृतीयः--त्रेतायुगात्मकः)

१-शुक्रम्
२-आत्मक्षरः
३-अर्थः
४--वाक्(अमृतशुक्रमयी

}--तदेतत्सर्वं--वागेव, आत्मक्षर--एव सविकारः
"विकारांश्च विद्धि प्रकृतिसम्भवान्"
(विकृतिर्हि-आत्मक्षरः)

—*—

श्री:

पुराणयुगानुगत-सविकारोपासनामार्ग

चतुर्थ-प्रकरणान्तर्गत-तृतीय-अवान्तर-प्रकरण

३

३४५-'नर्म्मदाकङ्करात्मक-शङ्कर'-न्यायानुबन्धी भक्तिपथ की सर्वव्यापकता, एवं उपासनात्मिका भक्ति के चार--विवर्त्तों का संस्मरण—

"नर्म्मदा के सभी कङ्कर शङ्कर" इस लोकोक्ति के अनुसार षोडशी-प्रजापति के सभी पर्व तद्रूप, अतएव उपास्य, इस सिद्धान्त में कोई विप्रतिपत्ति नहीं की जासकती। पूर्वप्रकरण में पुराणयुगानुगता उपासना के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, आत्मक्षर से सम्बन्ध रखने वाली यह उपासना कर्म्म-रूपा, किंवा धर्म्मयोगात्मिका ही है। एवं वहीं यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, इस उपासनाकाण्ड के निष्कामयज्ञकर्म्मोपासना, नैष्कर्म्यकर्म्मोपासना, आधिकारिक-चेतनजीवोपासना (अवतारोपासना), आधिकारिक--अचेतनजीवोपासना (सूर्य्य--चन्द्रादि--प्रकृतिपर्वोपासना), ये चार विवर्त्त हैं। दूसरे शब्दों में--कर्म्मप्रधान आत्मक्षरमूर्त्ति विकार-परिग्रह--युक्त यज्ञप्रजापति की उपासना चार प्रकार से होसकती है।

३४६-परमप्रजापत्युपासनात्मिका प्रणवोङ्कारमूला उपासना, एवं प्रजापति के बल्शात्मक स्वरूप का संस्मरण—

इस उपासना का मूल धरातल 'प्रणवोङ्कार' है, जैसाकि पूर्वप्रकरण के उपसंहार में स्पष्ट किया जाचुका है। विज्ञानदृष्टि के अनुसार इस उपासना को "परमप्रजापत्युपासना" भी कहा जासकता है। षोडशीपुरुष को हमनें 'अश्वत्थ' कहा है। इस अश्वत्थपुरुष को ही 'मायी ईश्वर' कहा जाता है। इस की एकसहस्र बल्शा मानीं गई हैं। वही प्राजापत्यबल्शा 'पञ्चपुण्डीरा" कहलाती है। इसकी एक एक बल्शा में स्वयम्भू--परमेष्ठी--सूर्य्य--पृथिवी--चन्द्रमा, ये पाँच पाँच पुण्डीर (पर्व) हैं। इस दृष्टि से उस से उद्गीथोङ्कारमूर्त्ति ईश्वर प्रजापति के शरीर में ऐसी पञ्चपुण्डीरात्मिका सहस्र संस्थाएँ होजाती हैं।

३४७-सहस्रवल्शेश्वरानुगता षोडशीपुरुषोपासना, एवं एकवल्शेश्वरानुगता यज्ञपुरुषोपासना—

सहस्र-बल्शात्मक अश्वत्थेश्वर की उपासना षोडशी प्रजापति की उपासना कहलाएगी, एवं पञ्चपुण्डीरात्मक बल्शाप्रजापति की उपासना यज्ञप्रजापति की उपासना कहलाएगी। सम्पूर्ण अश्वत्थ,

एवं अश्वत्थ की एक शाखा, यही भेद इन दोनों उपासनाओं का मौलिक भेद । इस दृष्टि से महामायामय अश्वत्थेश्वर महेश्वर कहलाएगा, योगमायामय वल्शेश्वर उपेश्वर कहलाएगा, एवं उपेश्वरोपासना ही यज्ञोपासना कहलाएगी ।

३४८–सप्तवितस्तिकायात्मक–एकवल्शेश्वरात्मक–उपेश्वरप्रजापति से अनुप्राणिता पौराणिकी उपासना—

यही उपेश्वर पुराणों में 'सप्तवितस्तिकाय' नाम से प्रसिद्ध है । यही एक ब्रह्माण्ड है । अश्वत्थेश्वर में ऐसे ऐसे सहस्र ब्रह्माण्ड, किंवा सहस्र उपेश्वर हैं—(जा के रोम कोटि ब्रह्मण्डा) । श्रुति में जिन इन ब्रह्माण्डों का सूत्ररूप से निरूपण हुआ है, पुराणने बड़े विस्तार के साथ इन का स्वरूप–विश्लेषण किया है । पुराण का सृष्टिक्रम प्रधानरूप से अव्यक्त स्वयम्भू से ही आरम्भ होता है । इसीलिए इस उपासना को हमने पौराणिक उपासना कहा है ।

३४९–यज्ञकर्म्मोपासना, आत्मकर्म्मोपासना, अवतारोपासना, प्रकृतिपर्वोपासना–चतुष्टयी का संस्मरण—

इस का यह तात्पर्य्य नहीं है कि, श्रुति में यज्ञप्रजापति की उपासना का विधान न हीं है । है, और और अवश्य है, जैसाकि पूर्व प्रकरण में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है । वेद का ब्राह्मणभाग ही इस यज्ञोपासना का समर्थक है । साथ ही स्वयं वेद ने भी यज्ञोपासना के उक्त चारों विवर्त्तों का भलीभाँति स्पष्टीकरण कर दिया है । यज्ञकर्म्म–आत्मकर्म्म–अवतारोपासना–प्रकृतिपर्वोपासना, चारों का ही वहाँ विशदरूप से निरूपण हुआ है । इन चारों में अवतारोपासना में थोड़ी विशेषता है ।

३५०–प्राकृतिक, मानुष, एवं उभय-विध अवतारों का नाम–स्मरण—

अवतार प्राकृतिक, एवं मानव, भेद से दो भागों में विभक्त हैं । एवं कुछ अवतार ऐसे भी हैं, जो प्राकृतिक भी है, तथा मानुष भी हैं । कूर्म्म–वराह–वामनादि अवतारों का स्वयं वेद में बड़े विस्तार के साथ निरूपण हुआ है । एवं इन के मानुषभावों का, तथा रामकृष्णादि विशुद्ध मानुष अवतारों का पुराण में उपबृंहण हुआ है । हाँ, तो पहिले हमें यह देखना है । कि, वेदने इन चारों उपासनापर्वों का किन शब्दों में अभिनय किया है ?।

३५१–पुराणानुगत आक्षेप, और तन्निराकरण–प्रयास—

पौराणिक चारों पर्व सुप्रसिद्ध हैं । एवं तत्तत् पुराण ही इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए पर्य्याप्त हैं । आक्षेप है पुराण की प्रामाणिकता पर । इसीलिए इस प्रकरण में प्रधानरूप से उन आक्षेपों का निराकरण कर पुराण की प्रामाणिकता सिद्ध कर देना ही मुख्य निरूपणार्थ माना जायगा ।

३५२–विश्व की अव्यक्तावस्था, तदनुप्राणिता प्रथमा स्थिति, एवं अव्यक्त-स्वयम्भू-प्रजापति के काम–तपः–श्रम से 'सुवेदात्मक' 'स्वेद–वेद' का आविर्भाव—

जब संसार में कुछ न था, अथवा संसार कुछ न था, तो उस समय केवल अव्यक्त स्वयम्भू ही विद्यमान थे । उन्होंने देखा कि, अपन एकाकी रमण नहीं कर सकते । इस रमणभाव के लिए अपन अपने जैसा

ही कोई दूसरा और उत्पन्न करूँ। इसी कामना से प्रेरित होकर स्वयम्भू ने तप, एवं श्रम किया। इस परिश्रम और श्रम से प्रजापति के ललाट पर पसीने निकल आए। यही पसीना आगे जाकर स्वेदवेद कहलाता हुआ 'स्वेदवेद' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही भृग्वङ्गिरोमय आपोलोक कहलाया।

३५३–आपोमय परमेष्ठी से अनुप्राणित जाया–धारा–आपः–बलत्रयी की अभिव्यक्ति—

आगे जाकर प्रजापति की कामना से इस द्वितीयरूप आपोमय परमेष्ठी में जाया–धारा–आपः, इन तीन बलों का विकास हुआ। 'जायाबल' से परमेष्ठी प्रजापति सब के 'जनक' बने। 'धाराबल' से सब को 'धारण करने वाले' बने। एवं 'आपोबल' से सर्वत्र 'आप्त (व्याप्त)' होगए। (गोपथ० ब्रा० पू० १।१।)।

३५४–स्वयम्भू की द्वितीया प्रतिमा, इरामय 'सरिर' तत्त्व की सलिलता, एवं श्वेतवराह के द्वारा हिरण्मयाण्ड का आविर्भाव—

परमेष्ठी के अङ्गिराभाग से आगे जाकर 'हिरण्मयाण्ड' का विकास हुआ। यही हिरण्मयाण्ड पुञ्जीभूत अवस्था में आकर कालान्तर में 'सूर्य्य' रूपसे प्रकट हिरण्मयाण्ड हुआ, यही उस स्वयम्भू–प्रजापति की दूसरी 'प्रतिमा' कहलाई। यही सूर्य्य विश्वान्धकार को निवृत्त करने वाला प्रमाणित हुआ—"प्रादुरासीत्तमोनुदः"। आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में बुद्बुद्रूप से उत्पन्न सूर्य्य का अङ्गिरोऽग्नि आरम्भ में ऋतरूप होने से 'इरामय' बनता हुआ 'सरिर', किंवा 'सलिल' रूप ही था। परन्तु श्वेतवराहवायु के संवरण से क्रमशः घन भाव को प्राप्त होते हुए ये ऋताग्निकण अण्डरूप में परिणत होगए। यही हिरण्मयाण्डलक्षण, सौरब्रह्माण्ड, किंवा सौर जगत् कहलाया। विज्ञानभाषा में इसे ही-'सम्वत्सर' कहा गया। सर्वत्सरभाव के कारण ही यह सम्वत्सर कहलाया।

३५५–वसुधानकोशात्मक दहरोत्तरसम्बन्ध से समन्वित पञ्चोपेश्वरमूर्त्ति एकवल्शेश्वर-प्रजापति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

इस सम्वत्सरात्मक सौर प्रजापति के काम–तपः–श्रम से आगे जाकर अस्त्वण्डलक्षणा पृथिवी का विकास हुआ। गायत्रात्राग्निमयी यही पृथिवी उस स्वयम्भू प्रजापति की तीसरी प्रतिमा कहलाई। आगे जाकर पार्थिव सम्वत्सर के प्रवर्ग्यरूप आत्रेयभाग से यशोऽण्डरूप चान्द्रमण्डल का विकास हुआ। यही उस की चौथी प्रतिमा कहलाई। इसप्रकार प्राणाक्षरात्मक स्वयम्भू प्रजापति के ही मौलिक काम तपः श्रम से क्रमशः आपोमय परमेष्ठी, वाङ्मय सूर्य्य, अन्नादमयी पृथिवी, अन्नमय चन्द्रमा, दूसरे शब्दों में परमेष्ठी-इन्द्र–अग्नि–सोम, ये चार प्रतिमाप्रजापति उत्पन्न होगए। इन पाँचों प्रजापतियों का परस्पर वसुधानकोशात्मक दहरोत्तरसम्बन्ध स्थापित हुआ। अर्थात् स्वयम्भू की महिमा में परमेष्ठी, इस की महिमा में सूर्य्य, इस की महिमा में पृथिवी, एवं पार्थिव महिमामण्डल में समहिम चन्द्रमा प्रतिष्ठित हुआ। इन पाँचों के ये महिमामण्डल विज्ञानभाषा में क्रमशः–परमाकाश (स्वायम्भुव), महासमुद्र (पारमेष्ठ्य), सम्वत्सर (सौर), क्रन्द (पार्थिव), नक्षत्र (चान्द्र), इन नामों से सिद्ध हुए।

३५६–स्वयम्भूप्रजापति की चार प्रतिमाएँ, तदनुगत विश्वसम्पत्तिसंग्राहक–'सर्वहुतयज्ञ', एवं स्वयम्भू–प्रजापति की निर्लेपता—

स्वयम्भूने चार 'प्रतिमाएँ' उत्पन्न तो करलीं। परन्तु अभी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। अभी वे पूर्णभाव को प्राप्त नहीं होसके। इस पूर्णभाव की प्राप्ति के लिए उन्होंने **"सर्वमेध"** नामक **"विश्वजित्"** यज्ञ आवश्यक समझा, जो कि यज्ञ आगे जाकर **'सर्वहुत'** नाम से प्रसिद्ध हुआ। उन्होंनें पहिले अपने आप को इन चारों पर्वों में आहुत कर दिया। इस आत्माहुति का परिणाम यह हुआ कि, ये चारों इस में आहुत होगए। इस पारस्परिकी सर्वाहुति से जो एक सर्वरूप अपूर्व **'विश्वयज्ञ'** प्रकट हुआ, वही **"सर्वमेध'–'विश्वजित'–'सर्वहुत'** यज्ञ कहलाया। एवं इसी यज्ञ के प्रभाव से स्वयम्भू सब का आत्मा बन गया, एवं सब इस के आत्मा बन गए। इसी पारस्परिक सद्भाव से पञ्चमूर्त्ति बने हुए स्वयम्भूने यह विश्ववैभव प्राप्त कर लिया। क्योंकि स्वयम्भूने आत्मसमर्पण–पूर्वक ही यह विश्वविभूति प्राप्त की है, इस में उन का वैय्यंक्तिक स्वार्थ नही है, अतएव इसके भोक्ता बनते हुए भी स्वयम्भू निर्लेप है।

३५७–निष्कामभावमूला आत्मसमर्पणात्मिका यज्ञप्रक्रिया, तन्निबन्धन अबन्धन–कर्म्म, एवं यज्ञोपासना का इष्टकामधुक्त्व —

उन्हीं **आदिप्रजापति** की ओर से तदंशभूत हमें यह आदेश प्राप्त हुआ कि 'यदि तुम विश्ववैभव प्राप्त करना चाहते हो, साथही निर्लेप भी रहना चाहते, तो अपने वैय्यक्तिक स्वार्थ को छोड़ते हुए **'लोकयज्ञ'** की सिद्धि के लिए (**सर्वभूतहितरति** को प्रधान लक्ष्य बनाते हुए) निष्कामभाव से ही अपने आपको **लोकाग्नि** में आहुत करदो। तुह्मारी इस आत्माहुति से लोक तुममें आहुत होजायँगे। विश्ववैभव प्राप्त होजायगा। इसप्रकार **निष्कामभावमूला–आत्मसर्पणलक्षणा मेरी यह यज्ञप्रक्रिया** तुह्मारे लिए **"इष्टकामधुक्"** बन जायगी। और यही उपासना यज्ञेश्वर की सच्ची उपासना कहलाएगी। तुम्हें चाहिए कि, वेदोक्त यज्ञकर्म्म का इसी समर्पणभाव से अनुष्ठान करो। इसी श्रौत आदेश का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

—गीता

३५८–सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति परमप्रजापति से अनुप्राणिता यज्ञोपासना, एवं यज्ञकर्म्मों का प्रधानत्व—

पाठकों को स्मरण होगा कि, यज्ञप्रापति से सम्बन्ध रखने वाली इन चार उपासनाओं में से हमनें **'यज्ञोपासना'** को ही सर्वोत्तम बतलाया था। कारण इस का यही है कि, इस उपासना का प्रधान लक्ष्य **सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति वह परमप्रजापति है**, जिसके कि **परमाकाशात्मक महिमामण्डल** परमेष्ठी आदि–चारों प्रतिमाप्रजापति प्रतिष्ठित हैं। परमभावोपासना ही इस का लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में विश्वाभ्युदय ही

इस उपासना का मूल धरातल है, और यही इसकी सर्वोत्तमता है। इस उपासना में, और पूर्व की ईश्वरोपासना में थोड़ा ही अन्तर रह जाता है। वहाँ यज्ञकर्म्म में अभिनिवेश नहीं है, वहाँ सभी कर्म्म यज्ञात्मक है। **परन्तु इस उपासना में वेदोक्त (ब्राह्मणोक्त) यज्ञकर्म्म ही प्रधान लक्ष्य है।**

३५९–भक्त नृपतियों की यज्ञेश्वरोपासना, एवं कर्म्मठ-ब्राह्मणों यज्ञकर्म्मानुगति का समतुलन, एवं तन्निबन्धना विभिन्ना उपासना—

इसीलिए उसके प्रधान अनुयायी **भक्त नृपतिगण** बनते हैं, एवं इसके प्रधान-अनुयायी **कर्म्मठ ब्राह्मण** बनते हैं। **सन्ध्योपासना, बलिवैश्वदेव, तर्पण, स्वाध्याय,** आदि अवान्तर जितने भी यज्ञ हैं, वे सब इसी यज्ञोपासना में अन्तर्भूत हैं। इन सब अवान्तर यज्ञों की उपासना का मौलिक रहस्य गीताभाष्य में स्पष्ट होने वाला है। इस उपासना के सम्बन्ध में यह तो सदा लक्ष्य में रखना ही चाहिए कि, **यदि निष्कामभाव है, तो यज्ञोपासना है, तभी सर्वहुतयज्ञ की सिद्धि है।** यदि सकामभाव है, तो यह उपासना यज्ञोपासना न रह कर **भूतोपासना** बन जाती है, और वह काममयी यज्ञोपासना त्रिगुणात्मिका बनती हुई द्वन्द्वमूलक शोक का ही कारण बन जाती है। साथ ही भगवान् भी इसे निकृष्ट ही समझते हैं–**"निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !"**।

३६०–कामजनिता त्रुटि का सन्धाता प्रणवोङ्कार, एवं ओङ्कारमूला–उपासना का स्वरूप-समन्वय—

निष्कामभाव भी यद्यपि **निस्त्रैगुण्य** की प्राप्ति के लिए एक साधन है। परन्तु केवल इसी साधन से काम नहीं चलसकता। निर्बल भूतात्मा में कामभाव का समावेश सर्वथा रोक दिया जाय, यह असम्भव–प्राय ही है। इसके लिए हमें अवश्य ही किसी अन्य **'भक्तिबल'** का ही आश्रय लेना पड़ेगा, और वह आश्रयभूमि बनेगा वही **प्रणवोङ्कार**। प्रणवोङ्कार को मूलमें रखते हुए निष्कामभाव से यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त रहने वाला यदि स्वाभाविक कामाकर्षण से कभी कामभाव का अनुगामी बन भी जायगा, तो पूर्ण ओङ्कार इस त्रुटि को सँभाल लेगा, जैसाकि पूर्वमें स्पष्ट किया जाचुका है। (देखिए कर्म्मयोगपरीक्षाखण्ड पृष्ठ सं० २९८ से ३०४ पर्य्यन्त)।

३६१–अविच्छिन्न–प्रणवधरातल के द्वारा यज्ञविच्छेद का सन्धान, एवं विशिष्टसन्धाता प्रणवोङ्कारप्रजापति—

अविच्छिन्न प्रणवधरातल पर प्रतिष्ठित कर्म्म कामसमावेश से छिन्न बना हुआ भी अवश्य ही अविच्छिन्न बन जाता है। इसलिए **ओङ्काररूप परमप्रजापति** का सतत अनुध्यान करते हुए, उपक्रमोपसंहार में प्रणवोच्चारण करके ही यज्ञादि कर्म्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए। यही तीसरी **प्रणवोङ्कारोपासना यज्ञेश्वरोपासना,** किंवा **उपेश्वरोपासना** कहलाएगी। **प्रणवेश्वर** ही शोकभावविमुक्ति के कारण बनेंगे, जैसाकि निम्नलिखित गोपथश्रुति से स्पष्ट है—

"चतुर्णां वेदानामानुपूर्व्येण–"ओं–भूर्भुवः स्वः" इति व्याहृतयः। असमीक्ष्य–प्रवह्लितानि श्रूयन्ते + + +। तस्मादृग्यजुः सामान्यपक्रान्ततेजांस्यासन्। तत्र महर्षयः

परिदेवयाञ्चक्रिरे–महच्छोकभयं प्राप्तास्मः । न चैतत् सर्वैः समभिहितम् । ते वयं भगवन्तमेवोपधावामः । सर्वेषामेव शर्म्म भवान् ! इति । ते तपत्युक्त्वा तूष्णीमतिष्ठन् । + + + । स एभ्य उमनीय प्रोवाच--मामिकामेव व्याहृतिमादितः, आदितः, कृणुध्वम् । × × × । तथाह तथाह भगवन्निति प्रपेदिरे । आप्याययंन्ते, तथा वीतशोकभया बभूवुः । तस्माद् ब्रह्मवादिन ओङ्कारमादितः कुर्वन्ति" * ।

—गोपथब्राह्मण पूर्व० १।२८।

३६२–प्रणवोङ्कारप्रजापति की तीन महाव्याहृतियों का संस्मरण, एवं प्रणव की प्रणवता–

अब इस सम्बन्ध में प्रश्न यह शेष रह जाता है कि, जिसप्रकार **सर्वमूलक आनन्द–विज्ञान–मनोमय अव्ययोङ्कार** को **सर्वोङ्कार** कहा जाता है, उत्–गी–थम्–रूप अक्षरात्मक षोडशीप्रजापति को **उद्गीथोङ्कार** कहा जाता है, वैसे आत्मक्षरमूर्त्ति यज्ञप्रजापति को (उपेश्वर को–प्रतिमाप्रजापति गर्भित सर्वहुत यज्ञमूर्त्ति परमप्रजापतिलक्षण स्वयम्भूप्रजापति को) किस हेतु से **'प्रणवोङ्कार'** कहा जाता है ? । उत्तर–पूर्वोक्ता व्याहृति से ही स्पष्ट है । व्याहृति का स्वरूप है—**ओं भूर्भुवः स्वः** ।

३६३–महाव्याहृतित्रयीमूलक त्रिवृद्भावापन्न–नवलोकात्मक–त्रैलोक्य का स्वरूप–समन्वय—

सन्ध्या से परिचित द्विजाति पाठक यह जानते हैं कि, "भूः–भुवः–स्वः–महः–जनत्–तपः सत्यम्" इन सात लोकों को प्रजापति की **सप्त व्याहृति (नाम)** माना जाता है, एवं स्वयं प्रजापति इस सप्तक के **ऋषि (मूलाधार प्राण)** माने गए हैं-**(सप्तव्याहृतीनां-प्रजापतिर्ऋषिः)** । **'त्रैलोक्य-त्रिलोकी-विज्ञान'** के अनुसार ये सातों लोक भूः–भुवः–स्वः इन तीन महाव्याहृतियों में हीं अन्तर्भूत हैं । **"त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः"** इस ब्राह्मणश्रुति के अनुसार ये तीनों हीं लोक त्रिवृद्भाव के कारण तीन तीन भावोंमें विभक्त हैं । इसी दृष्टि से **तीन माता (पृथिवी–भूः) तीन पिता (द्यौ–स्वः)** होजाते हैं, जैसाकि **'तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन्०"** इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । एवं **"द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृडतानः"** ÷ के अनुसार **पृथिवी को माता कहा जाता है, एवं द्यु पिता नाम से प्रसिद्ध है** ।

---

* **तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।**
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

—गीता ७।२४।

÷ **द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुग्ने भ्रातर्वसवो मृडता नः ।**
विश्व अदित्या आदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म्म बहुलं वि यन्त ॥

—ऋक्सं० ६।५१।५।

३६४-त्रैलोक्य-त्रिलोकी-रूपा संयती, क्रन्द्रसी, रोदसी-नाम की महात्रिलोकी का संस्मरण—

जिस पर हम प्रतिष्ठित हैं, वह 'भू' है, सूर्य्य स्व, है, मध्यप्रदेश भुवः है, ये ही क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः हैं। यही पहिली रोदसी त्रिलोकी है। पृथिवी-चान्द्र-अन्तरिक्षगर्भित सौर मण्डल भू है, परमेष्ठी स्वः है, मध्यप्रदेश भुवः है, यही दूसरी क्रन्दसी त्रिलोकी है। पृथिवी-चन्द्र-सूर्य्य-अन्तरिक्ष गर्भित परमेष्ठी भूः है, स्वयम्भू स्वः है, मध्यप्रदेश भुवः है। यही तीसरी संयती-त्रिलोकी है।

३६५-नवलोकानुगता सप्तलोकविभूति का तालिका-माध्यम से स्वरूप-समन्वय—

इस दृष्टि से यद्यपि तीनों त्रिलोकियों के ९ लोक होनें चाहिएँ थे। परन्तु क्रन्दसी का भूलोक रोदसी बन जाता है, संयती का भूलोक क्रन्दसी बन जाता है। अतः ९ के स्थान में सात ही लोक रहजाते है। यही सप्तवितस्तिकायात्मक स्वयम्भू प्रजापति, किंवा यज्ञेश्वरप्रजापति, किंवा उपेश्वरप्रजापति है। परिलेख से इस लोकविभूति का भलीभाँति स्पष्टीकरण होजाता है।

तेजोमयः स्वः—
- ३–स्वः (तेजः-द्यौः ... स्वयम्भूः–आकाशः
- २–भुवः (आपः-अन्तरिक्षम्)-सूत्रवायुः *
- १–भूः (अन्नम्–पृथिवी) .... *

— संयतीत्रिलोकी–"स्वः"

अब्मयो भुवः— ....

- ३–स्व (तेजः–द्यौः) .... परमेष्ठी-वायुः
- २–भुवः (आपः–अन्तरिक्षम्)-शिववायुः--वायुः
- १–भूः (अन्नम्–पृथिवी) .... *

–क्रन्दसीत्रिलोकी "भुवः"

अन्नमयो भूः— ....

- ३–स्वः (तेजः-द्यौः) .... तेजः
- २–भुवः(आपः-अ०)रुद्रवायुश्चन्द्रश्च जलम्
- १–भूः (अन्नम्-पृ०) पृथिवी .... पृथिवी

— रोदसी त्रिलोकी "भूः"

द्यौः ३—
- ३–स्वः (द्यौः) [३] .... सत्यम् (७)
- २–भुवः (अन्त०) [३] .... तपः (६)
- १–भूः (पृ०) [३]

अन्तरिक्षम् २—
- ३–स्वः (द्यौः) [२] .... जनत् (५)
- २–भुवः (अन्त०) [२] .... महः (४)
- १–भूः (पृ०) [२]

पृथिवी १——
- ३–स्वः (द्यौः) [१] .... स्वः (३)
- २–भुवः (अन्त०) [१] .... भुवः (२)
- १–भूः (पृ०) [१] .... भूः (१)

सत्यम् (७), तपः (६), जनत् (५) — संयती–स्वः

जनत् (५), महः (४), स्वः (३) — क्रन्दसी भुवः

स्वः (३), भुवः (२), भूः (१) — रोदसी भूः

—"त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः"

"महाव्याहृतिरूपो यज्ञेश्वरप्रजापतिः"

३६६-सप्तवितस्तिकायात्मक-पञ्चोपेश्वरमूर्त्ति-एकवल्शेश्वर सर्वहुतयज्ञात्मक परम-प्रजापति के त्रेताग्नि का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं महर्षि दीर्घतमा के द्वारा तत्संस्तुति—

सप्तवितस्तिकायात्मक स्वयं प्रजापति इस सर्वहुत यज्ञ के यजमान हैं, स्वयं ही वे आहुतिद्रव्य हैं, स्वयं ही यज्ञवेदि हैं, स्वयं ही भूः-भुवः-स्वः रूप से यज्ञिय त्रेताग्नि हैं। उन्हीं का रोदसी-त्रिलोकीरूप "भूः" पर्व गार्हपत्याग्नि है, क्रन्दसी-त्रिलोकीरूप "भुवः" पर्व धिष्ण्याग्नि, किंवा अपणाग्नि है, एवं संयती-त्रिलोकीरूप "स्वः" पर्व आहवनीयाग्नि है। त्रेताग्नियज्ञ के विरिष्ट का संधान त्रयीमूर्त्ति उसी परमप्रजापति-धरातल (प्रणवधरातल) से होता रहता है। इसी संधान को यज्ञपरिभाषा में "यज्ञविरिष्ट-संधान" कहा जाता है। सप्तलोकात्मक यह विश्वयज्ञ उसी परमप्रजापति में अर्पित है, और वह इस में अर्पित है। इन का भार उस में, उस का भार इस में, इस समतुलन प्रक्रिया से वह नित्य श्रम करता हुआ भी, इस सप्तलोकात्मक विश्व का वहन करता हुआ भी (विश्वम्भर बनता हुआ भी) क्लान्त नहीं होता। महर्षि दीर्घतमाने इसी स्थिति का इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

१—त्रिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तथौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥
२—पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्य्यते सनाभिः॥
३—अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण।
कवीयमानः क इह प्रवोचद्देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्॥
४—ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्येपराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति॥
५—इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥

—ऋक्संहिता १।१६४।१०,१३,१८,१९,३५ वाँ मन्त्र,

३६७-दृष्टिभावनिबन्धना पृथिवी मूला-सृष्टिविद्या से अनुप्राणित प्रणवोङ्कार का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

दृष्टिमूलप्रधाना 'पृथिवीमूला सृष्टिविद्या' के अनुसार भूः उपक्रम में है, स्वः उपसंहार में है। (देखिए शत० ६।१।१।६।)। 'भूः' ओंकार का प्रस्ताव-स्थानीय पहिला 'म'-कार पर्व है। 'भुवः' 'उकार' स्थानीय दूसरा पर्व है। 'स्वः' 'अकार' स्थानीय तीसरा पर्व है। तीनों मृत्युमय पर्व उसी अर्द्धमात्रारूप अवारपारीण स्वयम्भू प्रजापति पर प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि इस ओङ्कार का

प्रस्ताव–स्थानीय 'भू' से उत्थान है, अतएव इसे "प्रणवोङ्कार" कहा जाता है। इसे लक्ष्य में रख कर निष्कामभाव से यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त रहना हीं गीता का निष्काम–कर्म्मयोग है। और यही यज्ञं श्वरोपासना का पहिला पर्व है।

३६८–प्रणवोङ्कार से समन्वित–'आत्मभैषज्ययज्ञ' का स्वरूप–दिग्दर्शन—

ओङ्कार के सम्बन्ध से क्रियमाण यह आधिभौतिक यज्ञ 'आत्मभैषज्य' यज्ञ बनता हुआ आध्यात्मिक यज्ञ बन जाता है। यही यज्ञार्थकर्म्म कहलाया है, इसी को भगवान् ने 'अबन्धनकर्म्म' कहा है। एवं श्रुति ने भी इसी पक्ष का समर्थन किया है—

"अध्यात्ममात्मभैषज्यमात्मकैवल्यमोङ्कारः। आत्मानं निरुध्य सङ्गममात्रीं भूतार्थ-चिन्तां चिन्तयेत्। अतिक्रम्य वेदेभ्यः- सर्वपरमाध्यात्मफलं प्राप्नोतीत्यर्थः। सवितर्क-ज्ञानमयम्। इत्येतैः प्रश्नैः प्रतिवचनैश्च यथार्थं पदमनविचिन्त्य प्रकरणज्ञो हि प्रबलो विषयी स्यात्"।

—गोपथब्राह्मण पू० १।३०।

३६९ गोपथ के द्वारा प्रणव की प्रणवता का समन्वय—

अन्त में उक्त सर्वमेध यज्ञ की प्रणवपूर्वता का स्पष्टीकरण करते हुए वेदभगवान् कहते हैं—

"स यदोंपूर्वान् मन्त्रान् प्रयुङ्क्ते, आसर्वमेधादेते क्रतव एत एवास्य सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु देवेषु, सर्वेषु वेदेषु, सर्वेषु भूतेषु, सर्वेषु सत्त्वेषु कामचारः कामविमोचनं भवति, अर्द्धं च न प्रमीयते–य एवं वेद"।

—गोपथब्राह्मण पू० १।३६।

१

-----**-----

२--वैदिक-आध्यात्मिक यज्ञ-कर्म्मोपासना (परमप्रजापत्यनुपासना)
(ज्ञानयोगात्मिका-आत्मनिःश्रेयसप्रवर्त्तिका)

३७०–वस्तुतत्त्वानुगता 'आहिति' की 'आहुति'–रूपता का समन्वय, एवं यज्ञप्रक्रिया-नुबन्धी समष्टि–व्यष्ट्यात्मक दो विभिन्न दृष्टिकोण—

"किसी एक वस्तु को अन्य वस्तु के उदर में 'आहित' कर देना, अथवा किसी वस्तु का अन्य वस्तु में 'आहित' होजाना हीं "आहुति" है, एवं इस आहुति का ही नाम यज्ञ है। इसी आहिति-(आधान)-

लक्षण यज्ञकर्म्म के दो स्वतन्त्र दृष्टिकोण हैं । समष्टि को व्यक्ति समझ कर उस समष्टिरूपा व्यक्ति की परम-प्रजापति में आहुति दे डालना (आत्मसमर्पण कर डालना) यज्ञ की एक प्रक्रिया है । एवं केवल अपने व्यक्तित्व की (उसे समष्टि से पृथक् मानते हुए) उस परमप्रजापति में आहुति दे डालना एक विभिन्न मार्ग है ।

३७१-आध्यात्मिक-वैय्यक्तिक-राष्ट्र के स्वरूप-सञ्चालकों का पारस्परिक-समन्वयात्मक सहयोग, एवं तन्निबन्धना आध्यात्मिक यज्ञ की स्वरूपस्थिति—

हम एक व्यक्ति हैं । इस हमारे व्यक्तिगत राष्ट्र का (अध्यात्मजगत् का) सञ्चालन हमारा शारीरक-आत्मा (आध्यात्मिक परमप्रजापति) है । **चक्षुः-श्रोत्र-नासा-घ्राण-हस्त-पाद-उदर-हृदय-नाभि-** आदि सभी अवयव नाम-रूप कर्म्म में परस्पर सर्वथा स्वतन्त्र हैं । इन अवयवरूप अनेक व्यक्तियों के समुदाय से "**अहमस्मि**" यह एक व्यक्तित्त्व सम्पन्न हुआ है । ये सभी अवयव परस्पर स्वतन्त्र रहते हुए भी, स्वतन्त्र कर्म्म करते हुए भी उस व्यक्त्यधिष्ठाता भूतात्मा की स्वरूपरक्षा में हीं प्रवृत्त रहते हैं । सम्पूर्ण इन्द्रियकर्म्म इस भूतात्मयज्ञ की रक्षा में हीं संलग्न है । किसी भी इन्द्रिय को यह अभिमान नहीं है कि—"मैं अमुक काम करती हूँ" । देखती आँख है, परन्तु "मैं-(भूतात्मा) देखता हूँ" यही अभिनय होता है । इस-प्रकार व्यक्तिस्थानीय सभी इन्द्रियाँ उस एक की सिद्धि के लिए अभिन्न बनतीं हुई भूतात्मयज्ञ की व्यवस्था का कारण बनतीं हुई हीं अपनी स्वरूपरक्षा का भी कारण बन रहीं हैं ।

३७२-विश्वयज्ञानुबन्धी पारस्परिक-समन्वयात्मक सहयोग, तन्निबन्धन आधिभौतिक यज्ञ की स्वरूप-स्थिति, एवं 'भूमोदर्क' का स्वरूप-समन्वय—

संसार में जितने भी मनुष्य हैं, वे सब उस पञ्चपर्वा परमप्रजापति के अवयव हैं । अधिकारभेद से प्रत्येक के नाम-रूप-कर्म्म नियत हैं । सब परस्पर सर्वथा भिन्न हैं । सबका कर्म्म भी परस्पर भिन्न है । समझने के लिए यों भी कहा जासकता है कि, कोई मनुष्य उसकी आँख है, कोई नाक, तो कोई कान । इन्द्रिय-स्थानीय इन व्यक्तियों का कर्त्तव्य यही होना चाहिए कि, ये अपने अपने प्रातिस्विक आत्मस्वातन्त्र्य को छोड़ते हुए, अपने आपको उस प्रजापति की इन्द्रियाँ समझते हुए अपनी सम्पूर्ण समष्टि का एक उसी को आत्मा समझकर, उसी की स्वरूपव्यवस्था के लिए (विश्वयज्ञ की व्यवस्था के लिए) अधिकारसिद्ध नियत कर्म्मों में हीं प्रवृत्त रहैं । सम्पूर्ण मानवसमाज अपने आपको एक व्यक्ति मानता हुआ उसमें अपनी आहुति देदे । यही यज्ञ की सर्वोच्च पद्धति है । **'स्व' की 'सर्वरूप' में परिणति ही** इस यज्ञकर्म्म का मौलिक-रहस्य है, और इस मौलिक रहस्य का फल है—"**भूमोदर्क**" ।

३७३-अद्वैतनिष्ठा-संसाधिका सर्वहुतयज्ञप्रक्रिया—

सर्वत्र, सब अवस्थाओं में व्यापक प्रजापति की भावना करते हुए विश्वयज्ञ की दृष्टि से कर्म्म में प्रवृत्त रहने वाले कर्म्मोपासक का आत्मा सीमाभाव से निकलता हुआ शनैः शनैः भूमाभाव को प्राप्त होजायगा । कालान्तर में "मैं-तू-यह-वह" का भेद जाता रहेगा, सर्वत्र सब आत्मरूप में परिणत होजायँगे—"**यत्र-त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्**" लक्षण अद्वैतनिष्ठा प्राप्त होजायगी ।

३७४ अबन्धना यज्ञोपासना से अनुप्राणित-उपास्य, उपासक, उपासनासाधन-त्रयी का स्वरूप समन्वय, एवं आधिदैविकपरमप्रजापति-उपासना का तात्त्विक स्वरूप समन्वय —

इस यज्ञकर्म्म में कर्म्ममय किसी भौतिक परिग्रह का न्यास न होगा, अपितु सबका संग्रह ही होगा। कर्म्म का आत्यन्तिक संग्रह, परन्तु यज्ञेश्वर के लक्ष्य से। कर्म्म में आत्यन्तिक प्रवृत्ति, परन्तु निष्कामभाव से। इसमें आधिदैविकपरमप्रजापति उपास्य बनेगा, आध्यात्मिक भूतात्मा उपासक बनेगा, सम्पूर्ण विश्वकर्म्म उपासना के साधक बनेंगे। फल मिलेगा समवलयलक्षणा "परामुक्ति", जिसका कि–"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते" इन शब्दों में अभिनय किया गया है। यही पहिली "आधिदैविकपरमप्रजापत्युपासना" कहलाएगी। वेदशास्त्रसिद्ध आधिभौतिक–यज्ञ ही इसका साधक होगा। और यही गीताशास्त्र की कर्म्मयोगनिष्ठा कहलाएगी। इसमें अपनापन कुछ न रहेगा। लोकसंग्रह ही प्रधान रहेगा। प्रधान क्या रहेगा, विशुद्ध लोकसंग्रह ही प्रधान रहेगा। कारण, लोक का आत्मा,–और उसका वैय्यक्तिक आत्मा, इन दो भावों के पार्थक्य का यहाँ अवसर ही नहीं है। वर्णाश्रमधर्म्म इसी यज्ञकर्म्म की प्रतिष्ठाभूमि माना जायगा।

३७५–आधिदैविक–भौतिक–आत्मिक-यज्ञत्रयी से अनुप्राणिता यज्ञोपासना का स्वरूप तारतम्य–समन्वय एवं, दृष्टिकोणभेदनिबन्धन समष्टि–व्यष्टिरूप-भूमोदर्क, तथा क्षीणोदर्क का स्वरूप–दिग्दर्शन—

यद्यपि प्रणावाधारेण इस यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त होने वाला कामभाव का अनुगामी नहीं बनेगा। तथापि मार्ग साधारण नहीं हैं। कामना का आत्यन्तिक विमोक कर देना चिरकालिक अभ्यास–सापेक्ष ही है। इसी लिए ऐसे अधिकारियों के (जोकि आधिभौतिक यज्ञकर्म्मों से कामभय से–दूर भागते हैं,) हित के लिए ही यह दूसरी यज्ञप्रक्रिया है। यह आधिभौतिक यज्ञकर्म्मों का तो न्यास करेंगे, एवं आध्यात्मिक यज्ञकर्म्मों का निष्कामभाव से परिग्रह करेंगे। यहाँ का यज्ञ व्यक्तिस्वतन्त्रता को ही अपना मूल बनावेगा। अपने शारीरक आत्मा को आधिदैविक यज्ञ में आधिभौतिक यज्ञ के द्वारा समर्पित करना पहिला यज्ञ था। एवं अपने शारीरक आत्मा को आध्यात्मिक यज्ञ के द्वारा आध्यात्मिक परमप्रजापति में [शान्तात्मा में] समर्पित करना, वह दूसरा यज्ञ कर्म्म कहलावेगा। वहाँ सम्पूर्ण बाह्यपरिग्रहों का संग्रह था, वहाँ सम्पूर्ण बाह्यपरिग्रहों का त्याग है। विश्व से तटस्थाता ग्रहण की, लोक से दृष्टि हटाई, वित्त-लोक-पुत्रैषणा का परित्याग किया, इन्द्रियों का मन में, मन का बुद्धि में बुद्धिका महान् में, महान् का आध्यात्मिक परप्रजापतिरूप अव्यक्तात्मा में [शान्तात्मा में] संमय करते हुए विशुद्ध आत्मरूप में परिणत होकर अन्ततः समवलयभाव प्राप्त कर लिया, यही इस यज्ञकर्म्म का स्वरूपलक्षण होगा। क्षीणोदर्क ही यहाँ प्रधान उदर्क है। वहाँ 'भूमोदर्क' था, यहाँ क्षीणोदर्क है। वहाँ विशुद्ध लोकाभ्युदय था, यहाँ आत्मनिःश्रेयस् है।

३७६–भक्तिमार्गानुबन्धी लय–हठ–मन्त्रादि विभिन्न योग, तन्निबन्धना हिरण्यगर्भ-निष्ठा, तथा कपिलनिष्ठा, एवं–'क्लेशवद्‌भिरवाप्यते' का समन्वय—

पाठकों को स्मरण होगा कि, पूर्वप्रकरणोपसंहार में भक्तियोग को उपरत करते हुए हमनें भक्ति के भी **लय–हठ–मन्त्र-योगात्मक योगमार्ग, राजयोगात्मक योगमार्ग**, ये दो विभाग बतलाए थे। इनमें **योगात्मक योगमार्ग हिरण्यगर्भनिष्ठा है, पातञ्जलयोग इसी का रूपान्तर है**। एवं यज्ञकर्म्म का यह क्षीणोदर्कात्मक यज्ञयोगमार्ग उसी योग से मिलता जुलता है। इस निष्ठा के आदि प्रवर्त्तक **महर्षि कपिल** हैं, यही **सांख्यनिष्ठा**, किंवा **ज्ञाननिष्ठा है**। **योगात्मक भक्तिमार्ग**, तथा **यज्ञात्मक ज्ञानमार्ग**, दोनों का भगवान् ने संग्रह अवश्य किया है। परन्तु है भगवान् की इन के सम्बन्ध में अरुचि ही, जैसाकि पूर्व में यत्र तत्र स्पष्ट किया जाचुका है। इस अरुचि का एकमात्र कारण है–लोकसंग्रह का **अभाव**। न तो वैसे भक्तिमार्ग में हीं लोकसंग्रह, एवं न ऐसे ज्ञानमार्ग में हीं लोकसंग्रह का समावेश। केवल वैय्यक्तिक अभ्युदय, निःश्रेयस् ही प्रधान बना रहता है, सो भी बड़ी कठिनता से ही–"क्लेशवद्भिरवाप्यते"।

३७७–अपेक्षाभेद-निबन्धन–'सर्वोत्तम' एवं 'उत्तम' भक्तिपथ का संस्मरण—

यद्यपि **"एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्"** इस भगवदुक्ति के अनुसार–**भूमोदर्कलक्षण लोकाभ्युदयात्मक यज्ञकर्म्म**, एवं **क्षीणोदर्कलक्षण आत्मनिःश्रेयस् संसाधक यज्ञकर्म्म**, इन दोनों का **'परामुक्तिरूप'** फल समान है। परन्तु **"तयोऽस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते"** के अनुसार **बहिःकर्म्मन्यासलक्षण यज्ञकर्म्म (सांख्यनिष्ठा)** की अपेक्षा **बहिःकर्म्मपरिग्रहलक्षण यज्ञ-कर्म्म** ही श्रेष्ठ माना गया है, और यही कारण है कि, इसे हमनें **'सर्वोत्तम'** कहा है, एवं उसे **'उत्तम'** कहा है।

३७८–'उपासना' निबन्धना गीता की योगचतुष्टयी का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं सर्वश्रेष्ठ, 'वैराग्यबुद्धियोग—

आधिदैविक–यज्ञलक्षणा यज्ञोपासना जैसे गीता का निष्कामकर्म्मयोग है, एवमेव आध्यात्मिक–यज्ञ–लक्षणा यह उपासना गीता का नैष्कर्म्य ज्ञानयोग है। दोनों के स्वरूप का यदि विचार किया जाता है, तो कर्म्मयोग का आसन नीचा मानना पड़ता है, एवं ज्ञानयोग का ऊँचा। क्योंकि कर्म्मयोग क्षरप्रधान है, एवं ज्ञानयोग अव्यक्त अक्षर की प्रतिच्छाया से युक्त है। परन्तु फलदृष्टि से कर्म्मयोग ज्ञानयोग की अपेक्षा कहीं उच्चभूमिका में प्रतिष्ठित, राजयोगात्मक भक्तियोग स्वरूपतः फलतः कर्म्मयोग से भी श्रेष्ठ है। एवं सर्वान्त के बुद्धियोग का तो कहना ही क्या है।

३७९–चतुर्विधा–योगात्मिका उपासना के लोकानुबन्धी–लोकसूत्र, एवं उपासना–चतुष्टयी का वर्गीकरणात्मक–समन्वय—

बुद्धियोगात्मिका देवयुगानुगता उपनिषन्मूला **अव्ययोपासना**, भक्तियोगात्मिका आरण्यकमूला वेदयुगानुगता **सर्वेश्वरोपासना (षोडशीप्रजापति-उपासना)**, कर्म्मयोगात्मिका ब्राह्मणमूला, एवं ज्ञानयोगात्मिका ब्राह्मणमूला पुराणयुगानुगता **यज्ञेश्वरोपासना**, ये चार ही उपासना के प्रधान काण्ड हैं। चारों हीं जटिल मस्या हैं। आगे का वाक्य–सन्दर्भ आंशिकरूप से इस जटिलता को दूर कर देता है—

(१) १--'न हम हम हैं, न वह वह है,-जो है सो है'—'बुद्धियोग'
('तू तू न रहै, मैं मैं न रहूँ, हम तुम दोनों मिलजाएँ')
२--'मैं नहीं, तू ही तू' 'भक्तियोग'
३--'हम सब तुझ में, तू हम सब में' 'कर्म्मयोग'
४--'तू मेरा, मैं तेरा', 'ज्ञानयोग'

—**—

२—१-कर्त्तव्यानन्याता (बुद्धियोगः)—अव्ययोपास्यः
२--ईश्वरानन्यता (भक्तियोगः)—अश्वत्थेश्वरोपास्यः
३--कर्म्मानन्यता (कर्म्मयोगः)—बल्शेश्वरोपास्यः
४--आत्मानन्यता (ज्ञानयोगः)—प्रत्यगात्मोपास्यः

—*—

३—१--नोदर्कभावः (बुद्धियोगे)—न मुक्तिर्न बन्धनम्
२--अपरोदर्कः (भक्तयोगे)—अपरामुक्तिः
३--भूमोदर्कः (कर्म्मयोगे)—परामुक्तिः
४-क्षोणोदर्कः (ज्ञानयोगे)—परामुक्तिः

—*—

४—१-सर्वसंग्रहः, असंग्रहो वा (बुद्धियोगे)—सहजस्वरूपसंसिद्धिः
२-आत्मसंग्रहपूर्वको लोकसंग्रहः (भक्तियोगे)—आत्म-लोकस्वरूपव्यवस्थितिः
३-विशुशुद्धो लोकसंग्रह (कर्म्मयोगे)—लोकाभ्युदयसिद्धिः (परमार्थमार्गः)
४-विशुद्धः-आत्मसंग्रहः (ज्ञानयोगे)—आत्मानःश्रयससिद्धिः स्वार्थमार्गः)

—*—

३८०-अर्च्चन-पूजनादि, नामसंकीर्त्तनादि जड़भावों से असंस्पृष्टा वेदसिद्धा तत्त्वोपासना का संस्मरण—

यह भी स्मरण रखने की बात है कि, तथोक्ता चारों हीं उपसनाओं में अर्च्चन, पूजन, आरार्त्तिक, धूप, दीप, नैवेधादि बहिरङ्गसाधन अंशतः भी अपेक्षित नहीं हैं। संकीर्त्तन नामस्मरण आदि भी यहाँ दूर से

से ही प्रणम्य हैं। चारों हीं मौलिक वेदसिद्ध उपासनामार्ग हैं। यह स्पष्ट करने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है कि, आज का भारतवर्ष इन चारों मार्गों में से किसी एक का भी अनुयायी नहीं है। प्रचलित भक्ति–मार्ग का केवल **वैकारिक-क्षरोपासना** में यथाकथञ्चित् अन्तर्भाव करते हुए लोकसंग्रह की रक्षा की जासकती है, जैसाकि तत्प्रकरण में हीं स्पष्ट होजायगा।

३८१–यज्ञेश्वरोपासनात्मिका आध्यात्मिक–यज्ञोपासना, एवं तत्समर्थक उपनिषद्वचन—

प्रकृत में कहना केवल यही है कि, **यज्ञेश्वर की उपासना का दूसरा प्रकार आध्यात्मिक यज्ञलक्षण नैष्कर्म्य-ज्ञानयोग ही है**। इसी में 'प्रव्रज्या' की प्रधानता है, जैसाकि निम्न लिखित उपनिषद्वचनों से स्पष्ट है—

१—स वाऽअयमात्मा सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः, सर्वस्याधिपतिः, सर्वमिदं प्रशास्ति-यदिदं किञ्च। (बृ० आ० उ० ५।६।१।)। तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति, यज्ञेन, दानेन, तपसा-अनाशकेन। एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति ※।

२—एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते–किं प्रजया करिष्यामः, येषां नाऽय-मात्मा, अयं लोक इति। ते हस्म पुत्रैषणायाश्च, वित्तैषणायाश्च, लोकैषणायाश्च व्युत्थाय, अथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति ÷।

३–कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्।
यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम !।
तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

※ आधिदैविकयज्ञानुयायिनः---कर्म्मयोगिनस्तु--अव्राजिनः---अत्यागिनः---नैष्ठिका मानवश्रेष्ठाः, इत्यवधेयम्।

—बृ० आ० उप० ४।५।२२।

÷ अर्जुनसम्मतमार्गः

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥
धनर्गहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं विद्धि ॥
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमेत्तन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति"

—उपनिषद्

—२—

३-वैदिक-आधिकारिक-अचेतन-जीवोपासना-[प्रतिमाप्रजापत्युपासना]—

३८२-यज्ञेश्वरविवर्त्तानुगता वेदसम्मता-तात्त्विक-उपासना के पञ्चविध प्रकारों का समन्वय-

इस तीसरे यज्ञेश्वरविवर्त्त में हीं आधिकारिक-अचेतन-जीवों की उपासना का अन्तर्भाव है । निगुण अव्यय पर दृष्टि रखना पहिला प्रकार है । सहस्त्रवल्शात्मक सर्वेश्वर पर दृष्टि रखना दूसरा प्रकार है, सर्वेश्वर से नित्ययुक्त योगमायावच्छिन्न पञ्चपुण्डीरात्मक आधिदैविक बल्शेश्वर पर दृष्टि रखना तीसरा प्रकार है, आध्यात्मिक बल्शेश्वर पर दृष्टि रखना चौथा प्रकार है । एवं आधिदेविक परमप्रजापति-लक्षण स्वयम्भू प्रजापति (जिसे कि आभूप्रजापति, परोरजा आदि नामों से भी व्यवहत किया जाता है) के गर्भ में रहने वाले परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी-चन्द्रमा आदि प्रतिमाप्रजापतियों में से किसी एक पर दृष्टि रखना पाँचवाँ प्रकार है ।

३८३-सहस्रबल्शेश्वरानुगता, एवं प्रतिमेश्वरानुगता (एकबल्शेश्वरानुगता) तात्त्विक-उपासना का स्वरूप-समन्वय—

उक्त पाँचों प्रकारों में से पाँचवाँ प्रकार ही **आधिकारिक अचेतन जीवोपासना** कहलाएगी । जो व्यक्ति निर्गुण-अव्यय पर दृष्टि नहीं रख सकते, वे **सगुण सहस्रबल्शामूर्त्ति सर्वेश्वर पर** (षोडशीप्रजापति पर) दृष्टि रक्खे । जो इस पर भी दृष्टि न रख सकें, वे **बल्शेश्वर परमप्रजापति** पर दृष्टि रक्खें । जो इस में भी असमर्थ हों, वे बल्शा के **एक एक पर्व** पर दृष्टि रक्खें । सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी आदि में से किसी एक प्रकृति के अवयव को लक्ष्य बना कर आधिकारिकभाव से वर्त्तव्यकर्म्म में प्रवृत्त रहना हीं तीसरी यज्ञेश्वरोपासना कहलाएगी ।

३८४-उपासनातत्त्वनिबन्धन-पूर्वापरविरोध—

पूर्व प्रकरण में हमने इस आधिकारिक अचेतन जीवोपासना को चौथी उपासना मानते हुए इसे प्रथमा कहा है, एवं आधिकारिक चेतनजीवोपासना (अवतारोपासना) को तीसरी उपासना मानते हुए इसे मध्यमा कहा है । परन्तु यहाँ अचेतनोपासना को तीसरी उपासना बतलाया जारहा है । यह पूर्वपरविरोध क्यों ? ।

३८५-पूर्वापरविरोध-निराकरणप्रयास, एवं षडङ्ग-वैश्वानरोपासना, प्रजापतिसंहितोपासना, आदित्योद्‌गीथोपासना, गायत्रब्रह्मोपासना, आदि विविध उपासना-प्रकारों का संस्मरण—

समाधान यही है कि, जिसप्रकार सर्वेश्वरोपासना-लक्षणा भक्तिरूपा उपासना के मन्त्र-लय-हठ योगात्मक अव्यक्तभावात्मक योगमार्ग, राजयोगात्मक योगमार्ग, ये दो भेद हैं, यज्ञेश्वरोपासना के आधिदैविक यज्ञात्मक यज्ञमार्ग (कर्म्मयोग), आध्यात्मिक यज्ञात्मक यज्ञमार्ग (ज्ञानयोग) ये दो मार्ग हैं, एवमेव अचेतन जीवोपासना के भी अधिकारीभेद से दो मार्ग होजाते हैं। प्रकृतिपर्वो में उसी उद्‌गीथोङ्कारमूर्ति सर्वेश्वर की भावना करते हुए कर्त्तव्यकर्म्म पर दृष्टि रखना एक प्रकार है। यह उपासना समष्टिरूपात्मक ओङ्कार की उपासना तो नहीं है, परन्तु व्यष्टिरूप से अवश्य ही ओङ्कारोपासना है। अतएव इस उपासना का अधिकारी ईश्वरसत्ता में विश्वास रखने वाला एक आस्तिक ही बन सकता है। वह आदित्य (सूर्य्य) को लक्ष्य में रक्खेगा, परन्तु उगद्‌गीथोङ्काररूप से, पृथिवी को लक्ष्य में रक्खेगा, परन्तु उद्‌गीथदृष्टि से। यही उपासनामार्ग षडङ्गवैश्वानरोपासना, प्रजापतिसंहितोपासना, आदित्योद्‌गीथोपासना, गायत्रब्रह्मोपासना, इत्यादिरूप से अनेक भागों में विभक्त है।

३८६--उद्‌गीथभावनिबन्धना आधिदैविक-उपासना, एवं आध्यात्मिक-उपासना का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धन भूमोदर्क-क्षीणोदर्क-भाव—

इस उद्‌गीथभावोपेता उपासना के भी आधिदैविक-आध्यात्मिक भेद से आगे जाकर दो भेद होजाते हैं। प्राकृतिक आदित्यादि को लक्ष्य में रखते हुए आधिभौतिक यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त रहना पहिला प्रकार है, और इसकी पूर्वोक्त आधिदैविक यज्ञकर्मात्मक यज्ञकर्म्म (कर्म्मयोग) के साथ तुलना की जासकती है। अपने अध्यात्मजगत् में प्रतिष्ठित मुख्यप्राणरूप व्यानात्मक उद्‌गीथ को लक्ष्य में रखते हुए, किंवा आध्यात्मिक षडङ्ग वैश्वानर को लक्ष्य में रखते हुए आध्यात्मिक यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त रहना दूसरा प्रकार है, और इस की पूर्वोक्त आध्यात्मिक यज्ञकर्म्म (ज्ञानयोग) के साथ तुलना की जासकती है। पूर्ववत् यहाँ भी पहिले मार्ग में लोकसंग्रह के द्वारा आत्मनिःश्रेयस् है, दूसरे मार्ग में विशुद्ध आत्मनिःश्रेयस् है। दूसरे शब्दों में-पहिला मार्ग भूमोदर्क है, एवं दूसरा मार्ग क्षीणोदर्क है। निम्नलिखित श्रौतवचन इन्हीं दोनों मार्गों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

१—आधिदैविक-उपासना—

१—"अथाधिदैवतम्-य एवासौ तपति, तमुद्‌गीथमुपासीत। उद्यन् वा एष प्रजाभ्य उद्‌गायति। उद्यंस्तमोभयमपहन्ति। अपहन्ता वै भयस्य तमसो य एवं वेद"।

२—"आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः"।

३—"एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरः, यं त्वमात्मानमुपास्से"।

२—आध्यात्मिक-उपासना—

१—"अथ खलु व्यानमेवोद्गीथ मुपासीत । यद्वै प्राणिति स प्राणः, यदपानिति सोऽपानः । अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः ।

२—"तस्य वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाः, चक्षुर्विश्वरूपः, प्राणः पृथग्वर्त्मा, आत्मा सन्देहो--बहुलः, बस्तिरेव रयिः, पृथिव्येव-पादौ, उर एव वेदिः, लोमानि बर्हिः, हृदयं गार्हपत्यः, मनोऽन्वाहार्य्यपचनः, आस्यमाहवनीयः' ।

३८७–आध्यात्मिक आधिदैविक-अचेतनजीवोपासनानिबन्धन-उपासनातत्त्व का स्वरूप-समन्वय –

इसके अतिरिक्त त्रिविध, पञ्चविध, सप्तविध सामोपासना, स्वरोपासना, आदि भेद से एक एक पर्वों की उपासनाओं के जितने भी आधिदैविक प्रकार छान्दोग्यादि में उववर्णित हैं, वे सब आधिदैविक आधिकारिक अचेतन–जीवोपासना में हीं अन्तर्भूत हैं । एवमेव **भूतात्मोपासना, प्रज्ञानोपासना, विज्ञानोपासना, सत्त्वोपासना** आदि भेद से उपवर्णित आध्यात्मिक उपासना-प्रकार आधिकारिक आध्यात्मिक अचेतनजीवोपासना में अन्तर्भूत हैं ।

३८८–वैदिक-उपासनाकाण्ड के स्थूल पर्व, तन्निबन्धना वैदिक-प्रतिमोपासना, एवं प्रचलित-प्रतिमोपासना, एवं प्रचलित-प्रतिमोपासना का वेदासंस्पृष्टत्त्व—

जिसप्रकार सामान्य उपासना–सिद्धि के लिए आरम्भ में स्थूल को लक्ष्य बनाया जाता है, एवमेव इस वैदिक उपासनाकाण्ड में भी सूर्य्य–वैश्वानर, आदि आधिदैविक स्थूल पर्वों को, प्रज्ञान–विज्ञानादि आध्यात्मिक स्थूलपर्वों को लक्ष्य बनाते हुए अन्त में–"**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते**' यह आदेश मिलता है । यदि हम से कोई सनातनधर्म्मी यह प्रश्न करे कि, वेद में–प्रतिमोपासना का विधान है, अथवा नहीं, तो उत्तर में हम उसके सामने परमप्रजापति की प्रतिमारूप आदित्यादि की उपासना ही रक्खेंगे । **वैदिक प्रतिमोपासना प्राकृतिक पर्वोपासना ही है** । प्रतिमोपासना का वर्त्तमानरूप मूलरूप से भले ही वेद में उपलब्ध हो, परन्तु वहाँ इसके तूलरूप का तो अभाव ही है । **अर्चन-धूप-दीपादि-लक्षणा जड़ोपासना का तो वेदशास्त्र में अभाव ही मानना पड़ेगा** ।

३८९–उपासनोपनिषत्-अनुगत-'आत्मभाव', तन्निबन्धन त्रिविध 'ओङ्कार', एवं ओङ्कार-निबन्धना उपासनात्रयी का स्वरूप-समन्वय—

उपासनातत्व का मौलिक रहस्य है—"**आत्मा**" । कोई सी भी उपासना हो, सब में किसी न किसी रूप से आत्मभावना को ही मुख्य बनाना पड़ेगा । इस भावना की प्राप्ति के लिए ओङ्कार का आश्रय लेना आवश्यक होगा–"**ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्**" । **कर्त्तव्यकर्म्मात्मिका अव्ययोपासना में सर्वोङ्कार के द्वारा आत्मसंग्रह है । ईश्वरानन्यतात्मिका सर्वेश्वरोपासना में उद्गीथोङ्कार के द्वारा आत्मा**

का परिग्रहण है, कर्म्मानन्यतात्मिका आधिदैविकयज्ञेश्वरोपासना में, एवं आत्मानन्यतात्मिका आध्यात्मिक यज्ञेश्वरोपासना में प्रणवोङ्कार के द्वारा आत्मग्रहण है।

३६०–सर्व-उद्गीथ-प्रणव-ओङ्कारनिबन्धना त्रिविधा उपासना से अनुप्राणित अधिकारी भेद-भिन्न त्रिविध मार्गों का स्वरूप समन्वय—

कर्म्मानन्यात्मिका (आधिदैविकपर्वात्मिका) प्रतिमोपासना में प्रणवोङ्कार के पर्वरूप उद्गीथात्मक–आदित्य, प्रणवात्मक वैश्वानरादि के द्वारा आत्मसमावेश है। एवं आत्मानन्यात्मिका (आध्यात्मिकपर्वात्मिका) प्रतिमोपासना में प्रणवोङ्कारपर्वरूप उद्गीथ व्यान, षडङ्ग वैश्वानरादि के द्वारा आत्मसमावेश है। इसप्रकार इन सभी उपासना-प्रकारों में समष्ट्यात्मक–**सर्व–उद्गीथ–प्रणवोङ्कारों** के द्वारा, एवं व्यष्ट्यात्मक प्रणवोङ्कार के द्वारा आत्मा का समावेश होरहा है। परम्परया, एवं साक्षात्, आत्मा की ही उपासना होरही है, और ओङ्कारमूला यही उपासना, किंवा उपासना के ये ही प्रकार वेदशास्त्र–सम्मत हैं। जिस उपासना में (काम्य–कर्म्म–कामनामयी-भक्ति-आदि में) आत्मलक्षण ओङ्कार का अभाव है, वेदशास्त्र की दृष्टि से वह कभी उपासना नहीं है, जैसाकि निम्नलिखित श्रौतसन्दर्भ से स्पष्ट है —

१— "अथात आत्मादेश एव–आत्मैवाधस्तात्, आत्मोपरिष्टात्, आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणतः, आत्मोत्तरतः, आत्मैवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्, एवं मन्वानः, एवं विजानन्–आत्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति। तस्य सर्वेष लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुः–अन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति"।

—छान्दोग्योपनिषत् ७ अ०।२५ खण्ड।

२—'य एते ब्रह्मलोके । तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते। तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः, सर्वे च कामाः। सर्व्वांश्च लोकानाप्नोति, सर्वांश्च कामान्-यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति, इति ह प्रजापतिरुवाच, प्रजापतिरुवाच।

—छां० उप० ८।१२।६

वेदसम्मता-उपासना-आत्ममयी-ओङ्कारमयी वा—

देवयुगानुगता (उपनिषन्मूला)

- १–निर्गुण-अव्ययोपासना (योगात्मकः-बुद्धियोगमार्गः) वैदिक-सर्वानन्यता-अन्यतात्मिका-उपासना—सर्वोङ्कारमूला } तत् } अव्ययः[1]

———*———

वेदयुगानुगता (आरण्यकमूला)

- १–(क) सगुण-सर्वेश्वरोपासना (राजयोगात्मकः-भक्तिमार्गः) वैदिक-आधिदैविकेश्वरानन्यात्मिका–उपासना-आधिदैविक-उद्गीथोङ्कारमूला
- २-(ख) सगुण-सर्वेश्वरोपासना (मंत्र-हठ-लययोगात्मकः-योगमार्गः) वैदिक-आध्यात्मिकेश्वरानन्यात्मिका-उपासना-आध्यात्मिक-उद्गीथोङ्कारमूला

} अश्वत्थेश्वरः } षोडशीप्रजापतिः[2]

———*———

पुराणयुगानुगता (ब्राह्मणमूला)

- ३–(क) सविकार-यज्ञेश्वरोपासना (यज्ञकर्म्मात्मकः-कर्म्ममार्गः) वैदिक-आधिदैविकयज्ञकर्म्मानन्यतात्मिका-उपा०-आधिदैविक-प्रणवोङ्कारमूला
- ४–(ख) सविकार-यज्ञेश्वरोपासना (आत्मकर्म्मात्मकः-कर्म्ममार्गः) वैदिक-आध्यात्मिकयज्ञकर्म्मानन्यतात्मिका-उपा०-आध्यात्मिक-प्रणवोङ्कारमूला

} वल्शेश्वरः

———*———

- ५–(क) सविकार-प्रतिमेश्वरोपासना (यज्ञकर्म्मात्मकः-कर्म्ममार्गः) वैदिक-आधिदैविकपर्वानन्यतात्मिका--उपासना-आधिदैविक—प्रणपर्वमूला
- ६–(ख) सविकार-प्रतिमेश्वरोपासना (आत्मकर्म्मात्मकः-कर्म्ममार्गः) वैदिक-आध्यात्मिकपर्वानन्यतात्मिका-उपासना-आध्यात्मिक—प्रणवपर्वमूला

} प्रतिमेश्वरः

(वल्शेश्वरः + प्रतिमेश्वरः) } यज्ञप्रजापतिः[3]

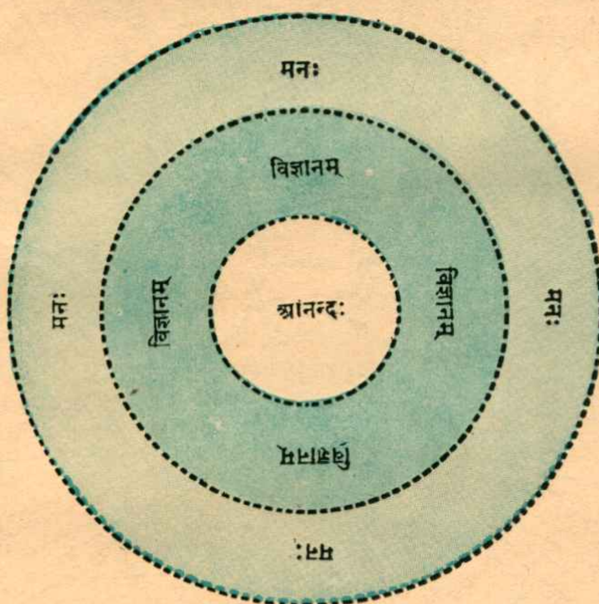
———*———

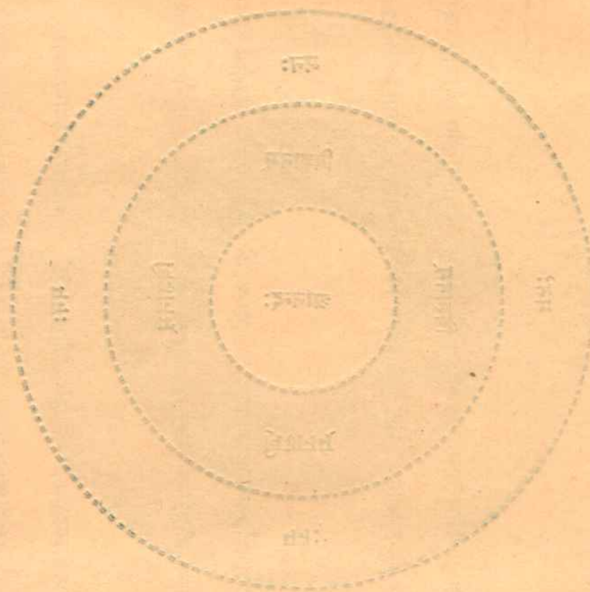
———:*:———

सर्वात्मकः– सर्वेश्वरः

१-सर्वेङ्कारः

१-निर्गुण-अव्ययः
(युक्तमार्गाधिष्ठाता)

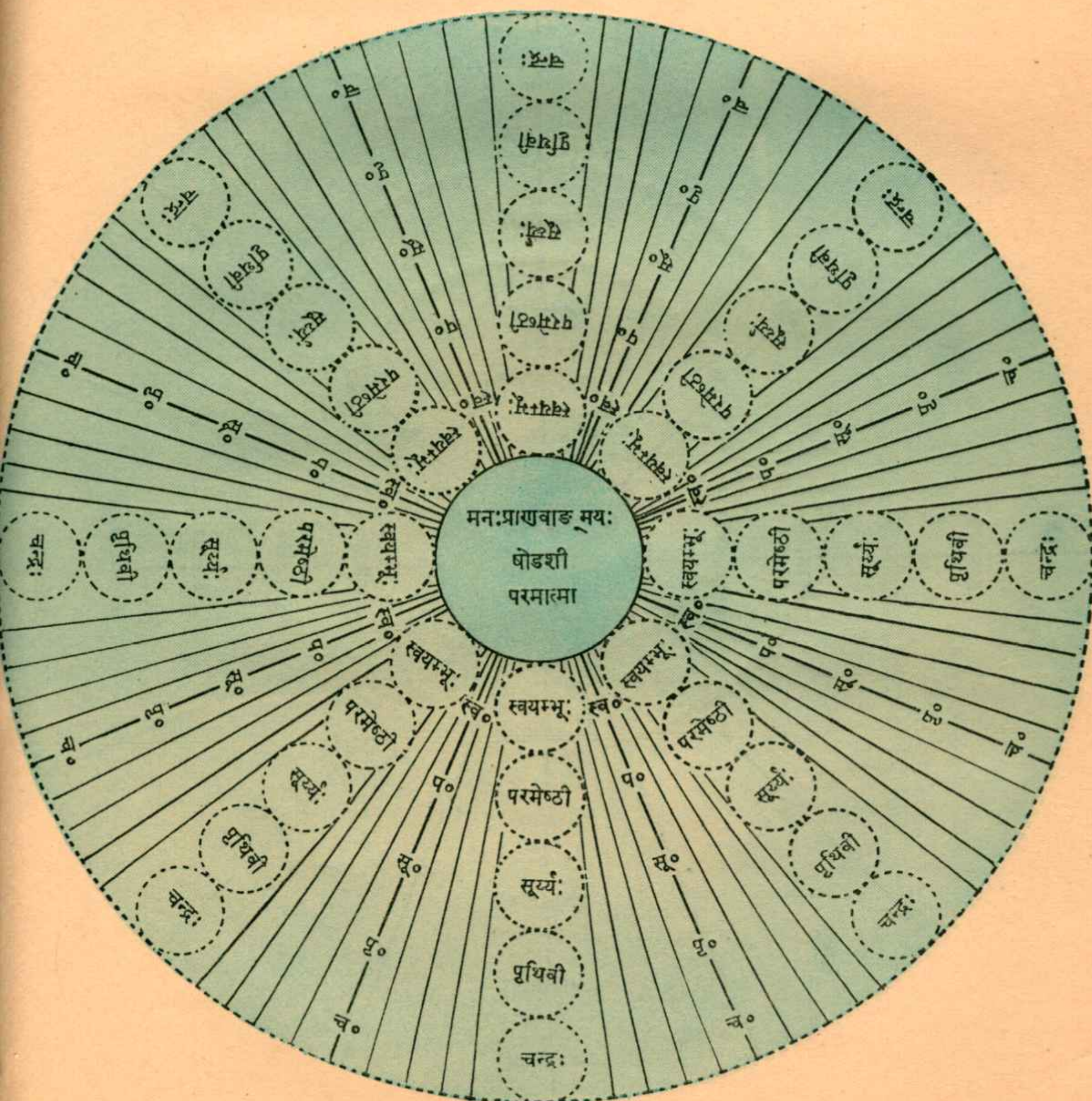




१-उद्गीथोङ्कारः

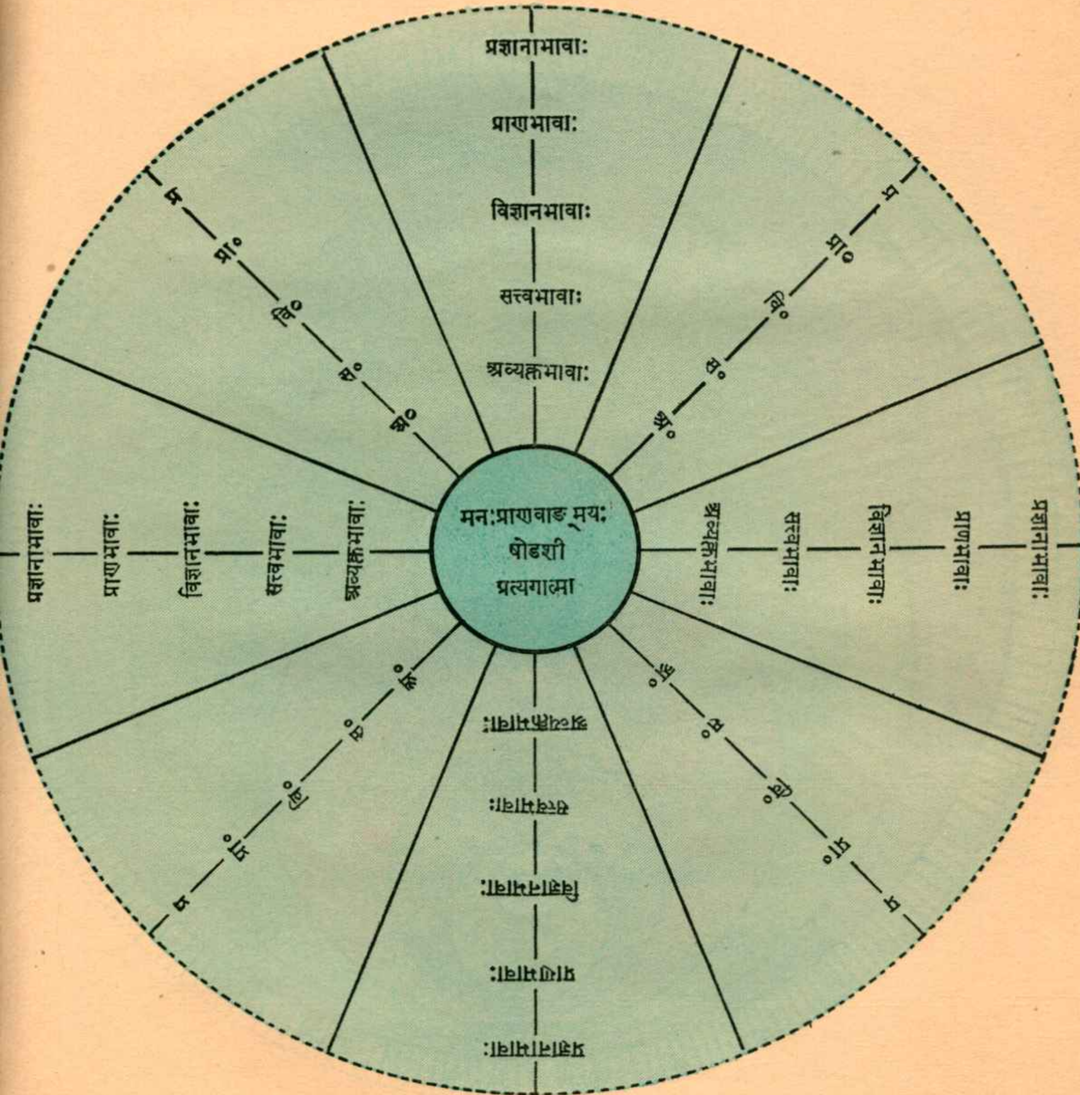
आधिदैविकः– सर्वेश्वरः

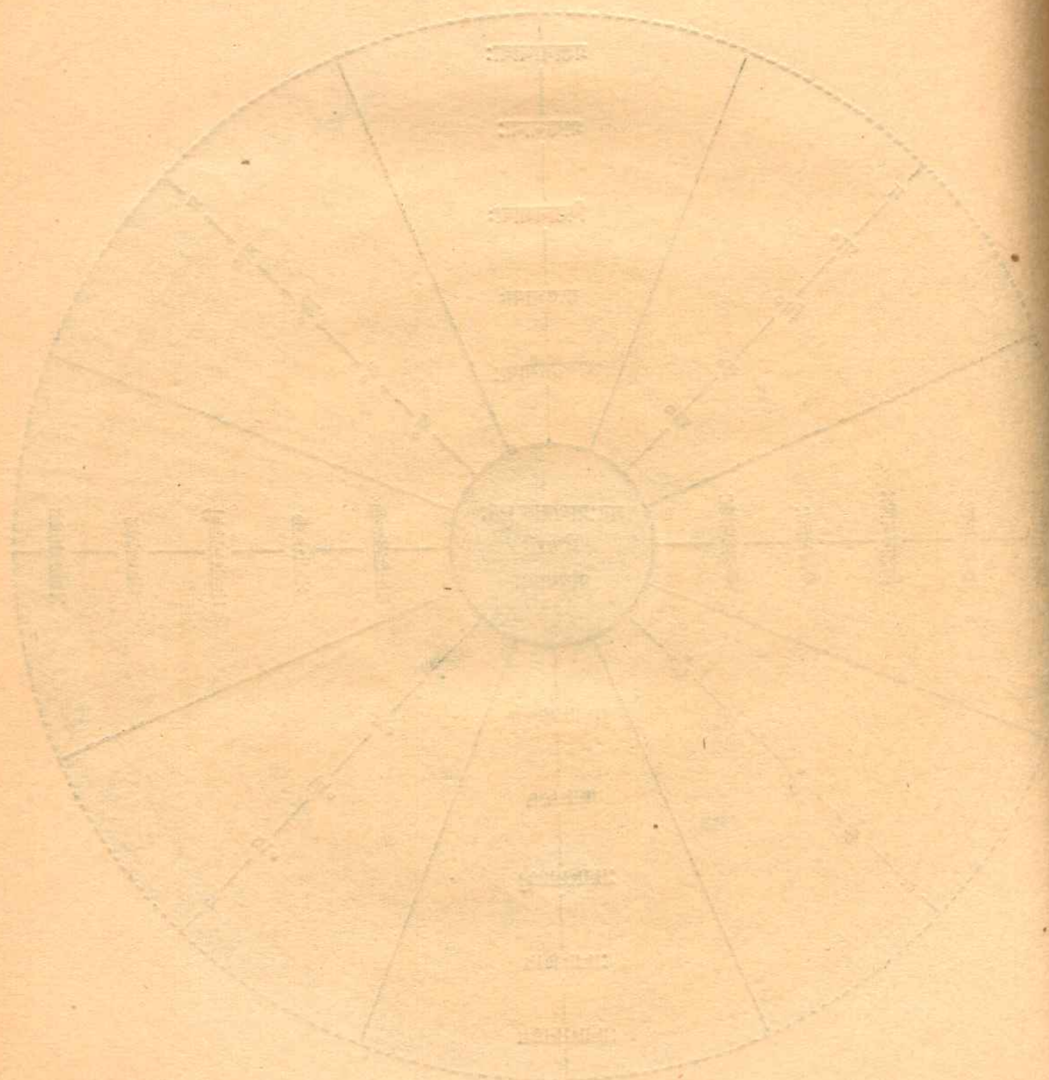
१-सगुणः षोडशीप्रजापतिः परमात्मा
सहस्रवल्शेश्वरः (अक्षरः)
(भक्तिमार्गाधिष्ठाता)





२-उद्गीथोङ्कारः **आध्यात्मिकः— सर्वेश्वरः** १-सगुणः षोडशीप्रजापतिः प्रत्यगात्मा
सहस्रभावात्मकः (अक्षरः)
(योगमार्गाधिष्ठाता)

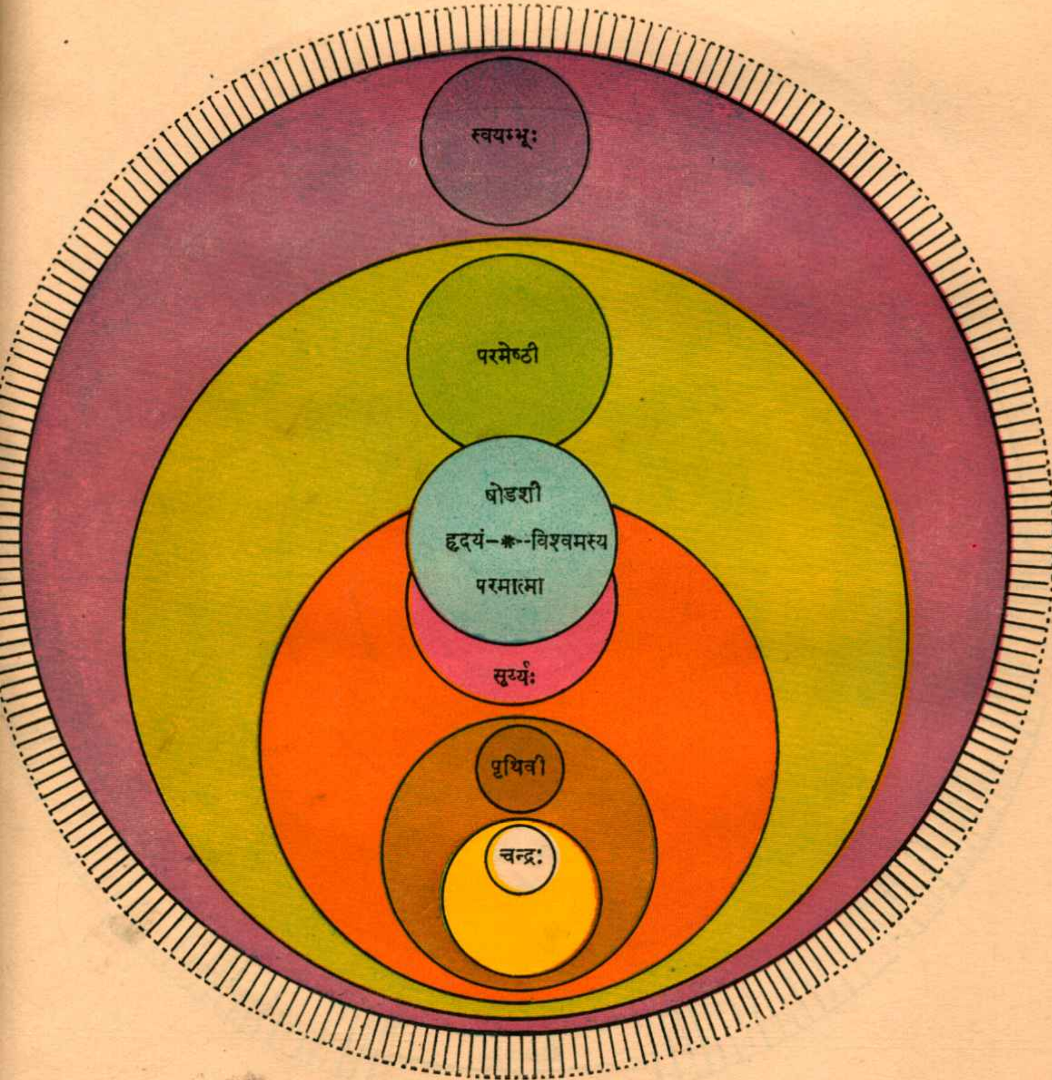


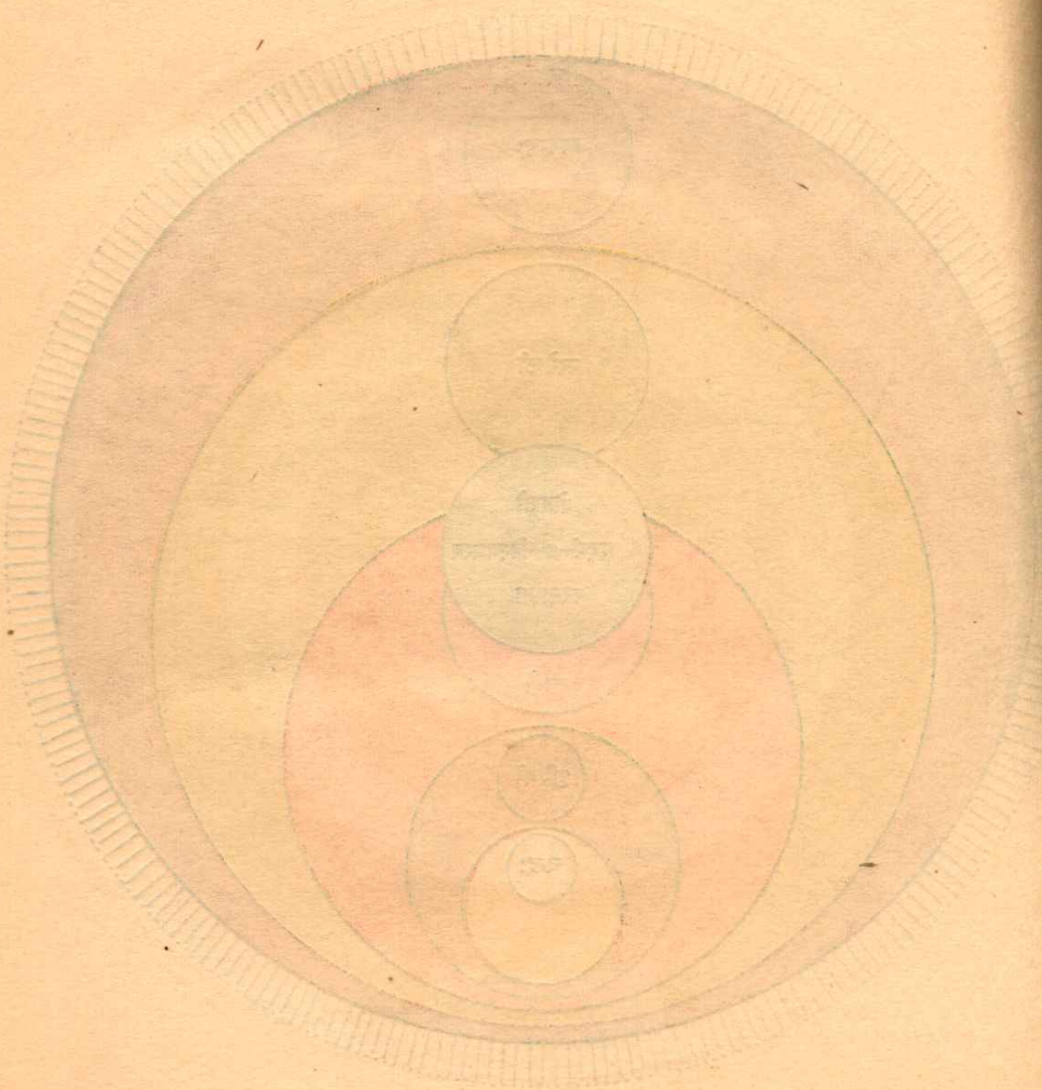


१ प्रणवोङ्कारः
पूर्णेन्द्रः–

आधिदैविक- बल्शेश्वरः

१-सविकारो यज्ञमूर्तिः परमप्रजापतिः
पञ्चपुण्डीरात्मकः (आत्मक्षरः)
(कर्म्मयोगाधिष्ठाता)



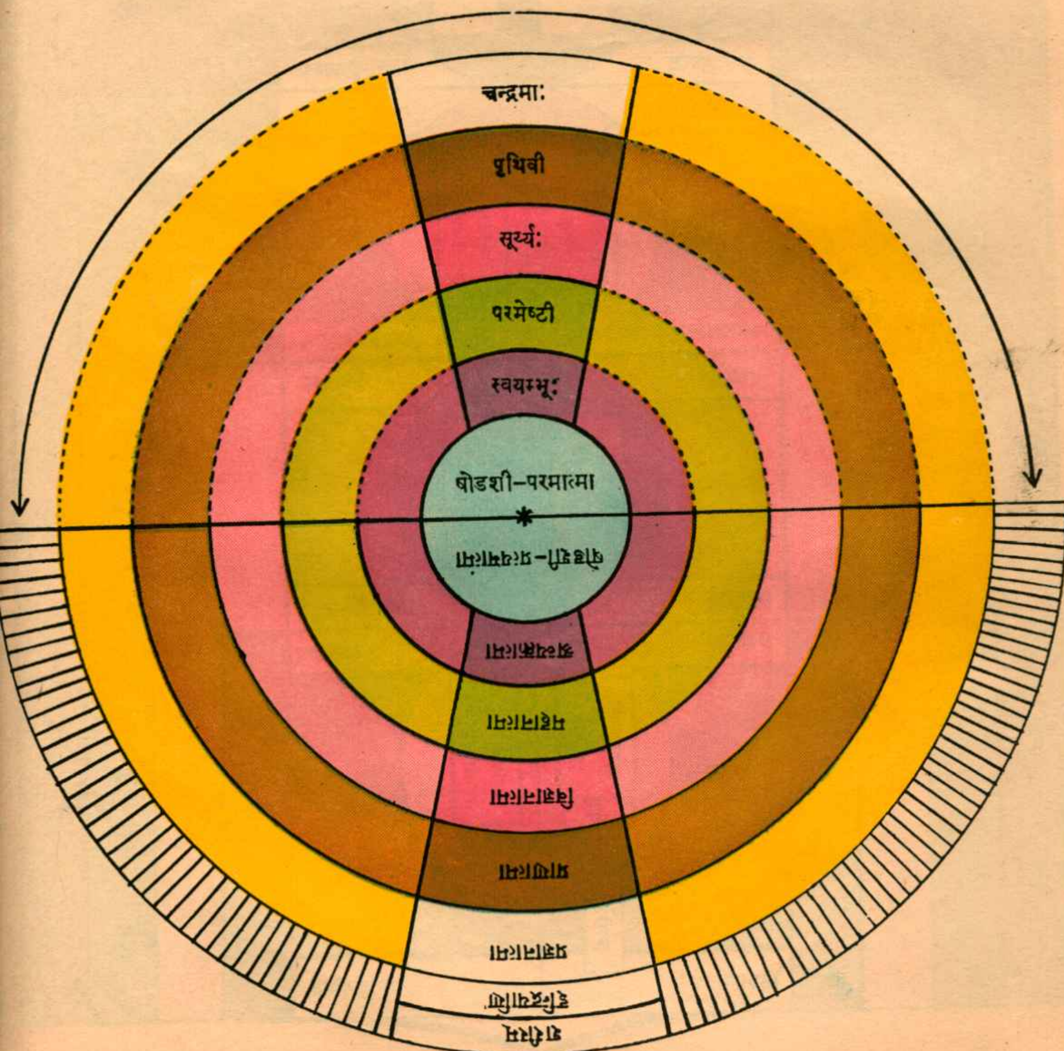


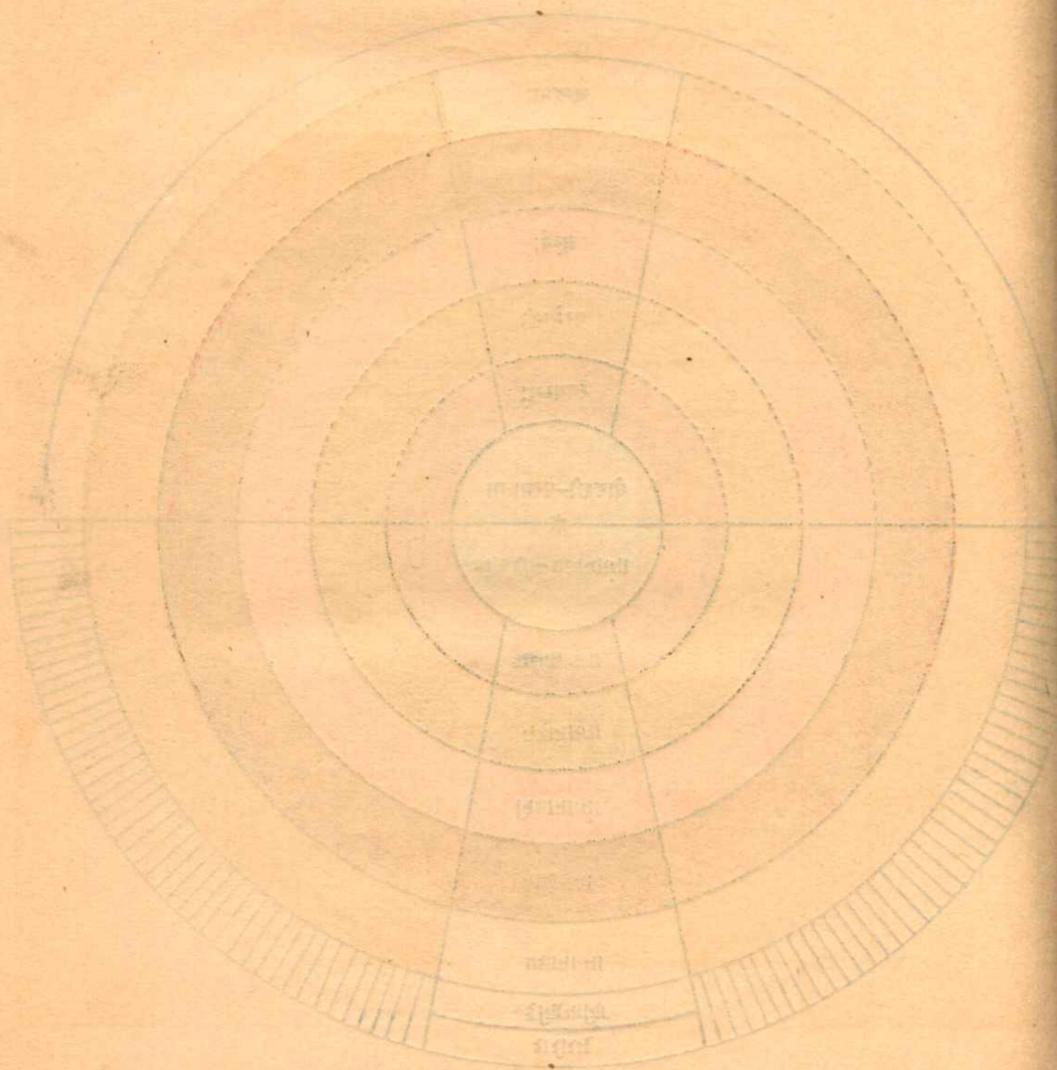
२-प्रणवोङ्कारः **आध्यात्मिकः-बल्शेश्वरः** २-सविकारो यज्ञमूर्तिः परमप्रजापतिः

पञ्चात्मकः (आत्मक्षरः)

(ज्ञानयोगाधिष्ठाता)

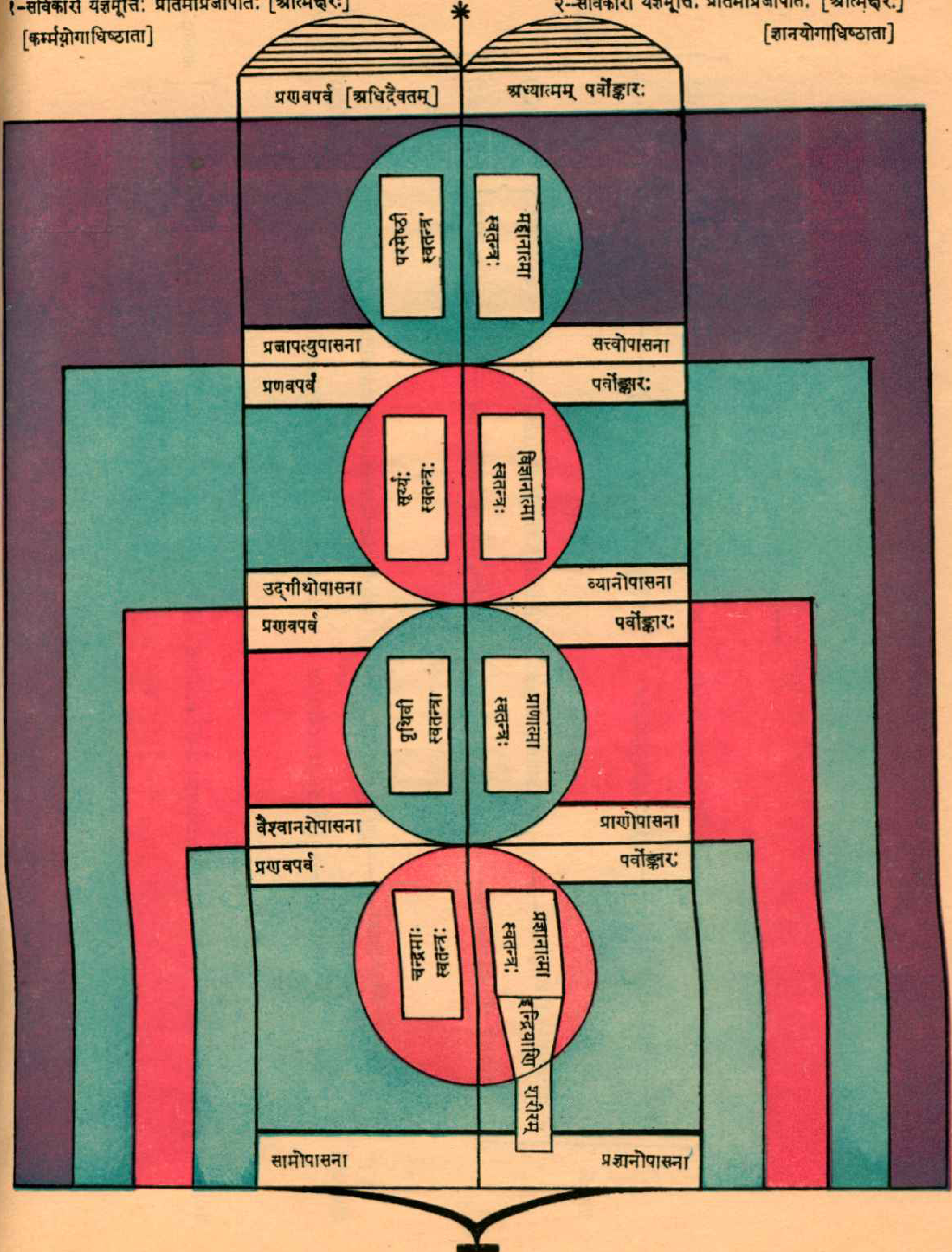
अर्द्धेन्द्रः--





१-पर्वोङ्काराः * आधिदैविक-प्रतिमेश्वराः *
१-सविकारो यज्ञमूर्त्तिः प्रतिमाप्रजापतिः [आत्मक्षरः]
[कर्म्मयोगाधिष्ठाता]

२-पर्वोङ्काराः *आध्यात्मिक-प्रतिमेश्वराः *
२-सविकारो यज्ञमूर्त्तिः प्रतिमाप्रजापतिः [आत्मक्षरः]
[ज्ञानयोगाधिष्ठाता]



प्रकारान्तरेण—

- **उपनिषत्**
  - १–युक्तमार्गः—सर्वात्मकोऽसर्वात्मकः–सर्वसंग्रहात्मकोऽसंग्रहात्मकः (सर्वात्मिका–अव्ययानन्यता) —— सर्वोङ्कारः (बुद्धियोगः) } अव्ययः

- **आरण्यक** } षोडशी प्रजापतिः
  - १–भक्तिमार्गः–आधिदैविकः——विशुद्धलोकसंग्रहात्मकः (आधिदैविकसहस्रवल्शात्मकसर्वेश्वरानन्यता)-उद्गीथोङ्कारः (भक्तियोगः)
  - २–योगमार्गः—आध्यात्मिकः——विशुद्धआत्मसंग्रहात्मकः (आध्यात्मिकसहस्रवल्शात्मकसर्वेश्वरानन्यता)-उद्गीथोङ्कारः (भक्तियोगः)

- **ब्राह्मण** } यज्ञप्रजापतिः
  - १–कर्ममार्गः–आधिदैविकः——विशुद्धलोकसंग्रहात्मकः (आधिदैविकवल्शेश्वरानन्यता) —— प्रणवोङ्कारः (कर्मयोगः)
  - २–ज्ञानमार्गः–आध्यात्मिकः——विशुद्धआत्मसंग्रहात्मकः (आध्यात्मिकवल्शेश्वरानन्यता) —— प्रणवोङ्कारः (ज्ञानयोगः)
  - १–कर्ममार्गः–आधिदैविकः——विशुद्धलोकसंग्रहात्मकः (आधिदैविकप्रतिमेश्वरानन्यता) —— पर्वोङ्कारः (कर्मयोगः)
  - २–ज्ञानमार्गः–आध्यात्मिकः——विशुद्धआत्मसंग्रहात्मकः (आध्यात्मिकप्रतिमेश्वरानन्यता) —— पर्वोङ्कारः (ज्ञानयोगः)

३६१–'बुद्धि-भक्ति-कर्म्म-ज्ञान'-चतुष्टयी से अनुप्राणित उपासनाप्रकार, एवं तदनुगत उपासनास्वरूप-समन्वय—

बुद्धि–भक्ति–कर्म्म–ज्ञान, प्रधानरूप से ये चार ही विवर्त्त हैं। इन चारों का क्रमशः **अव्यय, षोडशी, यज्ञप्रजापति** इन तीन आत्मसंस्थाओं से सम्बन्ध है। अव्ययमूलक बुद्धियोग का यद्यपि पूर्व में एक ही प्रकार बतलाया गया है। तदपि जैसाकि पूर्व परीक्षा–प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है, इसके भी **युक्त–युक्ततम** भेद से दो मार्ग होजाते हैं।

३६२–ज्ञान-कर्म्म-मय 'उपास्य' के तात्त्विक-स्वरूप का संस्मरण—

उलझन में पड़ने की कोई बात नहीं है। विषय थोड़ा दुरूह अवश्य है। किन्तु थोड़े से अवधान से सभी का समन्वय होजाता है। इन तीनों उपास्यों के आधार पर ही चतुर्विध उपासनामार्गों के आगे जाकर आठ विवर्त्त होजाते हैं। सात विवर्त्तों का तो पूर्व के परिलेखों से स्पष्टीकरण हो ही चुका है। अब इसीमें अव्ययात्मानुगत युक्ततम बुद्धियोग का समावेश और कर दीजिए। आठ मार्ग होजाँयगे। इन आठों मार्गों की उपनिषत् (मूलप्रतिष्ठा) है—"**ज्ञानकर्म्ममय–आत्मा**"। क्योंकि परिग्रहों के सम्बन्ध–तारतम्य से ज्ञानकर्म्ममय उपास्य के आठ विवर्त्त होजाते हैं, अतः उपासना के भी आठ मार्ग होजाते हैं।

३६३–विद्यासापेक्ष, विद्यानिरपेक्ष, लोकसापेक्ष-सत्कर्म्मों से अनुप्राणित 'कर्म्ममार्ग' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

इन आठों हीं उपासनाओं के **ज्ञान**, एवं **कर्म्म** का परमार्थतः स्वरूप एक ही है। केवल लक्षीभूत उपास्य के स्वरूपों में भेद है। अतएव उपासना के फल विभिन्न होजाते हैं। शास्त्रसिद्ध **यज्ञ–तपो–दान**-लक्षण **विद्यासमुच्चित कर्म्म, इष्ट–आपूर्त्त**–दत्त–लक्षण—**विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्म, शिष्टजनसम्मत लोकसंग्राहक कर्म्म, कुलदेवतानुबन्धी कुलकर्म्म, लोकाचार, देशाचार, जात्याचारमूलक लोक–देश–जाति–कर्म्म**, इन सब सत् कर्म्मों की समष्टि ही कर्म्ममार्ग है।

३६४–बहिर्मुखप्रवृत्त्यनुगत कर्म्ममार्ग, एवं अन्तर्म्मुखप्रवृत्त्यनुगत ज्ञानमार्ग—

शास्त्रसिद्ध योगधारण, नैष्कर्म्यलक्षण आत्मचिन्तन ही ज्ञानमार्ग है। **बहिर्मुख–प्रवृत्ति कर्म्ममार्ग है**, एवं **अन्तर्मुखप्रवृत्ति ज्ञानमार्ग है**। दोनों हीं मार्ग अभ्युदय-निःश्रेयस् के साधक हैं।

३६५–बुद्धियोगात्मिका उपासना के अभ्युदय-निःश्रेयस्-संसाधक सर्वथा विभक्त दो पथ–

यदि आत्मकाम, किंवा अकामभाव से उक्त ज्ञानकर्म्मों में मनुष्य (केवल कर्त्तव्यबुद्धया) प्रवृत्त रहता है, तो यह उपासना "**बुद्धियोगोपासना**" कहलाती है। इस मार्ग में यदि उदासीनवदासीनलक्षण सहयोग है, तब तो इसे **युक्तमार्ग**, किंवा **युक्तोपासना (युक्तबुद्धियोग)** कहा जायगा, और यही मार्ग **बुद्धियोगानुबन्धी ज्ञानमार्ग** कहलाएगा। यदि मानस–श्रद्धापूर्वक सहयोग है, तो इसे **युक्ततममार्ग**, किंवा **युक्ततमोपासना (युक्ततम बुद्धियोग)** कहा जायगा, और बुद्धियोगानुबन्धी यही दूसरा मार्ग "**कर्म्ममार्ग**"

कहलाएगा। इसप्रकार केवल वृत्तिभेद से बुद्धियोगात्मिका निर्गुण-उपासना के **ज्ञानात्मक युक्तमार्ग**, एवं **कर्म्मात्मक युक्ततममार्ग**, ये दो भेद होजायँगे।

३६६–भक्तिपथानुबन्धी कर्म्ममार्ग, एवं योगपथानुबन्धी ज्ञानमार्ग का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं तदनुप्राणित निष्कामभाव—

दूसरा आत्मविवर्त्त षोडशीप्रजापति (ईश्वर-सहस्र ल्शेश्वर) है। कर्म्म-ज्ञान वे ही हैं, जो पूर्व में बतलाए गए हैं। यदि आधिदैविक ईश्वरानन्यता-पूर्वक कर्म्ममार्ग का परिग्रहण है, तब तो यह कर्म्मयोग **ईश्वरोपासनात्मक भक्तियोग** है। यदि आध्यात्मिक ईश्वरानन्यता-पूर्वक ज्ञानमार्ग का परिग्रहण है, तो मन्त्र-लय-हठ-योगात्मक यह योग **आत्मोपासनात्मक योग** है, और यही इस भक्तिपथ का ज्ञानयोग है। भक्तिमार्ग कर्म्ममार्ग है, योगमार्ग ज्ञानमार्ग है। यहाँ दोनों हीं में निष्कामभाव नितान्त अपेक्षित है।

३६७–यज्ञोपासनारूप ज्ञानमार्ग का स्वरूप-समन्वय—

तीसरा आत्मविवर्त्त यज्ञप्रजापति (उपेश्वर-एकबल्शेश्वर) है। कर्म्मज्ञान वे के वे ही हैं। यदि आधिदैविक बल्शेश्वरानन्यता-पूर्वक कर्म्ममार्ग का परिग्रहण है, तो यह **यज्ञेश्वरोपासनारूप कर्म्ममार्ग** है। यदि आध्यात्मिक बल्शेश्वरानन्यतापूर्वक ज्ञानमार्ग का परिग्रहण है, तो यह **यज्ञात्मोपासनारूप ज्ञान-मार्ग** है।

३६८–यज्ञप्रतिमोपासनारूप कर्म्ममार्ग का स्वरूप--समन्वय—

इसी **यज्ञप्रजापति** के गर्भ में (तद्रूप ही) चार **प्रतिमाप्रजापति** और प्रतिष्ठित हैं। इन चारों के भी आधिदैविक-आध्यात्मिक भेद से दो दो रूप हैं, जैसाकि पूर्वपरिलेखों में से सर्वान्त के परिलेख से स्पष्ट है। कर्म्म-ज्ञान-वे के वे ही रहेंगे। यदि आधिदैविक प्रतिमेश्वरों में से किसी एक की (**उद्गीथ की, साम की, वैश्वानर की**, गायत्र की, किसी भी एक की) अनन्यता से युक्त होकर उपासक कर्म्म में प्रवृत्त रहता है, तो **यज्ञप्रतिमेश्वरोपासनारूप यह मार्ग कर्म्ममार्ग कहलाएगा**, एवं यही आधिकारिक आधि-दैविक अचेतन-जीवोपासना (सूर्य्य-चन्द्रादि प्रकृतिपर्वोपासना) कहलाएगी।

३६९–अष्टविध उपास्यदेवता, अष्टविध--उपासनामाध्यम, एवं तन्निबन्धन अष्टविध उपासकवर्ग का तालिका माध्यम से तात्त्विक-स्वरूप--समन्वय—

यदि आध्यात्मिक प्रतिमेश्वरों में से किसी एक की (**व्यान की, स्वर की, षडङ्गवैश्वानर की, प्रज्ञान की, विज्ञान की, महान् की** किसी भी एक की) अनन्यता से युक्त होकर उपासक ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त रहता है, तो खण्डात्मप्रतिमेश्वरोपासनारूप यह मार्ग **ज्ञानमार्ग** कहलाएगा, एवं यही आधिकारिक आध्यात्मिक अचेतन जीवोपासना (**व्यान-स्वर-वैश्वानर-प्रज्ञान** आदि पर्वोपासना) कहलाएगी। इस प्रकार केवल [१]**उदासीन अव्यय**, [२]**श्रद्धायुक्त अव्यय**, [३]**आधिदैविक सहस्रबल्शेश्वर**, [४]**आध्यात्मिक सहस्रबल्शेश्वर**, [५]**आधिदैविक बल्शेश्वर**, [६]**आध्यात्मिक बल्शेश्वर**, [७]**आधिदैविक प्रतिमेश्वर**,

[8]आध्यात्मिक प्रतिमेश्वर इन आठ उपास्यों को लक्ष्य में रखने वाले, [1]आत्मकाम, [2]अकाम, [3]निष्काम, [4]ईश्वरकाम, [5]प्रवृत्तिकाम, [6]निवृत्तिकाम, [7]कर्म्मकाम, [8]ज्ञानकाम इन भावों से युक्त उपासनामार्ग ८ भागों में विभक्त होजाते हैं ।

४००–अष्टविध उपासनामार्गों से अनुप्राणित ज्ञान–कर्म्म–भावों का समानानुबन्धत्त्व, एवं 'उपासना' का स्वरूप–समन्वय—

इन आठों में कर्म्ममार्ग विशेष है, ज्ञानमार्ग सामान्य है । कारण–सभी कर्म्ममार्गों में लोकसंग्रह है, एवं सभी ज्ञानमार्गों में लोकसंग्रह का अभाव है । तत्तत्–ज्ञान–कर्म्म–मार्गों से तत्तत्–आत्मभावों की सम्पत्ति स्वतः एव प्राप्त होजाती है । **इस आत्मभाव–प्राप्ति का ही नाम उपासना है** । और उपासना के पारमार्थिक ये ही आठ मार्ग बनसकते हैं ।

वेदसिद्धाः–उपासनामार्गाः —

अव्ययः (ज्ञानम्) (अव्ययः)
- १–१ श्रद्धायुक्तः–अव्ययः—अकामः—युक्ततममार्गः— विशेषः (युक्ततमः)
- २–२ उदासीनः–अव्ययः—आत्मकामः–युक्तमार्गः—सामान्यः (योगी)

[1]बुद्धियोगः (उपनिषदि)

——*——

षोडशी (भक्तिः) (अक्षरः)
- १–३ आधिदैविक–सहस्रवल्शेश्वरः–निष्कामः–भक्तिमार्गः-विशेषः (भक्तः)
- २–४ आध्यात्मिक–सहस्रवल्शेश्वरः-ईश्वरकामः–योगमार्गः-सामान्यः (भक्तः)

[2]भक्तियोगः (आरण्यके)

——*——

यज्ञः (कर्म्म) आत्मक्षरः)
- १–५ आधिदैविक–वल्शेश्वरः-प्रवृत्तिकामः–कर्म्ममार्गः—विशेषः (तपस्वी)
- २–६ आध्यात्मिक–वल्शेश्वरः-निवृत्तिकामः-ज्ञानमार्गः—सामान्यः (ज्ञानी)

——*——

- १–७ आधिदैविक–प्रतिमेश्वरः–कर्म्मकामः–कर्म्मगार्गः–विशेषः (तपस्वी)
- २–८ आध्यात्मिक–प्रतिमेश्वरः—ज्ञानकामः–ज्ञानमार्गः-सामान्यः (ज्ञानी)

[3]ज्ञान[4]कर्म्मयोगः (ब्राह्मणे)

——*——

४०१--परमप्रजापति से अनुप्राणित 'ब्रह्मसत्य' तत्त्व, एवं तन्निबन्धना 'ब्रह्मसत्योपासना' का तात्त्विक--स्वरूप--समन्वय—

उक्त आठों विवर्त्तों में से प्रकृत में अन्त के चार विवर्त्तों का यज्ञेश्वरप्रजापति से ही, विज्ञानभाषा के अनुसार **ब्रह्मसत्येश्वर** से ही सम्बन्ध है। इस यज्ञप्रजापति के ही **ब्रह्मसत्य देवसत्य,** ये दो रूप हैं, जैसा कि "यदस्य त्वं यदस्य च देवेषु" (केनोपनिषत्) इत्यादि से स्पष्ट है। **प्राणमय स्वयम्भू, आपोमय परमेष्ठी, वाङ्मय सूर्य्य, अन्नमय चन्द्रमा, अन्नादमयी पृथिवी,** पाँचों की समष्टि ही "ब्रह्मसत्य" है। **परमप्रजापतिरूप, सप्तवितस्तिकायात्मक पञ्चपर्वा यज्ञप्रजापति ही ब्रह्मसत्य है।**

४०२--प्रतिमाप्रजापति से अनुप्राणित 'देवसत्य', एवं तन्निबन्धना--'देवसत्योपासना' का संस्मरण—

इस ब्रह्मसत्य के पार्थिव पर्व से **सर्वज्ञमूर्त्ति इन्द्र, हिरण्यगर्भमूर्त्ति वायु, वैश्वानरमूर्त्ति अग्नि,** इन तीनों देवताओं की समष्टिरूप **विराट्प्रजापति ही देवसत्य है,** जिस की कि उपासना का आगे के **"दर्शनयुगानुगत–उपासनामार्ग"** प्रकरण में स्पष्टीकरण होने वाला है।

४०३--आधिदैविक--आध्यात्मिक--परमप्रजापति, एवं प्रतिमाप्रजापति--निबन्धना उपासना-चतुष्टयी का तात्त्विक स्वरूप--समन्वय—

आधिदैविक पञ्चपर्वा परमप्रजापति तो ब्रह्मसत्य है ही, साथ ही इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाला आध्यात्मिक पञ्चपर्वा परमप्रजापति भी ब्रह्मसत्य ही है। एवमेव आधिदैविक प्रतिमाप्रजापति तो ब्रह्मसत्य का पर्व होने से ब्रह्मसत्य है ही, साथ ही आध्यात्मिक प्रतिमाप्रजापति भी तद्रूप ही माने जायँगे। इसप्रकार– **आधिदैविक परमप्रजापति, आधिदैविक प्रतिमाप्रजापति, आध्यात्मिक परमप्रजापति, आध्यात्मिक प्रतिमाप्रजापति भेद से ब्रह्मसत्यात्मक परमप्रजापति के चार विवर्त्त होजाते हैं।**

४०४--पर्वोङ्कारात्मिका--आधिकारिक--अचेतनजीवोपासना-द्वयी का स्वरूप-समन्वय—

इन चारों में आधिदैविक परमप्रजापति की, एवं आध्यात्मिक परमप्रजापति की उपासना तो **यज्ञप्रजापत्युपासना** कहलाएगी, एवं आध्यात्मिक प्रतिमाप्रजापति की, तथा आधिदैविक प्रतिमाप्रजापति की उपासना आधिकारिक अचेतनजीवोपासना कहलाएगी। आदि की दोनों उपासनाओं की मूलप्रतिष्ठा प्रणवोङ्कार बनेगा। और यह पर्वोङ्कारात्मिका आधिकारिक--अचेतनोपासनाद्वयी प्रणवत्रञ्चिता आधिकारिक--चेतनजीवोपासना (अवतारो--पासना) की अपेक्षा श्रेष्ठ कहलाएगी।

४०५--अवतारोपासना, तथा पर्वोपासना के पौर्वापर्य्यनिबन्धन--स्थानभेदों का प्रासङ्गिक-समन्वय—

पाठकों को स्मरण होगा कि, पूर्व में हमनें यह विप्रतिपत्ति उठाई थी कि–"भक्तियोगात्मक उपासना-प्रकरण का उपसंहार करते हुए अवतारोपासना को तीसरा स्थान दिया गया था, एवं अचेतनजीवोपासना को चौथा।

परन्तु यहाँ अचेतनोपासना को तीसरा, एवं अवतारोपासना को चौथा स्थान दिया गया, ऐसा क्यों ?। इसी विप्रतिपत्ति के निराकरण के सम्बन्ध में प्रसङ्गवश उपासना के ८ विवर्त्त पाठकों के सम्मुख उपस्थित किए गए। इस निरूपण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, **पर्वोङ्कारात्मिका अचेतनजीवोपासना** अवतारोपासना की अपेक्षा श्रेष्ठ बनती हुई अवश्य ही तीसरा स्थान पाने का अधिकार रखती है, एवं अवतारोपासना चौथा स्थान।

४०६--प्रणवोङ्कारशून्या, प्रकृतिभावनिबन्धना-लौकिकी--प्राकृतिकी-आदर्शात्मिका उपासना का स्वरूप-समन्वय—

अचेतनजीवोपासना का दूसरा प्रकार है–ओङ्काररहित। न इस उपासना का ज्ञान–कर्म्म शास्त्रीय है, न ईश्वरभाव है। अपितु यह उपासना केवल आदर्शमूला है। जो नास्तिक ईश्वरसत्ता पर विश्वास न कर केवल प्रकृति को ही सर्वेसर्वा मानते हैं, उन्हें चाहिए कि, वे प्रकृति के पर्वरूप आधिकारिक सूर्य्य–चन्द्रादि अचेतन जीवों के आदर्श को सामने रखते हुए ऐसे लौकिक कर्म्मों में प्रवृत्त रहें, जिन में प्रकृतिपर्ववत् अपना वैय्यक्तिक स्वार्थ न हो, केवल लोकाभ्युदय (विश्वशान्ति) ही लक्ष्य हो। आदर्शमूला लौकिक-ज्ञानकर्म्ममयी यही उपासना–अचेतन जीवोपासना का दूसरा प्रकार कहलाएगा, और इसी को हमनें अवतारोपासना की अपेक्षा चौथा स्थान दिया है।

४०७--आदर्शमूला लौकिक उपासना के लोकभावों का लोकनिबन्धन उपयोगी–अनुपयोगी-दृष्टिकोण—

इस आदर्शमूला उपासना के भी ज्ञान, कर्म्म, भेद से दो ही विवर्त्त होजाते हैं। जो लौकिक मनुष्य मानवसमाज के अभ्युदय को लक्ष्य में रखते हुए मनोयोगपूर्वक वैज्ञानिक आविष्कारों के चिन्तन में संलग्न रहते हैं, वे **ज्ञानयोगी** कहलाएगें। एवं इन ज्ञानियों के (वैज्ञानिकों के) द्वारा आविष्कृत आविष्कारों का लोकाभ्युदय की दृष्टि से संसार में प्रचार–उपयोग करने वाले कर्म्मयोगी कहलाएँगे। इन **आविष्कारक ज्ञानियों**, एवं **प्रचारक कर्म्मठों** को प्रत्येक दशा में यह ध्यान रखना पड़ेगा कि, हमारा यह आविष्कार, और प्रचार लोकाभ्युदय (विश्वशान्ति) के स्थान में कहीं विश्वसंहारक तो नहीं बन रहा। हमारे आविष्कार दुष्टों का दमन करें, अन्याय पर प्रतिबन्ध लगावें, विश्वशान्ति में उपयुक्त बनें, यही लौकिक ज्ञानकर्म्ममयी आधिकारिक–अचेतनजीवोपासना कहलाएगी। और इसी परमार्थभाव से ऐसे लौकिक ज्ञानी (वैज्ञानिक), एवं कर्म्मठ भी परम्परया लोकयज्ञ के द्वारा **विश्वयज्ञ** के, एवं तद्द्वारा **यज्ञेश्वर** के उपासक बनते हुए बन्धन से मुक्त हो जायँगे–"**लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि**"।

४०८--प्रकृतिविमूढ प्राकृत नष्टचेता मानवों का स्वरूपेतिवृत्त—

ठीक इसके विपरीत जो मूढधी अहर्निश प्रकृति का यशोज्ञान करते हुए, ईश्वरसत्ता पर अणुमात्र भी विश्वास न रखते हुए अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए, निर्बलों के ईश्वरप्रदत्त, किंवा प्रकृतिप्रदत्त प्रातिस्विक भागधेयों को हड़पनें के लिए नित्य नवीन नवीन सांघातिक आविष्कार करते रहते हैं, अहोरात्र इन्हीं के प्रयोग का अवसर ढूँढते हुए अपनी पैशाचिकी–उद्दाम–वासना को शान्त करने का जघन्य प्रयास करते रहते हैं, वे

लोकशत्रु बनते हुए अवश्य ही प्रकृति के भी शत्रु हैं। प्रकृति का नाममात्र लेने वाले, किन्तु प्रकृति के विश्वशान्तिमूलक आदर्श से सर्वथा ही वञ्चित ये कामकामी अपना क्षणिक परितोष करते हुए अन्त में अपना समूल नाश ही करा बैठते हैं-"**विद्धि नष्टानचेतसः**"। प्रकरण-सम्बन्ध की दृष्टि से यहाँ इसे उद्धृतमात्र कर दिया है। वस्तुतः इस का स्थान चौथी अवतारोपासना के अनन्तर ही समझना चाहिए।

४०६–"वैदिक-प्रतिमोपासना" का स्वरूप-संस्मरण—

प्रकृत प्रकरण से वक्तव्य केवल यही था कि–आधिदैविक पर्वोङ्कारमूलक कर्मात्मक (आधिभौतिक यज्ञकर्म्मात्मक) उपासनामार्ग, आध्यात्मिक पर्वोङ्कारमूलक ज्ञानात्मक (आध्यात्मिक यज्ञकर्म्मरूप) योगमार्ग, इन दो विधाओं को अपने गर्भ में रखने वाली उपासना ही "**वैदिक आधिकारिक अचेतनजीवोपासना**" (जिसे कि विज्ञानभाषा में हम "**वैदिक–प्रतिमोपासना**" कहेंगे) है। यही यज्ञेश्वरप्रजापति की उपासना का प्रकारद्वयात्मक तीसरा प्रकार है।

—३—

४–आधिकारिक चेतनजीवोपासना [अवतारोपासना]—

[विशुद्ध–पौराणिकी]

४१०–सर्वोच्चधरातलात्मिका बुद्धियोगात्मिका उपासना का स्वरूप-संस्मरण—

विशुद्ध अव्ययनिष्ठा से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धियोगात्मिका उपासना का धरातल सब से ऊँचा है। इसका अनुगमन करते हुए तो शास्त्रीय–अशास्त्रीय, सब प्रकार के ज्ञान-कर्म्मों का अनुगमन करता हुआ उपासक विदेहमुक्त है। इस उपासना में शास्त्रमर्यादा पर विशेष लक्ष्य नहीं है। यहाँ तो केवल अव्ययानन्यता ही अपेक्षित है। यदि वह है, तो–"**निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः, को निषेधः**"। और भगवान् ने अर्जुन के प्रति "**निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !**" "**योगः कर्म्मसु कौशलम्**"–"**स मे युक्ततमो-मतः**"–**तस्माद्योगाय युज्यस्व**"–"**तस्माद्योगी भवार्जुन !**" इत्यादिरूप से इसी सिद्धान्त को सामने रक्खा।

४११–बुद्धियोगनिष्ठ योगी की 'शास्त्ररूपता' का समन्वय, एवं तदाचरण की स्वयं-शास्त्रीयता, तथा तदनुबन्धी रहस्यात्मक गुप्त–लोकशिक्षण—

गीता के उक्त सर्वोच्च सिद्धान्त पर यदि कोई यह आक्षेप करे कि, जब शास्त्रविरूद्ध ज्ञान–कर्म्म प्रकृति के विरूद्ध हैं, एवं प्रकृति के विरूद्ध जाना कभी अभ्युदय का कारण नहीं बन सकता, तो इस सम्बन्ध में हमें कहना पड़ेगा कि अभी उन्होंने भगवन्निष्ठा का मर्म्म नहीं समझा। "**बुद्धियोगी के लिए शास्त्रीय–अशास्त्रीय सब ज्ञान कर्म्म एक धरातल पर प्रतिष्ठित हैं**" इसका तात्पर्य्य यही है कि, ऐसा योगी **स्वयं ही शास्त्र बन जाता है, स्वयं ही प्रकृति बन जाता है**। शब्दसंग्रहात्मिका परिच्छिन्ना शास्त्रमर्य्यादा से विमुक्त जगदीश्वर का प्रत्येक ज्ञान–कर्म्म जिसप्रकार लोकाभ्युदयकर ही सिद्ध होता है, एवमेव बुद्धियोगी

की प्रत्येक चर्य्या से भूतमात्र का अभ्युदय ही होता है। यदि वह मद्यपान करता है, तो इसमें भी कोई गुप्त लोक-शिक्षण छिपा हुआ है। यदि वह कोई और दुराचार करता है, तो उसमें भी कोई आदेश ही प्रतिष्ठित है। दूर जाने की क्या आवश्यकता है। स्वयं बुद्धियोगाचार्य्य श्रीकृष्ण की लीलाओं से ही सब कुछ स्पष्ट होजाता है।

४१२--भगवान् कृष्ण की रहस्यपूर्ण लीलाएँ—

कृष्णलीलाओं में सुप्रसिद्ध **"चीरहरणलीला"**--**"रासलीला"** इन दो लीलाओं पर आज का सभ्यताभिमानी पश्चिमोच्छिष्टभोगी भारतीय समाज नाक-भौं-सिकोड़ा करता है, और बड़े अभिमान के साथ कहा करता है कि, "कृष्णने कभी उक्त लीलाएँ नहीं कीं। भला जिस योगेश्वर ने गीता जैसे अपूर्व ज्ञान से विश्व को धन्य बना दिया, वह स्त्रियों को नग्न करेगा, एवं स्त्रियों के साथ नाचेगा, यह कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा ?। अवश्य ही यह पुराण की पोपलीलामात्र है।"

४१३--भगवान् की मानुषी तनु, और तद्द्वारा स्त्री--शूद्र--वैश्यादि का अभ्युदय—

अस्तु, इन सभी लीलारहस्यों का विवेचन **'श्रीकृष्णतत्त्वविवेचन'** नामक द्वितीय काण्ड में पाठक देखेंगे ही। यहाँ इस सम्बन्ध में यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, भगवान् का अवतार केवल मानव-समाज के बुद्धिजीवी वर्ग के अभ्युदय के लिए ही नहीं होता। सम्भव है, वे गीता के आदेश पर चलते हुए अपना अभ्युदय कर सकें। परन्तु बालक, स्त्री, शूद्र, वैश्य आदि जिन जीवों में शास्त्रनिष्ठा की योग्यता नहीं है, उन सबका भी अभ्युदय अभीष्ट है भगवान् को। **"अनुग्रहाय भूतानां मानुषीं देहमाश्रितः"** ही अवतार का मुख्य लक्ष्य है। और इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए भगवान् को जहाँ सर्वोच्च गीतायोग बतलाना आवश्यक हुआ है, वहाँ तदनधिकारी वर्ग के अभ्युदय के लिए सामान्य लीलाओं में भी प्रवृत्त होना पड़ा है— **"भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्"**।

४१४-चीरहरण, रासविहार, आदि का स्वरूप--सङ्केत—

यमुनाप्रान्त के निवासी स्त्रीपुरुषवर्ग प्रायः नग्न होकर यमुना स्नान करते थे। यह असभ्यपद्धति स्त्रीवर्ग में विशेषरूप से प्रचलित थी। इस दूषित पद्धति के संशोधन के लिए ही चीरहरणलीला हुई है। इस एक ही शिक्षा का समाज पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि, आगे के लिए यह बुरी प्रथा सर्वथा ही हट गई। इसीप्रकार रासलीला **"कामनिग्रहशिक्षण"** के लिए प्रवृत्त हुई है—**"आत्मन्यवरुद्धसौरतः"**।

४१५--परमहंस--वीतराग--योगियों के उन्मत्ताचारों का समन्वय—

तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, पहिले तो बुद्धियोगी से कोई अशास्त्रीय-लोकविरोधी कार्य्य होता ही नहीं। यदि उसमें ऐसे कार्य्य देखे जाते हैं, तो हमें मानना चाहिए कि, अवश्य ही इसमें भी कोई गुप्त रहस्य है, गुप्त आदेश है। स्वयं वेद ने ऐसे परमहंसयोगियों के उन्मत्ताचार को लोकाभ्युदय-मूलक मानते हुए उनका समर्थन ही किया है। देखिए—

(१)-**"अथ परमहंसा नाम संवर्त्तक-आरुणि-श्वेतकेतु-जडभरत-दत्तात्रेय-शुक्र-वामदेव-हारीतक-प्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे (बुद्धियोगे) मोक्षमेव प्रार्थयन्ते।**

वृक्षमूले, शून्यगृहे, श्मशानवासिनो वा, साम्बरा वा दिगम्बरा वा न तेषां धर्म्माधर्म्मौ, लाभालाभौ, शुद्धाशुद्धौ, द्वैतवर्जिताः, समलोष्टाश्मकाञ्चनाः, सर्वत्रात्मैवेति पश्यन्ति"

—भिक्षुकोपनिषत्

(२)–तत्र परमहंसा नाम संवर्त्तक–आरुणि–श्वेतकेतु–दुर्वास–ऋभु–निदाघ–जडभरत–दत्तात्रेय रैवतक–प्रभृतयः–अव्यक्तलिङ्गाः, अव्यक्ताचाराः, अनुन्मत्ताः, उन्मत्तवदाचरन्तः, त्रिदण्डं, कमण्डलुं, शिक्यं पात्रं, जलपवित्रं, शिखां, यज्ञोपवीतं च- इत्येतत्सर्वं 'भूस्वाहा' इत्यप्सु परित्यज्य-आत्मानमन्विच्छेत् ।

—जाबालोपनिषत्

४१६–ज्ञान--कर्म्म--भक्ति-योगात्मिका शास्त्रीय-योगत्रयी से अनुप्राणित 'अधिकारीवर्गों' का स्वरूप--समन्वय, एवं समानाधिकार--मूला गीता की 'बुद्धियोगनिष्ठा' का संस्मरण—

शास्त्रीयमार्ग (शास्त्रीय अक्षरोपासनात्मक, राजयोगात्मक–भक्तिमार्ग, मन्त्र–लय-हठयोगात्मक भक्तिमार्ग, यज्ञदानतपोलक्षण कर्म्ममार्ग, नैष्कर्म्यलक्षण कर्म्ममार्ग) अधिकारमर्य्यादा की अपेक्षा रखते हैं । वर्णाश्रमधर्म्मानुयायी द्विजातिवर्ग ही शास्त्रोय-योगत्रयी (भक्ति–कर्म्म–ज्ञान-योगत्रयी) का अधिकारी है । स्त्री–शूद्र–म्लेच्छादि को इन मार्गों में प्रवृत्त होने का अधिकार नहीं है, जैसाकि "कर्म्मयोगपरीक्षा" प्रकरणान्तर्गत वर्णव्यवस्थाविज्ञान में विस्तार से बतलाया जाचुका है । परन्तु अव्ययमूला बुद्धियोगनिष्ठा का ब्राह्मण--क्षत्रिय–वैश्य-शूद्र–स्त्री–म्लेच्छादि इतर पापयोनियों को, सभी को समानाधिकार है । इस सम्बन्ध में भी शास्त्रनिष्ठ भगवान् की दृष्टि से यह संशोधन कर ही लेना चाहिए कि अव्ययनिष्ठामूलक शास्त्रीय ज्ञान–भक्ति–कर्म्म-योगों का तो एकमात्र द्विजातिवर्ग को ही अधिकार है । अतएव इन्हें अव्ययनिष्ठा का अनुगमन करते हुए भी वर्णोचित शास्त्रीय-निष्ठाओं पर ही यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहना चाहिए ।

४१७–स्त्री--शूद्र--वैश्यादि--अनुगता प्रकृतिसिद्धा कर्म्मविभूति, एवं तद्द्वारा तद्वर्गों की अभ्युदय--निःश्रेयस--संसिद्धि—

इतर–शूद्र-स्त्री–पापयोनि, आदि के जो प्रकृतिसिद्ध सेवा, गृहस्थपरिपालन, देशानुकूलकर्म्म, इत्यादि नियत कर्म्म हैं, उनके अनुगमन से अव्ययानन्यता के द्वारा उद्धार सुलभ है । इन्हें इसी अव्ययानन्यता से वही फल मिल जाता है, जो कि फल शास्त्रनिष्ठ द्विजाति बुद्धियोगी को मिलता है । दोनों समानरूप से "परागगति" (अव्ययगति) के अधिकारी हैं । और इसी दृष्टि से सर्वमूर्द्धन्या यह अव्ययनिष्ठा, किंवा बुद्धियोगनिष्ठा सब के लिए उपकार-प्रवर्त्तिका बन रही है । इसी भाव का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

"मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा" ॥

४१८–बुद्धियोगनिष्ठ धर्म्मव्याधादि की प्रकृतिसिद्धा नियता कर्म्मानुगति, एवं तन्मूला महती संसिद्धि का संस्मरण—

धर्म्मव्याधादि शूद्रमहाभाग स्वकर्म्म में निरत रहते हुए इसी बुद्धियोग के अनुग्रह से मुक्त हुए हैं। अनन्यनिष्ठ निषाद, भीलनी, कुब्जा, मीरा, कबीर, सन्त तुकोबा, भक्तप्रवर चेता आदि की बुद्धियोगानन्यता सुप्रसिद्ध ही है। देवी भारती, गार्गी आदि श्रद्धेया–स्त्रियों के नाम स्मरण से भी कौन अपने को धन्य नहीं मानता ? । इसप्रकार शास्त्रीय दुस्तर, बहुकष्टसाध्य, अधिकार–मर्य्यादा से सर्वथा नियन्त्रित-ज्ञान–कर्म्म–भक्ति-योगों से सर्वथा स्वतन्त्र इस बुद्धियोग का अनुगमन आपामर–आविद्वज्जन सभी को विदेह बना सकता है। और इस सर्वोपकारक मार्ग के आविर्भाव–उपदेश का एकमात्र श्रेय गीताचार्य्य भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के गीताशास्त्र को ही मिला है। परन्तु......... ।

४१९–यज्ञप्रजापत्यनुगता अवतारोपासना का समर्थन, एवं युगधर्म्मनिबन्धन–औपास–निक–मार्गों की लक्ष्यच्युति का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यही 'परन्तु' यज्ञप्रजापति से सम्बन्ध से रखने वाली चौथी "अवतारोपासना" का समर्थक है। जिस बुद्धियोग में न कामभाव हो, न निष्कामभाव हो, हो तो केवल अकामभाव, अधिक से अधिक आत्म–कामभाव, जिसके सम्यगनुष्ठान के लिए सर्वमूलभूत निर्गुण अव्ययात्मा का परिज्ञान अपेक्षित हो, सामान्य स्त्री–शूद्र–वैश्यों की कौन कहे, ज्ञानाधिष्ठाता ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्ग के लिए भी यह योग एक जटिल समस्या बन जाता है। इसकी जटिलता का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, देवयुग से आरम्भ कर आज पर्य्यन्त परिगणित [इने गिने] महापुरुष ही इस में सफलता प्राप्त कर सके हैं। दूसरा प्रमाण यही है कि, जनसाधारण में इस योग का प्रचार बहुत ही कम रहा है। महभारत जैसे विद्यावैभवकाल में भी यह योग विलुप्त था। फिर आज के उस युग की तो कथा ही छोड़िए, जहाँ शास्त्रानभिज्ञ, मन्दमति स्वार्थपरायण वे व्यक्ति भी, जिन्हें वैदिक–आत्मा-परमात्म-तत्त्वों का लेश भी परिज्ञान नहीं है, निर्गुण उपासना का डिण्डिमघोष करते हुए लज्जा का अनुभव नहीं कर रहे ।

४२०–बुद्धियोग की जटिलता का स्वरूपोद्घाटन, सुगमतम भी बुद्धियोग की युगधर्म्म–व्यामोहनानुगता महती जटिलता, एवं अवतारोपासना के माध्यम से तन्निराकरण-प्रयास—

इसका यह तात्पर्य्य तो नहीं है कि, बुद्धियोग एक महाजटिल मार्ग है। जटिल-समस्या अवश्य है, परन्तु मार्ग तो अतिशय सुगम ही है। थोड़े अभ्यासमात्र की अपेक्षा है । यदि यह दुस्तरमार्ग होता, तो

इसके लिए असंदिग्धरूप से भगवान् के मुख से–"येऽपि युः पापयोनयः"–"अपि चेत् सुदुराचारः" ये अक्षर नहीं निकलते। **बुद्धियोग जटिल पथ है, अथवा सुगम ?**, इस प्रश्न की मीमांसा आगे आने वाले **"बुद्धियोगपरीक्षा"** प्रकरण में की जाने वाली है। अतः यहाँ विस्तार की अपेक्षा नहीं है। यहाँ तो हमें यही निवेदन करना है कि, स्वस्वरूप से सुगमतम रहता हुआ भी बुद्धियोग सामयिक प्रवाह के द्वारा, एवं सहजसिद्ध त्रिगुण–विस्तार के द्वार क्लिष्टतम बना दिया जाता है। वैसे बिना आत्मस्वरूप के (उस सुसूक्ष्म तत्त्व के परिज्ञान के भी) बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त की जासकती है, और अवश्य की जासकती है। फिर भी यह तो मानना हीं पड़ेगा कि, मानवसमाज के बुद्धिदोष से एक रहस्यमय जटिल समस्या बनता हुआ ही बुद्धियोग स्त्री–शूद्र–पापयोनियों को वञ्चित रख देता है। द्विजातिवर्ग बिना भी बुद्धियोग के शास्त्रनिष्ठ भक्ति–ज्ञान–कर्म्म–योग में निष्कामभाव से प्रवृत्त रहता हुआ परम्परया बुद्धियोग प्राप्त करता हुआ (**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते**) मुक्त होसकता है। परन्तु जिन स्त्री–शूद्र–पापयोनियों को न तो सामयिक परिस्थितिदोष से बुद्धियोग का परिज्ञान है, एवं न इन्हें शास्त्रसिद्धा योगत्रयी के आचरण का ही अधिकार है, इन के अभ्युदय का कौन सा उपाय ?, बस इसी प्रश्न का समाधान है—**"अवतारोपासना"**,—**"पौराणिक मार्ग"**।

४२१–'द्विजबन्धु' स्वरूप दिग्दर्शन, श्रुतिपथ में अनधिकृत द्विजबन्धु–आदि वर्ग, एवं तदभ्युदयानुगत पौराणिक–अवतारोपासना–पथ का संस्मरण—

ऐसे क्षत्रिय–जो जन्म से मूर्ख रहे हैं, ऐसे ब्राह्मण–जो विद्याशून्य हैं, ऐसे वैश्य-जो अर्थकुचक्र में चक्रायित बन कर आत्म-परमात्म-विवेक से वञ्चित हैं, **"द्विजबन्धु"** कहलाए हैं। ये द्विज नहीं हैं, अपितु द्विजाति के भाई बन्धु हैं, अर्थात् नाममात्र के द्विजाति हैं। द्विजबन्धुलक्षण ऐसा द्विजातिवर्ग **अविद्यावश**, एवं स्त्री–शूद्र–पापयोनिवर्ग **अनधिकारवश** शास्त्रीय योग का अनुष्ठान करने में असमर्थ है। दूसरे शब्दों में–त्रयीसम्मत पूर्वोक्त आठों शास्त्रीय उपासनामार्गों से अपरिचित है। इसी के अभ्युदय के लिए भगवान् व्यासदेव की अनुकम्पा से **पुराण**, एवं तत्प्रतिपाद्य **अवतारोपासना** का जन्म हुआ है, जिसके कि सम्बन्ध में निम्न लिखित सूक्ति सुप्रसिद्ध है—

"स्त्री–शूद्र–द्विज–बन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा"।

४२२–'त्रयी न श्रुतिगोचरा' का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय, एवं श्रुतिप्रमाणाधारेण प्रतिष्ठित पुराणशास्त्र के प्रामाणिक पथ का संस्मरण—

सचमुच यह बड़े ही खेद का विषय है कि, हम अपनी मूर्खता से महर्षियों के उपकार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के स्थान में कृतघ्नता प्रकट करते हुए आज अपना सर्वनाश ही करा रहे हैं। मनोवशवर्त्ती भावुक मानव कहा करते है कि, जब वेद ईश्वरीय ज्ञान है, तो मनुष्यमात्र को उसका अधिकार क्यों नहीं ?। क्यों स्त्री-शूद्रों को वेदमार्ग से वञ्चित रक्खा जाय ?। इस सम्बन्ध में यही प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण पर्य्याप्त होगा कि, अधिकारी-भेद की मर्य्यादा के आधार पर ही प्रकृतिभेद प्रतिष्ठित है। ईश्वरी-यज्ञानरूप वेदशास्त्र में कैसी योगत्रयी का विधान हुआ है, यदि इसका उन्हें थोड़ासा भी आभास होजाता, तो सम्भवतः वे **"स्त्रीशूद्रौ ना–**

धीयाताम्" इस श्रुतिमूलक "त्रयी न श्रुतिगोचरा" इस आदेश की कुत्सित समालोचना नहीं करते। वेद की बात तो बहुत दूर है, आज तो हमें यह कहने में भी सङ्कोच नहीं होरहा कि, आजका स्त्री-शूद्रवर्ग तो क्या, द्विजातिवर्ग भी पुराण के मर्म्मज्ञान से भी सर्वथा वञ्चित है। पौराणिक पथ कोई स्वतन्त्र पथ, किंवा काल्पनिक पथ नहीं हैं। अपितु यह तो उस जटिलमार्ग का ही एक रूपान्तर-सरल मार्ग-है।

४२३-त्रिदेवतानुगता पौराणिकी अवतारोपासना के ज्ञान--कर्म्म-निबन्धन दो प्रधान--विवर्त्त—

अस्तु, किसे किस मार्ग का अधिकार है, ? यह विवेचन अप्रस्तुत है। वक्तव्यांश इतना ही है कि, अवतारोपासना का विकास पुराणों में हीं हुआ है, एवं इस पौराणिकी अवतारोपासना के ब्रह्मा-विष्णु-महेश, प्रधानरूप से ये तीन ही विवर्त्त हैं। यहाँ भी समन्वय ज्ञान-कर्म्म का ही है। और इसी दृष्टि से इस अवतारोपासना के भी पूर्वोपासना की भाँति दो ही भेद हो जाते हैं, जैसाकि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है।

४२४-वैदिक--पञ्चदेवतावाद के आधार पर प्रतिष्ठित पौराणिक त्रिदेवतावाद का स्वरूप-समन्वय—

वैदिक देवोपासना, और पौराणिक देवोपासना का मार्ग यद्यपि भिन्न है, परन्तु लक्ष्य एक ही है। जिस ब्रह्मसत्य का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उसके **स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी**, ये पाँच पर्व हैं। **स्वयम्भू ब्रह्मा है, सूर्य्य इन्द्र है, चन्द्रमा सोम है, पृथिवी अग्नि है**। ये पाँच देवता ही **पञ्चपर्वा ब्रह्मसत्य** के स्वरूप-समर्पक हैं। एवं **यही वैदिक पञ्चदेवतावाद है**। इन्हीं की उपासना आधिकारिक अचेतन जीवोपासना (पर्वोङ्काररूपा वैदिक उपासना) है, जैसाकि पूर्व के तृतीय प्रकरण में स्पष्टीकरण किया जाचुका है।

४२५-रोदसी--क्रन्दसी-संयती--त्रैलोक्यों के अधिष्ठाता ब्रह्मा-विष्णु--महेश--तत्त्वों का संस्मरण—

यही वैदिक पञ्चदेवतावाद पुराण में **त्रिदेवतावादरूप** में परिणत होगया है। पाठकों को स्मरण होगा कि-प्रकरणारम्भ में प्रणवोङ्कार का स्वरूप बतलाते हुए हमनें भूः-भुवः-स्वः, इन तीन महाव्याहृतियों के आधार पर क्रमशः **रोदसी क्रन्दसी-संयती**, इन तीन त्रिलोकियों का आविर्भाव बतलाया था। ये ही-तीनों त्रैलोक्य क्रमशः **महेश, विष्णु, ब्रह्मा**, इन तीन देवताओं से युक्त हैं। **महेश भूरूप रोदसी-त्रैलोक्य के, विष्णु भुवः स्वरूप क्रन्दसी-त्रैलोक्य के, एवं ब्रह्मा स्वः-स्वरूप संयती-त्रैलोक्य के अधिष्ठाता-माने गए हैं।**

४२६-रोदसी--क्रन्दसी-संयती-त्रैलोक्यों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तदधिष्ठात्री देवतात्रयी—

सत्यलोकात्मक स्वयम्भू, ऋतलोकात्मक तपोलोक, जनल्लोकात्मक परमेष्ठी, इन तीनों की समष्टि ही संयती-त्रैलोक्य है, एवं इसके अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं। जनल्लोकात्मक परमेष्ठी, ऋतलो-

का त्मक महर्लोक, अमृत सूर्य्य, इन तीनों की समष्टि ही क्रन्दसी-त्रैलोक्य है, एवं इस के अधिष्ठाता विष्णु हैं। मर्त्यसूर्य्यरूप स्वर्लोक, चन्द्रात्मक भुवर्लोक, पृथिव्यात्मक भूलोक, तीनों की समष्टि ही रोदसी-त्रैलोक्य है, एवं इस के अधिष्ठाता महेश, किंवा महादेव हैं।

४२७–प्रकृतिदृष्टि, एवं शुक्रदृष्टि--से अनुप्राणिता दृष्टिद्वयी, और तदनुगत उभय--दृष्टि-समन्वित-त्रैलोक्य--त्रिलोकी के त्रिविध देवता, एवं त्रिनेत्र 'महोदेव' रूप 'महादेव' का संस्मरण—

ब्रह्मा प्रकृतिदृष्टि से **प्राणमय हैं, शुक्रदृष्टि से वाङ्मय हैं**। विष्णु प्रकृतिदृष्टि से **आपोमय हैं**, शुक्रदृष्टि से **वाक्–आपोमय हैं**। इधर महेशतत्त्व प्रकृतिदृष्टि से **वाक्-अन्न-अन्नादमय हैं**, एवं शुक्रदृष्टि से **वाक्-आपः–अग्निमय है**। इसी दृष्टि से ब्रह्मा-विष्णु में जहाँ एक ओर दो कलाएँ हैं, वहाँ महेश मे तीन कलाएँ हैं। इसी महत्त्व से ये तीनों में "**महादेव**" कहलाते हैं। "**महोदेवो मर्त्यां आविवेश**" के अनुसार वृषभ-मूर्त्ति सौर इन्द्रप्रधान महेशतत्त्व ही महादेव हैं। **ब्रह्मा-चित्पति हैं, विष्णु देवपति हैं, महादेव भूतपति हैं**। ब्रह्मा-विष्णु, दोनों अव्यक्त है। इन दोनों अव्यक्तों का लिङ्ग (परिचायक) व्यक्त महेशतत्त्व ही है। **व्यक्त ही तो अव्यक्त का लिङ्ग बनता है**। इसी आधार पर महादेव की उपासना लिङ्गरूप से ही की जाती है। **मर्त्यसूर्य्य महादेव का एक नेत्र, चन्द्रमा दूसरा नेत्र, एवं अग्नि तीसरा नेत्र। यही त्रिनेत्र महादेव हैं।**

४२८–उत्पादन--पालन--संहाराधिष्ठात्री देवतात्रयी, त्रिगुणात्मिका देवतात्रयी, एवं महालक्ष्मी--महाकाली--महासरस्वती--रूपा शक्तित्रयी का पावन--संस्मरण—

तात्पर्य्य यही हुआ कि, ब्रह्मा एक स्वतन्त्र देवता हैं। विष्णु-इन्द्र की समष्टि विष्णु है, एवं **इन्द्र–अग्नि-सोम** की समष्टि महेश है। इसप्रकार वैदिक-पञ्चदेवता के आधार पर ही (उपासना की सिद्धि के लिए) **पुराण का त्रिदेववाद स्थापित हुआ है। पुराण के अनुसार ब्रह्मा विश्व के उत्पादक हैं, विष्णु--पालक हैं, महादेव संहारक हैं**। "**त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः**"। **ब्रह्मा सत्त्वगुणप्रधान हैं, विष्णु रजोमूर्त्ति हैं, शिव तमोमूर्त्ति हैं**। तीनों की **महासरस्वती, महालक्ष्मी, महाकाली**, ये तीनों शक्तियाँ ही **ज्ञान–अर्थ–काल**-चक्रों का सञ्चालन कर रहीं हैं। **अहःकाल में वैष्णवी महालक्ष्मी का साम्राज्य है। रात्रि में शैवी महाकाली की सत्ता--है। एवं सन्धि में ब्रह्माणी महासरस्वती व्याप्त है।**

संयती-
- १–सत्यलोकः–प्राणवाङ्मयः (स्वयम्भूः)
- २–तपोलोकः–सूत्रवायुमयः (*)
- ३–जनल्लोकः–अप-वागापोमयः (परमेष्ठी)

—ब्रह्मा

क्रन्दसी –
- ३–जनल्लोकः (अप्–वागापोमयः)–(परमेष्ठी)
- ४–महर्लोकः (शिववायुमयः)-(*)
- ५–स्वर्लोकः (वाक्–आपोऽग्निमयः) अमृतसूर्य्यः)

—बिष्णुः

रोदसी-
- ५–स्वर्लोकः (वाक्-वाङ्मयः) (मर्त्यसूर्य्यः)
- ६–भुवर्लोकः (अन्न–आपोमयः) (चन्द्रमाः)
- ७–भूलोकः (अन्नाद–वाङ्मयः) (पृथिवी)

—महेशः

- १–संयतीत्रैलोक्यं–स्वः–अधिष्ठाता ब्रह्मा चित्पतिः-अव्यक्तः (द्यु द्रु मोर्ध्वः)
- २–क्रन्द्रसीत्रैलोक्यं-भुवः-अधिष्ठाता विष्णुः-देवपतिः-अव्यक्तः (द्यु द्रु ममध्यः)
- ३–रोदसीत्रैलोक्यं–भूः–अधिष्ठाता-महेशः-भूतपतिः-व्यक्तोऽव्यक्तानाम् (द्यु द्रु माधः)

————पौराणिकदेवत्रयी

४२९-'अवतार' शब्द की त्रिधा व्याप्ति, एवं तन्निबन्धन-त्रिविध अवतारवर्गों का पावन-संस्मरण, तथा तन्निबन्धना उपासना-त्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अवतारविज्ञान के अनुसार हम अवतारों को **नित्यप्राकृतिक अवतार, सामयिक मनुष्यविध अवतार, उभयविध अवतार**, इन तीन भागों मे विभक्त कर सकते हैं। उक्त प्राकृतिक-तीनों देवताओं(ब्रह्मा-विष्णु-महेश) को,एवं **कूर्म्म, वराह, गणपति, शक्ति,** आदि अवतारों को नित्यप्राकृतिक अवतार कहा जायगा। वामन-कूर्म्म-वराह-शक्ति आदि अवतारों को उभयविध अवतार कहा जायगा! **नृसिंह-राम-कृष्ण-परशुराम-हलधर** आदि अवतारों को सामयिक मनुष्यविध अवतार कहा जायगा, एवं इन तीनों हीं अवतारों को **आधिकारिक चेतनजीव** माना जायगा, और **इन तीनों की ही उपासना पौराणिक उपासना कहलाएगी**। तीनों में से नित्यप्राकृतिक अवतारों की, तथा उभयविध अवतारों कीं उपासना का प्रकार तो स्वयं वेद में भी यत्रतत्र यज्ञकर्म्म के व्याज से निरूपित है। एवं तीसरी मनुष्यविध अवतारों की उपासना का एक-मात्र प्रतिपादक **पुराणशास्त्र**, एवं तदनुगामी **नारदपञ्चरात्र, भक्तिसूत्र,** आदि ही हैं। इन अवतारोपासनाओं का क्या प्रकार है ?, यह तत्तत् शास्त्रों से ही जानना चाहिए।

४३०-द्विजातिवर्गानुबन्धिनी-अवतारोपासना, एवं स्त्री-शूद्र-वैश्य-वर्गानुबन्धिनी-अवतारोपासना का स्वरूप-समन्वय —

हाँ, इस सम्बन्ध में एक विवेक अवश्य ही कर लेना चाहिए। **द्विजबन्धुलक्षण द्विजातिवर्ग, स्त्री, शूद्र**, प्रमुखरूपेण इन तीन के अभ्युदय के लिए ही अवतारोपासना का विधान हुआ है। इनमें नित्य-प्राकृतिक अवतारों की उपासना द्विजातिवर्ग से सम्बन्ध रखती है। आगमशास्त्रोक्त उपासना के जितने मार्ग हैं, **शैव-शाक्त-कापालिक-मान्त्रिक-तान्त्रिक-यान्त्रिक**-आदि जितने भी प्रकार हैं, उन सबका नित्य प्राकृतिक अवतारोपासना में हीं अन्तर्भाव है। और इसका विशेष अधिकार द्विजबन्धुओं को ही है। यदि निष्काम-भाव से वे इस उपासना में प्रवृत्त होते हैं, तो तत्तद्देवताशक्तिलाभ के द्वारा तत्तद्देवतालोकफल उन्हें मिल जाता है, अन्ततः पुनरावर्त्तन भी नहीं होता। सकामभाव में सिद्धिमात्र के कारण बनते हुए ये ही उपासनामार्ग अशाश्वत फल के ही कारण बने रह जाते हैं।

४३१-मनुष्यविधा अवतारोपासना का अधिकारी वर्ग, एवं इत्थंभूता सर्वसामान्यानुगता अवतारोपासना के नियन्त्रणासंस्पृष्ट सामान्य-पथों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

स्त्री और शूद्रवर्ग, उभयविध अवतारोपासना के, विशेषतः सामयिक मनुष्यविध अवतारोपासमा के अधिकारी हैं। इस उपासना में निगमागमपद्धतियों का कोई नियन्त्रण नहीं है। पूर्वोक्त अवतारोपासना में तो आगमोक्त पद्धति का यथावत् अनुगमन करने से ही सफलता मिल सकती है। परन्तु इस दूसरे प्रकार में कोई नियतविधि नही है। केवल अवतारपुरुषों की लीलाओं का अभिनय (**रामलीला-कृष्णलीला-नृसिंह-लीला-वराहलीला-वामनलीला-सत्यनारायणकथा-श्रवण-नामसंकीर्त्तन-एकादशीव्रत-पञ्चभीष्मव्रत-कार्त्तिकस्नान-तीर्थगमन-देवदर्शन-आदि रूप से**), एवं अनुगमन ही इस उपासना का मुख्य प्रकार है। **सकामभाव में आत्मतुष्टि है, निष्कामभाव में आत्मतृप्ति है**। इसी मार्ग का--"भजते तादृशीः क्रीड़ा

या: श्रुत्वा तत्परो भवेत्" इन शब्दों में अभिनय हुआ है । कहना न होगा कि, **अवतारोपासना** का यह सरलतम मार्ग भी हमारे दोष से आज सर्वथा ही विकृत बन चुका है । इसी विकृता, दोषपूर्णा पौराणिकी उपासना से क्षुब्ध बने हुए एक * महानात्मा के एवंविध सहज उद्गार हैं कि—

> **चित्रभक्ति में जब तलक उपासना दुख पाती ।**
> **तब तक बारी हाय कहाँ संयम की आती ॥**
> **छैलों की हा छबी रामलीलाएँ छातीं ।**
> **साधुरीति का नाम नसाती जीब कुढाती ॥**
> —चातुर्वर्ण्यशिक्षा

४३२—लौकिक अवतारोपासना से अनुप्राणित तीर्थ–देवमन्दिरादि के अनाचार, और दुराचार, तथा तत्संशोधकों के द्वारा मूलनाश का प्रयास—

तीर्थों के अनाचार, देवमन्दिरों के दुराचार, एवं कर्त्तव्य से वञ्चित करने वाला, लोकयशःख्यातिमूलक नामसंकीर्त्तन, आदि विभीषिकाओंने इस **पौराणिक उपासनामार्ग** की जैसी दुर्दशा कर डाली है, उससे कौन भारतीय दुःखी न होगा ?। साथ ही अनाचर का नाश करने के लिए उद्यत उन सुधारकों की कुबुद्धि भी किस के हृदय में शूल उत्पन्न नहीं कर देगी, करेगी, जो रोग के साथ रोगी के ही सर्वनाश के लिए भी कटिबद्ध होरहे हैं । संशोधन अवश्य अपेक्षित है, परन्तु मूल की रक्षा करते हुए ही ।

४३३ मूलसंरक्षणात्मिका-दोषनिवृत्ति-पद्धति की ही समादरणीयता,-एवं तथाविध सुधारवाद का समर्थन—

देवमन्दिरों के दुराचार बँद करने हैं, परन्तु देवप्रतिमाओं को कलङ्कित नहीं करना है । लीलाचरित्रों की रक्षा करते हुए, इस रक्षा के द्वारा लोकसंग्रह को सुरक्षित रखते हुए ही हमें विकृत पौराणिक उपासनामार्ग का संशोधन करना है । और ऐसा मूलरक्षक संशोधन ही भारतगौरव का रक्षक है ।

४३४—लोकसंग्रहात्मक--परार्थसाधनासमन्वित पौराणिक–उपासनापथ, तथा लोकसंग्रह-शून्य--केवल स्वार्थसंसाधक--पौराणिक भक्तिमार्ग—

उक्त तीनों अवतारोपासना-प्रकारों में से **निष्कामभावयुक्त द्विजातिवर्ग-सम्बन्धी, आगमशास्त्रोक्त नित्य प्राकृतिक अवतारोपासनात्मक, निष्कामभावयुक्त वैध पहिला प्रकार लोकसंग्राहक बनता हुआ निष्कामकर्म्मयोग है, एवं उभयविध अवतारोपासनात्मक, एवं मनुष्यविध अवतरोपासनात्मक स्त्री-शूद्रवर्गानुबन्धी उपासनामार्ग लोकसंग्रहसे वञ्चित होता हुआ, अतएव केवल स्वार्थमूलक बनता**

---

* दिवंगत महामहोपाध्याय ऋषिकल्प श्रद्धेय श्रीदुर्गाप्रसादद्विवेदी--महाभागाः ।

ज्ञानयोग माना जायगा । इस दृष्टि से इतर वैदिक उपासनामार्गों की भाँति यह चौथा अवतारोपासना-विवर्त्त भी दो भागों में विभक्त होजाता है ।

४३५–पुराणयुगानुगत-उपासनामार्ग के दृष्टिकोण–भेदनिबन्धन विविध--विवर्त्त—

इस प्रकरण की सभी उपासनाओं को हमने **"पुराणयुगानुगत उपासनामार्ग"** कहा है । इस सम्बन्ध में पाठकों को यह विवेक कर ही लेना चाहिए कि, वेद के ब्राह्मणभाग से सम्बन्ध रखने वाली आधिदैविक-वल्शेश्वरोपासना (कर्म्मयोग–यज्ञादिरूप), आध्यात्मिक वल्शेश्वरोपासना (आत्मचिन्तनरूप ज्ञानयोग), आधिदैविक प्रतिमेश्वरलक्षण अचेतनजीवोपासना (यज्ञादिरूप कर्म्मयोग), आध्यात्मिक प्रतिमेश्वर--लक्षण अचेतन जीवोपासना (आत्मचिन्तनरूप ज्ञानयोग), इन प्रकारों से सम्बन्ध रखने वाली वाक्शुक्रमयी यज्ञ--प्रजापत्युपासना तो पुराणकाल में प्रचलिता **नैगमिक-उपासना ही है** ।

४३६–पुराणयुगानुगत–उपासनामार्ग का संग्रहात्मक स्वरूप--समन्वय, एवं तृतीय अवान्तर प्रकरण--विराम—

आगमशास्त्रमूलक नित्य अवतारोपासना–लक्षणा द्विजातिवर्गानुबन्धिनी लोकसंग्रहानुगामिनी उपासना पुराणकाल में प्रचलित **आगमिक** वैध उपासना है । एवं अशास्त्रीय, अवैध, पुराणसम्मत मनुष्यविध अवतारोपासना--लक्षणा स्त्री–शूद्र वर्गानुबन्धिनी लोकसंग्रहशून्या उपासना पुराणकाल की विशुद्धा **पौराणिक--उपासना है** । इसप्रकार **निगम–आगम–पुराण** इन तीन तन्त्रों में प्रतिष्ठित उक्त सभी प्रकार पुराणयुग से सम्बन्ध रखते हुए **"पुराणयुगानुगत–उपासनामार्ग"** इस शीर्षक के अधिकारी बन जाते हैं । यज्ञेश्वर प्रजापति की उपासना का, किंवा पुराणयुगानुगत–उपासनामार्ग का यही संक्षिप्त निदर्शन है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है ।

सर्वसंग्रहः---

१–उपनिषत्सिद्ध उपासनामार्ग (बुद्धियोग)—(अव्ययोपासना–निर्गुणा)

१–श्रद्धायुक्तोऽव्ययः–अकामः–युक्ततममार्गः–विशेषः (कर्म्मयोगः) } देवयुगानुगता–उपासना

१–उदासीनोऽव्ययः–निष्कामः–युक्तमार्गः––सामान्यः (ज्ञानयोगः) }

---*---

२–आरण्यकसिद्ध–उपासनामार्ग (भक्तियोग-अक्षरोपासना-सगुणा–षोडशीप्रजापतिः)

१-आधिदैविक–सहस्त्रवल्शेश्वरः-निष्कामः-भक्तिमार्गः-विशेषः (कर्म्मयोगः) } —देवयुगानुगता—उपासना

२-आध्यात्मिक-सहस्त्रभावेश्वरः-ईश्वरकामः-योगमार्गः-सामान्यः (ज्ञानयोगः) }

---*---

३–ब्राह्मणभागसिद्ध–उपासनामार्ग (कर्म्म-ज्ञाननिष्ठा–आत्मक्षरोपासना—सविकारा-यज्ञप्रजापतिः)

यज्ञेश्वरोपासना—{ १–आधि० वल्शेश्वरः–प्रवृत्तिकामः–योगनिष्ठा—विशेषः (कर्म्मयोगः) ; २–आध्या० वल्शेश्वरः–निवृत्तिकामः–सांख्यनिष्ठा-सामान्यः (ज्ञानयोगः) } नैगमिक उपासनामार्ग

आधि०अचे०जी०{ १–आधि० प्रतिमेश्वरः–कर्म्मकामः–कर्म्मनिष्ठा–विशेषः (कर्म्मयोगः) ; २–आध्या० प्रतिमेश्वरः–ज्ञानकामः–ज्ञाननिष्ठा–सामान्यः (ज्ञानयोगः) }

आधि० चेतनजीवो---{ १–नित्यावताराः-सिद्धिकामः – देवनिष्ठा–विशेषः (कर्म्मयोगः) } आगमिक--उपासना ; २–मानुषावताराः-अभ्युदयकामः-भूतनिष्ठा-सामान्यः (ज्ञानयोगः) } –पौराणिक--उपासना

पुराणयुगोपासना----{
१--नैगमिक--उपासनामार्गः-ज्ञाननिष्ठद्विजातीनां, विशेषतो ब्राह्मणानाम्
२--आगमिक-उपासनामार्गः-अज्ञ–द्विजातिबन्धूनाम्
३–पौराणिक–उपासनामार्गः—स्त्री--शूद्राणां-वैश्यानां च ।
}

---*---

इति–"युगधर्म्मानुगता–विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"पुराणयुगानुगता-विकारोपासना"

नामक

तृतीय-अवान्तर-प्रकरण-उपरत

३

---*---

श्रीः

इति-"युगधर्म्मानुगता-विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"पुराणयुगानुगता--विकारोपासना'

नामक

तृतीय-अवान्तर-प्रकरण-उपरत

३

श्री:

(४)-दर्शनयुगानुगता-वैकारिकोपासना से अनुप्राणित-पारिभाषिक-परिलेख—

"वैकारिकक्षरोपाना"-(विराट्प्रजापति:-प्रतिमेश्वर:)

अर्थानुगतं-आराधनात्मकं कर्म्म-एव-उपासना

अर्थात्मिका-मर्त्यशुक्रमयी

वैकारिकी-देवोपासना-प्रतिमेश्वरोपासना-स्वार्थात्मिका

मर्त्यवाङ्मयी-उपासना-आत्मपचनात्मिका

———*:*———

१-मर्त्यावाक्-विश्वम्
२-मर्त्यापः } विश्वेदेवाः
३-मर्त्याग्निः }
} 'विकारक्षरः'-तदिदं विकारविवर्त्तम्-मर्त्यवाग्विवर्त्तमेव

(सैषा अञ्जनोपासना-देवोपासना वा-अर्थात्मिका)

स एष--आराधनात्मकेन कर्म्मणा--अनुगमनीयः

———*———

'अनुगमनं' नाम-प्रणतभावेनात्मसमर्पणम्

तत्पथानुसरणं वा

सैषा-स्वार्थात्मिका-उपासना-कर्म्मैव

चतुर्थी

— ४ —

———*———

(सोऽयं-दर्शनयुगः-चतुर्थः-द्वापरयुगात्मकः)

१-मर्त्यशुक्रात्मिका वाक्
२-विकारक्षरः
३-अर्थः
४-वाक् (मर्त्यशुक्रमयी)
} तदेतत्-सर्वं वागेव-विकारक्षर एव-वैकारिकः
(विकारो हि-विकारक्षरः)

———**———

श्रीः

दर्शनयुगानुगत--वैकारिकोपासनामार्ग

चतुर्थ-प्रकरणान्तर्गत-चतुर्थ--अवान्तर-प्रकरण

४

——— * ———

४३७–अज्ञान, विरुद्धज्ञान, तथा अर्द्ध ज्ञानमूलक विवाद--पाखण्ड से सच्छास्त्रों का अभिभव, एवं सन्देहनिवारक शास्त्रों की सन्देह-शीलता का दिग्दर्शन—

"हरित भूमि तृण संकुल समुझि परे नहिं पन्थ, जिमि विवाद पाखण्डतें लुप्त भये सद्ग्रन्थ" इस तुलसी-सूक्ति के अनुसार अज्ञान, विरुद्धज्ञान, अर्द्धज्ञानमूलक हमारे विवाद, और पाखण्ड-दोष से आज सद्ग्रन्थ विलुप्त होगए हैं, किंवा सद्ग्रन्थ, असद्ग्रन्थ बन गए हैं। "इदमित्थमेव"–"य एवेद-मिति ब्रवत्" इस निश्चित मर्य्यादा से वञ्चित होते हुए ये सद्ग्रन्थ संशयनिवृत्ति के स्थान में संशय के ही कारण बन रहे हैं। "वा" "वा" [इदं वा इदं वा] भावात्मक इसी संशय ने महर्षियों की वावाशून्या योगत्रयी का स्वरूप आज विकृत कर दिया है। और इस का एकमात्र दोषी है आज का विद्वत्-समाज। और इस के इस दोष का मूल कारण है–वैदिक साहित्य का तिरस्कार।

४३८–असंदिग्ध--निर्णायक वेदशास्त्र की उपेक्षा के दुष्परिणाम, एवं व्यवच्छेद-दृष्टि का अभिभव—

वेदशास्त्र ही एक ऐसा शास्त्र है जो हमें व्यवच्छेद के द्वारा निश्चित असंदिग्ध निर्णय पर पहुँचाने की क्षमता रखता है। यदि हम वैदिक विज्ञान को मूल में रख कर योगत्रयी का विचार करते हैं, तो हमारे सभी सन्देह शरदभ्रवत् विलीन होजाते हैं। व्यवच्छेददृष्टि हमें एकमात्र वेद से ही मिल सकती है। और इस दृष्टि को आगे करते हुए ही क्रमप्राप्त साञ्जनविराट्प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली विकाराक्षरोपा-सना का संक्षिप्त स्वरूप उपासकों के सम्मुख रक्खा जारहा है।

४३९–आत्मक्षरनिबन्धना उपासना के साथ विकारक्षर--निबन्धना उपासना का समतुलन, एवं पौराणिक--उपासना-पथ से समतुलिता दार्शनिक--उपासना--नुगता विराडुपासना का संस्मरण—

जो स्वरूप आत्मक्षरात्मक सविकारयज्ञप्रजापति की उपासना का है, प्रायः वही स्वरूप इस विकार-क्षरोपासना, किंवा विराडुपासना का है। केवल कामभाव में अन्तर है। यज्ञप्रजापत्युपासना का

निष्कामभाव से सम्बन्ध है, एवं इस विराट्प्रजापत्युपासना का "**सकामभाव**" से सम्बन्ध है। यह उपासना पौराणिक उपासना का ही रूपान्तर है। ऐसी दशा में यद्यपि इसे भी "**पुराणयुगानुगत-उपासनामार्ग**" ही कहना चाहिए था। परन्तु इस मार्ग में आगे जाकर '**तत्त्वभक्ति**' का भी समावेश होगया है, एवं इस तत्त्वभक्ति का दर्शनयुग से ही सम्बन्ध है, अतएव इसे "**दर्शनयुगानुगत-उपासनामार्ग**"—इस अभिधा से समन्वित मान लिया गया है।

४४०–विराट्प्रजापति के तात्त्विक चिरन्तन-स्वरूप से अनुप्राणित विराट् के पारिभाषिक स्वरूप का पावन-संस्मरण—

यह विराट्प्रजापति वही विराट् है, जिस का गीता में भगवान् के द्वारा साक्षाद्रूप से प्रदर्शन हुआ है। यह विराट् वह विराट् है, जिस का त्रिगुणभावमयी विश्वात्मिका प्रजा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह विराट् वह विराट् है, जो सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्रपात् रूप से भूमि पर प्रतिष्ठित होरहा है। यह विराट् वह विराट् है, जिस के **अग्नि[१]–वायु[२]–इन्द्र[३] गार्हपत्य[१]**, धिष्ण्य[२], **आहवनीय**, इस रूप से १–३–१० ये त्रिविध रूप हैं। यह विराट् वह विराट् है, जिस का महासुपर्णरूप से सम्वत्सरात्मक त्रैलोक्य में विस्तार हुआ है। यह विराट् वह विराट् है, जिस का स्वरूप "**चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छमेकं प्रतिष्ठा**" रूप से सप्तपुरुष-पुरुषात्मक प्रजापति से सम्पन्न हुआ है। यह विराट् वह विराट् है, जिस की मूलप्रतिष्ठा पूर्वोक्त ब्रह्मसत्यों का अन्तिम पर्वरूप पृथिवीलक्षण अन्नाद नामक ब्रह्मसत्यपर्व है।

४४१–विराट्प्रजापति के विविध महिमाभावों का पारिभाषिक संस्मरण, एवं तन्निबन्धन विराट्-प्रजापति के नैगमिक-स्वरूप का दिग्दर्शनोपक्रम—

यह विराट् वह विराट् है, जो भोक्ता सुपर्ण का निराशी साक्षी बना रहता है। यह विराट् वह विराट् है, जो कर्म्मानुसार विश्वप्रजा के जाति–आयु–भोग-विवर्त्तों की व्यवस्था किया करता है। यह विराट् वह विराट् है, जो हमारे शुभाशुभ–पाप–पुण्य-कर्म्मों का दर्शक (साक्षी) बना रहता है। यह विराट् वह विराट् है, जो वैराजतेज से उक्थत्रैलोक्य (सम्वत्सरत्रैलोक्य) में विराजित है। यह विराट् वह विराट् है, जो पार्थिव-प्रजा की कामनाएँ पूरी किया करता है। यह विराट् वह विराट् है, जो पापात्मा–पुण्यात्मा, दोनों पर समान अनुग्रह रखता हुआ पुण्यात्मा को पुण्यकर्म्मों के लिए, एवं पापात्मा को पापकर्म्मों के लिए प्रोत्साहित करता रहता है। यह विराट् वह विराट् है, जोकि देवभाव के कारण आगम–निगम शास्त्रों में–"देवसत्य" नाम से प्रसिद्ध है। **साञ्जन, देवसत्यमूर्त्ति, कामपूरक, कामाधिष्ठाता इसी विराट् प्रजापति की उपासना विकारक्षरोपासना है**, और प्रकृत प्रकरण इसी के दिग्दर्शन कराने के लिए प्रवृत्त होरहा है।

४४२–सिंहावलोकनदृष्टि-निबन्धन विराट्-स्वरूप-संस्मरण—

यद्यपि पूर्व के **वेदयुगानुगत–उपासना**-प्रकरण में यत्र यत्र विराट् प्रजापति का दिग्दर्शन करा दिया गया है, तथापि इस प्रधान प्रकरण में प्रकरण–सङ्गति के लिए संक्षेप से पुनः तद्विषय का सिंहावलोकनदृष्टि से दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

४४३-'आत्मसत्य' के-'निर्गुणसत्य--अमृतसत्य--ब्रह्मसत्य--देवसत्य-भूतसत्य' नामक पाँच महिमा-विवर्त्त, तन्निबन्धन-'अव्ययात्मा-ईश्वरात्मा-यज्ञात्मा-सर्वभूतान्तरात्मा-भूतात्मा' नामक पाँच आत्मविवर्त्त, एवं तदनुप्राणित 'देव-वेद-पुराण-दर्शन-वर्त्तमान-युगनिबन्धन पञ्चविध उपासना-पथ—

आत्मा 'सत्य' स्वरूप है। इस एक ही 'सत्यात्मा' के परिग्रह-सम्बन्ध से निर्गुणसत्य, अमृत-सत्य, ब्रह्मसत्य, देवसत्य, भूतसत्य, ये पाँच विवर्त्त होजाते हैं। ये पाँचों सत्यात्मा क्रमशः अव्ययात्मा, ईश्वरात्मा, यज्ञात्मा, सर्वभूतान्तरात्मा, भूतात्मा, इन नामों से व्यवहृत किए जासकते हैं। अव्ययात्मा निर्गुण अव्यय है, ईश्वरात्मा षोडशीप्रजापति है, यज्ञात्मा यज्ञप्रजापति है, सर्वभूतान्तरात्मा विराट्प्रजापति है, एवं भूतात्मा विश्वप्रजापति (प्रजासर्ग) है। ये पाँच सत्यात्मविवर्त्त ही क्रमशः देवयुग-वेदयुग--पुराणयुग--दर्शनयुग, और वर्त्तमानयुग, इन पाँच युगों के पाँच उपासना-मार्गों के मूलधरातल बने हुए हैं।

४४४-पञ्चविध आत्मविवर्त्तों के आधार पर राजर्षि मनु के द्वारा तीन आत्मविवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय—

राजर्षि भगवान् मनु की तात्त्विकी दृष्टि से इन पाँच आत्मविवर्त्तों का परमात्मा[1]-अन्तरात्मा[2]-भूतात्मा[3] इन तीन आत्मविवर्त्तों में अन्तर्भाव किया जासकता है। अव्यय--षोडशी--यज्ञात्मा, इन तीनों की समष्टि परमात्मा है, तथा सर्वभूतान्तरात्मा अन्तरात्मा है, एवं भूतात्मा भूतात्मा है। भूतात्मा कर्म्मकर्त्ता है, परमात्मा क्षेत्रज्ञ-कारयिता है, एवं अन्तरात्मा जीवात्मा है, जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

> १—योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते।
> यः करोति तु कर्म्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः॥
>
> २—जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
> येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु॥
>
> —मनुः १२।१२-१३।

४४५-सर्वभूतान्तरात्म-लक्षण विराट्प्रजापति, तद्रूपा-विराडुपासना, तदनुबन्धी 'देवसत्य', एवं तालिकामाध्यम से औपासनिक पञ्च महिमाभावों का स्वरूप-समन्वय—

इन पाँचों आत्म-विवर्त्तों में से सर्वभूतान्तरात्मा-लक्षण अन्तरात्मा ही प्रकृत प्रकरण का विराट् प्रजापति है, यही देवसत्यात्मा है, एवं यही कामभाव की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव इस की उपासना

'काममयी उपासना' कहलाती है। इसी उपासना के सम्बन्ध में 'तं यथा यथोपासते तथैव भवति'– 'तां तामेव विदधाम्यहम्'–'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'–'यं यं कामयते-तं तमाप्नोति' इत्यादि वचनों प्रसिद्ध हैं।

आत्मत्रयी–विवर्त्त–परिलेखः—

१-निर्गुणसत्यः	(अव्ययात्मा)	अव्ययः—— अव्ययः	परमात्मा
२-अमृतसत्यः	(ईश्वरात्मा)	षोडशीप्रजापतिः-अक्षरः	
३-ब्रह्मसत्यः	(यज्ञात्मा)	यज्ञप्रजापतिः—आत्मक्षरः	
४-देवसत्यः	(सर्वभूतान्तरात्मा)	विराट्प्रजापतिः-विकारक्षरः	अन्तरात्मा
५-भूतसत्यः	(भूतात्मा)	विश्वप्रजापतिः–वैकारिकक्षरः	भूतात्मा

४४६–निगमानुता निष्कामोपासना के आधार पर उपबृंहिता काममयी विराडुपासना की अभिव्यक्ति—

वेदयुगानुगत-उपासनाप्रकरण में उपासना के अकाम–निष्काम–काम भेद से तीन विवर्त्त बतलाए गए थे, एवं वहीं यह भी स्पष्ट किया गया था कि, इन तीनों का ईश्वर–जीव–जगत, इन तीन विवर्त्तों के साथ क्रमिक सम्बन्ध है। अव्यय, और षोडशी, इन दो की समष्टि ही 'ईश्वरभाव' है, एवं इस के साथ 'अकामभाव' का समन्वय है। यज्ञप्रजापति ही जीवभाव है, एवं इस का निष्कामभाव से सम्बन्ध है। विराट्, एवं विश्व की समष्टि ही जगद्भाव है, और इसका कामभावसे सम्बन्ध है। इसी आधार पर इस विराडुपासना को हम काममयी उपासना ही कहेंगे।

४४७–वल्शेश्वर-ब्रह्मसत्य-प्रजापति की अन्तिम-शाखारूपा अन्नादमयी पृथिवी, एवं तद्विभूति से अनुप्राणित विराट्प्रजापति—

अश्वत्थवृक्ष की एक वल्शा (टहनी) के अन्तिम छोर पर सर्वभूतान्तरात्मलक्षण, देवसत्यमूर्त्ति विराट्प्रजापति प्रतिष्ठित है, जोकि 'ईशानो भूतभव्यस्य'–'साक्षी' 'महासुपर्ण' आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। निर्गुण अव्यय को अपना प्रतिष्ठा–धरातल बनाने वाला सहस्रवल्शेश्वर षोडशी–प्रजापति ही 'अश्वत्थवृक्ष' है, यही 'अमृतसत्य' है। इस अश्वत्थमूर्त्ति अमृतसत्येश्वर की एक टहनी में स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी, ये पाँच पुण्डीर (पर्व) हैं। यही 'पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा' है। ये पाँचों पर्व ब्रह्मसत्यरूप हैं। पाँचों की समष्टि ही 'यज्ञप्रजापतिरूप ब्रह्मसत्यात्मा है'। इस ब्रह्मसत्यलक्षणा एक टहनी

का अन्तिम पर्व अन्नादमयी, किंवा अग्निमयी पृथिवी है। और इसी पृथिवी पर देवसत्यरूप विराट् सुपर्ण (महापक्षी *) प्रतिष्ठित है।

४४८ अन्नादमयी पृथिवी के मर्त्य-भौतिक, तथा अमृत-प्राणात्मक-स्वरूप का संस्मरण, पार्थिव-अग्निरसात्मक रथन्तरसाम का, एवं आदित्यात्मक देवरथात्मक रथन्तर-साम का स्वरूप-समन्वय—

पृथिवी के **अमृत-मर्त्य**, ये दो रूप माने गए हैं। मर्त्या पृथिवी का स्वरूप तो सर्वविदित है ही। जिस भूपिण्ड पर हम पार्थिव चर–अचर प्राणी प्रतिष्ठित हैं, **"भूमि"** नाम से प्रसिद्ध यही **गायत्री पृथिवी** मर्त्या पृथिवी है [देखिए शत० ६।६।१।१] । इस मर्त्य भूपिण्ड के केन्द्र से बद्ध भूपिण्ड से बड़ी दूर पर्य्यन्त [सूर्य्य से भी कुछ ऊपर पर्य्यन्त] एक प्राणमय महिमामण्डल प्रतिष्ठित रहता है । इसी महिमा-पृथिवी को **"अमृतापृथिवी"** कहा जाता है। इस अमृता-पृथिवी में भूकेन्द्र से आरम्भ कर महिमा-पृथिवी की परिधि पर्य्यन्त एकरूप से **'रसतम प्राणाग्नि'** भरा हुआ है। इसी रसतम प्राणाग्नि की व्याप्ति से पार्थिव साम **"रथन्तर"** कहलाता है। **"रसतमं ह वै रथन्तरमित्याचक्षते"** के अनुसार **'रसतम'** का ही रूपान्तर **'रथन्तर'** है। अथवा **"आदित्यो वै देवरथः"** के अनुसार सूर्य्य **"रथ"** नाम से प्रसिद्ध है। पूर्वकथनानुसार पार्थिव **प्राणाग्निसाम** इस रथात्मक सूर्य्य से भी कुछ ऊपर पर्य्यन्त चला जाता है, **इस रथतरण के कारण भी पार्थिव साम रथन्तर कहलाया है।**

४४६–राथन्तरी-अन्नादमयी-महापृथिवी का अधिष्ठाता प्रजापति-अग्नि, एवं तद्-विभूतिरूप अग्नि-वायु-आदित्य, तथा तदनुप्राणित वसु-रुद्र-आदित्य-आदि ३३ देवविभूतियाँ, और-'अग्निः-सर्वा देवताः' निगम का समन्वय—

यही **राथन्तरी** पृथिवी विराट्पुरुष की जननी मानी गई है। इस एकाग्नि के आधार पर, जोकि **अग्नि प्रजापति** नाम से प्रसिद्ध है, इसी के अवयवरूप अग्नि–वायु–आदित्य, ये तीन प्राजापत्य देवता प्रतिष्ठित रहते हैं । **अग्नि का घन अवयव अग्नि है, तरल अवयव वायु है,** एवं वाष्प **अवयव आदित्य है।** एक ही अग्निदेव के तीन विवर्त्त हैं। आगे जाकर घनता–तरलता–बाष्पता–के क्रमिक तारतम्य से, **अष्टाक्षर गायत्रीछन्द, एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द, द्वादशाक्षर जगतीछन्द, इन तीनों छन्दों के क्रमिक** छन्दन से घनाग्नि–लक्षण गायत्र–अग्नि के ८ अवयव होजाते हैं, ये ही आठ **'वसु'** हैं। तरलाग्नि–लक्षण त्रैष्टुभ–वायु के ११ अवयव होजाते हैं, ये ही ग्यारह **रुद्र** हैं। विरलाग्निलक्षण जागत आदित्य के १२ अवयव होजाते हैं, ये ही बारह **'आदित्य'** हैं। दो सान्ध्यप्राण **अश्विनी** [नासत्य-दस्र] नाम-से और प्रकट होजाते

---

* पाठकों को स्मरण होगा कि, उपासनाप्रकरण के आरम्भ में हमने यह स्पष्ट कर दिया था कि, **उपासना का द्वैतभाव से ही सम्बन्ध है। और द्वैतमूला इस उपासना का मुख्य धरातल देवसत्य ही है। उपासना न तो ईश्वर की होसकती, न आत्मा की ही।** उपासना होती है एकमात्र प्राणरूप देवता की, किंवा देवसत्य की (देखिए पृष्ठ संख्या १७८)। वहाँ का यह उपास्य देवता यही देवसत्यमूर्त्ति विराट् प्रजापति है, जिसका कि केवल पार्थिव सम्वत्सर से ही सम्बन्ध है।

हैं। इसप्रकार वह एक ही अमृतपृथिवीमण्डलस्थ प्रजापतिमूर्त्ति प्राणाग्नि **अग्नि-वायु-आदित्य-रूप से वसु-रुद्र-आदित्य-अश्विनी**-रूप में परिणत होता हुआ ३३ रूप-धारण कर लेता है। सब की मूल प्रतिष्ठा "**अग्नि**" ही है— "**अग्निः सर्वा देवताः**"।

४५०-त्रयस्त्रिंशद्देवदेवताओं के उपक्रम-उपसंहार-रूप अग्नि, और विष्णु, तन्निबन्धना आग्नावैष्णवेष्टि, एवं महर्षि ऐतरेय के द्वारा दीक्षणीयेष्टि का स्वरूप-समन्वय—

आठ वसुओं में पहिला वसु "**अग्नि**" नाम से प्रसिद्ध है। १२ आदित्यों में से सर्वान्त का आदित्य "**विष्णु**" नाम से प्रसिद्ध है। ३३ सों यज्ञिय-देवताओं के उपक्रम में वसुमूर्त्ति अग्नि प्रतिष्ठित है, देववर्ग के अन्त में आदित्यमूर्त्ति विष्णु प्रतिष्ठित है, एवं इतर सम्पूर्ण (३१)देवता दोनों के मध्य में हैं। इसी मौलिक रहस्य के आधार पर ग्रहयाग में दीक्षित होने वाले यजमान को सर्वप्रथम **दीक्षणीयेष्टि** करनी पड़ती है। और उस में **आग्नावैष्णव एकादशकपालपुरोडाश** करना पड़ता है। **अग्नि** और -**विष्णु** के परिग्रह से ३३ सों प्राणदेवता इस के भूतात्मा में **अनुशयरूप** से प्रतिष्ठित होजाते हैं। इस-यज्ञिय सर्वदेव-संस्कारोपयिक दीक्षाकर्म्म से इसे यज्ञाधिकार प्राप्त होजाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर महर्षि ऐतरेय ने कहा है—

"अग्निर्वै देवानामवमः, विष्णुः परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः"।
—ऐ० ब्रा० १।१.१।

४५१-अग्नि-वायु-आदित्य-देवताओं की स्तोमानुगता पार्थिव-त्रैलोक्य-व्याप्ति, तत्र-गर्भिता त्रिविधा प्रजा-महिमाएँ, एवँ ब्रह्मविजय के आधार पर त्रिदेवताओं का त्रैलोक्य-विजय—

अष्टवसुमूर्त्ति घनाग्निलक्षण **अग्नि** महापृथिवी के त्रिवृत्स्तोम-मण्डल में व्याप्त है। एकादशरुद्र-मूर्त्ति तरलाग्निलक्षण वायु महापृथिवी के पञ्चदशस्तोम-मण्डल में व्याप्त है। एवं द्वादशादित्यमूर्त्ति विरलाग्नि-लक्षण **आदित्य** महापृथिवी के एकविंशस्तोम-मण्डल में व्याप्त है। त्रिवृदग्नि **अर्थशक्ति** का संचालक है, पञ्चदशवायु **क्रियाशक्ति** का उत्तेजक है,एवं एकविंश आदित्य [**इन्द्र**] **ज्ञानशक्ति** का प्रवर्त्तक है। महा-पृथिवीलोक में प्रतिष्ठित प्रजावर्ग की [त्रिवृत्स्तोमरूप महापृथिवी के पृथिवीलोक में प्रतिष्ठित **ओषधि, बनस्पति, कृमि, कीट, पशु, पक्षी, मनुष्यविध पार्थिव प्रजा**,---पञ्चदशस्तोमरूप महापृथिवी के अन्तरिक्षलोक में प्रतिष्ठित **गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच-बिध** आन्तरिक्ष्य प्रजा', एकविंशस्तोमरूप महापृथिवी के द्युलोक में प्रतिष्ठित **पितर-ऐन्द्र-प्राजापत्य-ब्राह्म-विध** दिव्यप्रजा की, **ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियों** के संचालक बनते हुए, इस * **स्तौम्यत्रिलोकीरूप** पार्थिव त्रैलोक्य के भाग्यविधाता-**इन्द्र-वायु-अग्नि** ही सर्वे-

* अष्टविध त्रैलोक्य-विज्ञान के अनुसार यह पार्थिव स्तौम्यत्रिलोकी **संयती-क्रन्दसी-रोदसी** तीनों से भिन्न हैं। रोदसी-त्रिलोकी का जो पृथिवीरूप भूलोक है, उस में रहने वाले प्राणाग्नि के वितान से ही इस सर्वथा स्वतन्त्रा स्तौम्यत्रिलोकी का आविर्भाव होता है। इसे ही "**अदितिर्द्यौ०**" इत्यादिरूप से **अदिति-त्रिलोकी** भी कहा गया है।

सर्वा बन रहे हैं। इस त्रैलोक्य में प्रजावर्ग इन्हीं तीनों का विजय महोत्सव मनाता हुआ उस **ब्रह्मविजय** को भूल रहा है, जिस के कि ये तीनों त्रैलोक्य-विजयी देवता प्रत्यंशमात्र हैं। **केनोपनिषत् ने** बड़ी ही आकर्षक-पद्धति से इस **देवविजय को ब्रह्मविजय**-परक बतलाते हुए **उमाशक्ति** की **उपासना के** द्वारा **प्रज्ञान-ब्रह्मलक्षणा पर्वोङ्कारोपासना** का आदेश दिया है, जैसा कि **केनोपनिषत्-विज्ञानभाष्य** में विस्तार से उपबृंहित **है**।

४५२–देवतात्रयी के द्वारा पिता यज्ञप्रजापति के आदेश से तानूनप्त्रकर्म्म का अनुष्ठान, एवं तानूनप्त्र के द्वारा देवतात्रयी की-'विराट्' स्वरूप में परिणति—

अर्थशक्ति के संचालक त्रिवृत्–**पार्थिव–अग्नि**, क्रियाशक्ति के उत्तेजक पञ्चदश–**आन्तरिक्ष्य वायु**, एवं ज्ञानशक्ति के प्रवर्त्तक **एकविंश–आदित्य**, इन तीनों देवताओंनें उत्पत्यनन्तर किया क्या ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्न का उत्तर **है—"अनेन प्रसविष्यध्वम्"**। इन के पिता **यज्ञप्रजापति [ब्रह्म-सत्य]** ने अपने पार्थिव भाग से इन्हें उत्पन्न कर कर्त्तव्यरूप यही आदेश दिया कि- जिस **"यज्ञ"** के बल से में आज बलेश्वर बना हुआ हूँ, यदि तुम त्रैलोक्य–में [पार्थिव स्तौम्यत्रैलोक्य में] अपना सम्मिलित एक–च्छत्र साम्राज्य स्थापित करना चाहते हो, तो उसी देवसंगमनरूप यज्ञमार्ग का अनुगमन करो। तीनों परस्पर मिल जाओ। अभी तुह्मारी शक्तियाँ पृथक्–पृथक् बटीं हुईं–हैं। जिस दिन तुम परस्पर मिल जाओगे, तीनों **शक्तियाँ** मिलकर तुह्में–इस स्वस्वरूप से **विराट्रूप** में परिणत कर देगीं। उस अवस्था में तुम तीन न रह कर एक विराट् बन जाओगे। ध्यान रक्खो, पृथक् पृथक् रहते हुए अभीतक तुम मेरी [यज्ञप्रजापति लक्षण ब्रह्मसत्य की] प्रजा ही बने हुएहो। अभीतक तुम अपनी पैत्रिक सम्पत्तिरूप **"प्रजापति"** सम्पत्ति-से वञ्चित हो। मेरी पूर्वोक्ता यज्ञप्रणाली का अनुगमन करते हुए तुम तीनों–एक रूप में परिणत होजाओगे। और उस समय तुह्मारा मर्त्य प्रजाभाव विच्छिन्न हो जायगा, और बन आओगे मत्समकक्ष ही **"विराट् प्रजापति"**।

४५३–संघठनात्मिका तानूनप्त्रप्रक्रिया का संस्मरण—

पिता यज्ञप्रजापति के उक्त आदेश को शिरोधार्य्य कर उक्त तीनों पुत्रोंने उसी सुप्रसिद्धा यज्ञप्रक्रिया का आश्रय लिया, जो कि प्रक्रिया यज्ञरहस्य–प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में–**"तानूनप्त्र"** नाम से प्रसिद्ध हुई है। संघठनात्मिका प्रक्रिया ही तानूनप्त्र है। इसी से तनु की रक्षा होती है, शरीर गिरने नहीं-पाते, अतएव इसे **'तानूनप्त्र'** कहा जाता है। [देखिए–शतपथब्राह्मण-३ काण्ड-४ अ०। ३ ब्राह्मण]।

४५४–पार्थिव अग्नि का तानूनप्त्र, तदनुगता त्रिवृद्रूपता, एवं अग्नि के 'पवमान, पावक, शुचि, विवर्च-भावों का संस्मरण—

सब से पहिला अर्थप्रधान **पार्थिव त्रिवृदग्नि** तो आहवनीय बना, और इस में क्रियाप्रधान आन्त-रिक्ष्य **पञ्चदश वायु**, एवं ज्ञानप्रधान दिव्य **एकविंश आदित्य**, दोनों देवता आहुतिद्रव्य रूप से आहुत होगए। परिणाम इस का यह हुआ कि, यह पार्थिव अग्नि-अग्नि-वायु-आदित्यमूर्ति **[किन्तु अग्निप्रधान, अतएव अर्थप्रधान]** बन कर पृथिवी से द्युलोक पर्य्यन्त व्याप्त होता हुआ **"वैश्वानर"** नाम से प्रसिद्ध होगया। तीनों विश्वों–के नरों [नायकों] के समन्वय से ही यह वैश्वानर कहलाया, एवं त्रैलोक्य में इस–की व्याप्ति होगई—**वैश्वानरो यतते सूर्य्येण, आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्"**] वैश्वानर अग्नि के ये ही तीनों पर्व यज्ञभाषा में **पवमान, पावक, शुचि**, इन नामों से व्यवहृत हुए।

४५५–आन्तरिक्ष्य वायु का तानूनप्त्र, तदनुगता–त्रिवृद्रूपता, एवं वायु के-'वात-मरुत्-पवन'--भावों का संस्मरण—

अनन्तर क्रियाप्रधान आन्तरिक्ष्य **पञ्चदश वायु** तो आहवनीय अग्नि बना, और इसमें अर्थप्रधान **पार्थिव त्रिवृदग्नि**, एवं ज्ञानप्रधान दिव्य **एकविंश आदित्य**, दोनों देवता आहुतिद्रव्यरूप से आहुत होगए। परिणाम इसका यह हुआ कि, यह आन्तरिक्ष्य–वायु-भी वायु-अग्नि-आदित्यमूर्त्ति (**किन्तु वायुप्रधान, अतएव अर्थप्रधान**) बन कर अन्तरिक्ष से इस ओर पृथिवी पर्य्यन्त, अन्तरिक्ष्य से उस ओर द्युलोक पर्य्यन्त व्याप्त होता हुआ "**हिरण्यगर्भ**" * नाम से प्रसिद्ध होगया। त्रैलोक्यमूर्ति पार्थिव सम्वत्सर ही हिरण्यमण्डल है। वह इसके गर्भ में आगया, अतएव इसे '**हिरण्यगर्भ**' कहा गया। त्रैलोक्य–व्यापक वायुमूर्त्ति इसी हिरण्यगर्भ के सम्बन्ध में–"**वायुर्वै सर्वेषां देवानामात्मा**" (शत० १४।३।२।७।)—"**एष हीमांल्लोकाकाँस्तरति**" (ऐ० ब्रा० ४।२०) इत्यादि वचन प्रसिद्ध हैं। इस हिरण्यगर्भ वायु के तीनों पर्व क्रमशः **वात-मरुत्–पवन**, इन नामों से प्रसिद्ध हुए।

४५६–दिव्य--आदित्य का तानूनप्त्र, तदनुगता त्रिवृद्रूपता, एवं आदित्य के 'वासव-मरुत्वान्--मघवा'–भावों का संस्मरण—

अनन्तर ज्ञानप्रधान दिव्य **एकविंश आदित्य** तो आहवनीय अग्नि बना, और इस में अर्थप्रधान **पार्थिव त्रिवृदग्नि**, एवं क्रियाप्रधान आन्तरिक्ष्य **पञ्चदश वायु**, ये दोनों देवता आहुतिद्रव्यरूप से हुत हुए। परिणाम इस आहुतियज्ञ का यह हुआ कि, यह दिव्य-आदित्य भी अग्नि-वायु-आदित्य-मूर्त्ति (**किन्तु आदित्य-प्रधान, अतएव ज्ञानप्रधान** बन कर द्युलोक से आरम्भ कर इस ओर के अन्तरिक्ष-पृथिवीलोक पर्य्यन्त व्याप्त होता हुआ "**सर्वज्ञ**" नाम से प्रसिद्ध होगया। त्रैलोक्य की ज्ञानराशि इस के गर्भ में आगई, अतएव इसे '**सर्वज्ञ**' कहा गया। त्रैलोक्य–व्यापक इन्द्रमूर्त्ति इसी सर्वज्ञ के लिए–"**नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन**" यह प्रसिद्ध है। इस सर्वज्ञ इन्द्र के तीनों पर्व क्रमशः **वासव–मरुत्वान्–मघवा** नाम से प्रसिद्ध हुए।

४५७–त्र्यात्मक अग्नि--वायु--आदित्य को गार्हपत्य-धिष्ण्य–आहवनीय-मूला वैश्वानर--हिरण्यगर्भ--सर्वज्ञात्मिका--दशकलोपेता विराट्रूपता का तात्त्विकस्वरूप–समन्वय—

त्रिवृत्कृत (अग्नि–वायु–आदित्यात्मक) उक्त तीनों तानूनप्त्रदेवताओं (वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ देवताओं) में वैश्वानर देवता पार्थिव यज्ञ का **गार्हपत्याग्नि** कहलाया, हिरण्यगर्भदेवता **धिष्ण्याग्नि** कहलाया। अष्टविध नाक्षत्रिक सर्पाग्नि के समन्वय से इस मध्यस्थ श्रपणाग्नि के आठ अवयव होगए, जो कि यज्ञसमय में **आग्नीध्रीय--अच्छावाकीय, मार्ज्जालीय** आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। धिष्ण्याग्नि के सम्बन्ध से ही हिरण्यगर्भ धिष्ण्याग्नि कहलाया भी। तीसरा सर्वज्ञ देवता पार्थिव यज्ञ का आहवनीय कहलाया। इसप्रकार १–८–१ इस रूप से तीन की १० कला होगईं, और एक-कल गार्हपत्याग्निमूर्त्ति वैश्वानर, अष्टकल धिष्ण्याग्निप्रतिमूर्त्ति हिरण्यगर्भ, एवं एककल आहवनीयाग्निमूर्त्ति सर्वज्ञ, इन तीनों की समष्टि ही दशकलमूर्त्ति "**विराट्-यज्ञप्रजापति**" कहलाया।

---

* सूर्य्य भी हिरण्यगर्भ कहलाता है। "**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे०**" से इसी का ग्रहण है। वायुप्रधान हिरण्यगर्भ को इस से पृथक् ही समझना चाहिए।

४५८–सम्वत्सरात्मक महासुपर्ण की विराट्रूपता का संस्मरण—

विषुवद्वृत्त इस का आत्मा बना, उत्तरायण उत्तरपक्ष बना, दक्षिणायन दक्षिणपक्ष बना, और यही सम्वत्सरात्मक विराट्-मूर्त्ति पक्षी-राज हम सब का आत्मा बना। इसी सुपर्ण का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

अथ ह वाऽएष महासुपर्ण एव सम्वत्सरः। तस्य यान् पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानुपयन्ति,-सोऽन्यतरः पक्षः। अथ यान् षडुपरिष्टात् सोऽन्यतरः। आत्मा विषुवान्"।

—शत० १२।२।३।७

४५९–विराट्प्रजापति के सहस्रशीर्ष--सहस्राक्ष--सहस्रपात्--भावों का तात्त्विक स्वरूप--समन्वय, एवं तन्मूला यजुःश्रुति—

सर्वज्ञ--हिरण्यगर्भ--वैश्वानर, इस देवत्रयी के कारण यह विराट् पुरुष 'त्रिकेन्द्र' बनता हुआ **सहस्रशीर्ष--सहस्राक्ष * सहस्रपात्** बन गया। सर्वज्ञमण्डल हृदयभाव के कारण चारों ओर सहस्र सहस्र ज्ञानरश्मियों का प्रसार करता हुआ **'सहस्रशीर्षः'** बन गया। हिरण्यगर्भमण्डल हृदयभाव के कारण चारों ओर सहस्र सहस्र क्रियारश्मियों का प्रसार करता हुआ 'सहस्राक्षः' बन गया। एवं वैश्वानरमण्डल इसी हृदयभाव के कारण चारों ओर सहस्र सहस्र अर्थरश्मियों का प्रसार करता हुआ **"सहस्रपात्"** बन गया। इस त्रिकेन्द्र की समष्टि के कारण ही त्रिभावोपेत विराट् (सम्वत्सर) वर्त्तुलवृत्त न रह कर **दीर्घवृत्तरूप** में **(अण्डरूप में)** परिणत होगया। त्रिकेन्द्रवृत्त ही दीर्घवृत्त कहलाता है। इसीलिए यह विराट्-व्याप्ति-मण्डल -निगमागमादि शास्त्रों में **"ब्रह्माण्ड" (ब्रह्म--यज्ञप्रजापति, उस का अण्ड--दीर्घवृत्तरूप विराट् प्रजापति)** कहलाया। ब्रह्मसत्य का अन्तिम पर्वरूप मर्त्य भूपिण्ड ही अमृता पृथिवी के प्राणाग्नि से कृतरूप इस विराट् की प्रतिष्ठा बना। इसी विराट् स्वरूप को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति कहती है—

सहस्रशीर्षः पुरुषः, सहस्राक्षः, सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठिद्दशाङ्गुलम्॥

—यजुःसंहितायाम्

विराट्—विभूतिः—

अग्निः--प्रजापतिः	आदित्यः--आदित्याः--दिव्याः	(एकविंशस्तोमः)	—अमृता-पृथिवी
	वायुः —-रुद्राः-—आन्तरिक्ष्याः	(पञ्चदशस्तोमः)	
	अग्निः-—वसवः-—पार्थिवाः	(त्रिवृत्स्तोमः)	

* यहाँ 'सहस्राक्षः' से मध्यस्थ 'हृदयस्थान' ही अभिप्रेत है।

अ—ग्निः— — — प्र — — — — जा — — प — — तिः

१	२	३
वैश्वानरः	**हिरण्यगर्भः**	**सर्वज्ञः**
३–शुचिः (अग्निः)	३–पवनः (वायुः)	३–मघवा (इन्द्रः)–एकविंशस्तोमः–द्यौः
२–पावकः (अग्निः)	२–मरुत् (वायुः)	२–मरुत्वान् (इन्द्रः)–पञ्चदशस्तोमः–अन्तरिक्षम्
१–पवमानः (अग्निः)	१–वातः (वायुः)	१–वासवः (इन्द्रः)–त्रिवृत्स्तोमः पृथिवी
सहस्रपात्	**सहस्राक्षः**	**सहस्रशीर्षः**
अर्थप्रधानोऽग्निः	क्रियाप्रधानो वायुः	ज्ञानप्रधानः—आदित्यः
गार्हपत्यः	धिष्ण्यः	आहवनीयः
एककलः	अष्टकलः	एककलः
१	८	१

एककल—स्त्रिकलो—वा दशकलो वा विराट् प्रजापतिः

देवसत्यो महासुपर्णः

स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्म्मात्मशक्तिमान् ।

विबभाजात्मनात्मानमेकधा-दशधा-त्रिधा ॥

(श्रीमद्भागवते ३।६।७)।



पद्भ्यां भूमिं प्रतिष्ठितः

४६०–नैगमिक विराट्पुरुष के प्रसङ्ग से गीताशास्त्र के विराट्पुरुष का संस्मरण, एवं दोनों के स्वरूप--सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति का उत्थान—

विराट्पुरुष के उक्त संक्षिप्त निदर्शन से जहाँ हमारे अनेक सन्देह निवृत्त होजाते हैं, वहाँ अनेक और और सन्देह उत्पन्न भी होजाते हैं। गीताशास्त्र ने जिस विराट् स्वरूप का प्रतिपादन किया है, वह, और पूर्व--प्रतिपादित विराट्, दोनों में कुछ विषमता प्रतीत हो रही है। गीताने **ब्रह्मा, ऋषि, सूर्य्य, चन्द्रमा, द्यावा-पृथिवी** आदि सभी का विराट् पुरुष में अन्तर्भाव मानते हुए इसे **विश्वरूप विश्वेश्वर** कहा है (११।१६) आगे जाकर—

> **"त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।**
> **त्वमव्ययः शाश्वतधर्म्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥**
> **अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य्यमनन्तबाहुं शशिसूर्य्यनेत्रम् ।**
> **पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥** (गीता ११।१८,१९,)।

४६१–गीताशास्त्र का विराट्स्वरूप—

यह कहते हुए गीताने विराट् को **अक्षर-अव्यय-परात्परमूर्त्ति** भी सिद्ध किया है। गीता में **"शाश्वतधर्म्म"** शब्द परात्पर के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, जैसाकि पाठक **"शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुख-स्यैकान्तिकस्य च"** इत्यादि श्लोकभाष्य में देखेंगे।

६२–गीतानुमोदित विराट्स्वरूप के द्व्यात्मक स्वरूप का संस्मरण--प्रयास—

इधर अत्र प्रतिपादित विराट् को हमने केवल महापृथिवी में भुक्त मानते हुए इसे विकारक्षरमूर्ति ही कहा है। **अग्नि-वायु-इन्द्र**-समष्टि को ही विराट् मानते हुए **चन्द्रमा-सूर्य्य-परमेष्ठी-स्वयम्भू ब्रह्मा** तक को जब विराट् स्वरूप से पृथक् कर दिया है, तो इन पञ्चपर्वों से पृथक् **अक्षरमूर्त्ति षोडशी-प्रजापति, अव्यय-मूर्त्ति निर्गुण--आत्मा, शाश्वतधर्म्ममूर्त्ति--परात्पर** का तो कहना ही क्या है। ये ही कुछ एक ऐसे विरोधी भाव हैं, जिनके आधार पर यह कहा जासकता है कि, पूर्वप्रतिपादित विराट् स्वरूप गीताप्रतिपादित विराट्मर्य्यादा के विरोध में जाता हुआ अप्रामाणिक है। ऐसी दशा में आवश्यक होजाता है कि, गीतानिष्ठ भागवतों की श्रद्धा की रक्षा के लिए इन विरोधी भावों का परिहार कर लिया जाय।

४६३-उभयविध विराड्भावों के तात्त्विक समतुलन का समन्वय—

यदि हमारे गीताप्रेमी वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्वोक्त विराट्-स्वरूप का मनन करेंगे, तो उन्हें मान लेना पड़ेगा कि, उस में, और इस में कोई विरोध नहीं है। यह तो सर्वथा सत्य है कि, विराट् का स्वरूप पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा के अन्तिम पर्वरूप केवल पृथिवी पर ही प्रतिष्ठित है। महापृथिवी ही उसका प्रातिस्विक शरीर है। **भूपिण्ड, चन्द्रमा, सूर्य्य, परमेष्ठी, स्वयम्भू, सहस्रवल्शेश्वर अक्षरमूर्त्ति षोडशी प्रजापति, शाश्वतधर्म्मगोप्ता अव्यय, शाश्वतधर्म्मरूप परात्पर** सभी विराट् स्वरूप से बहिर्भूत हैं। फिर गीता ने इन बहिर्भूतों का अन्तर्भाव विराट् के स्वरूप में किस आधार पर मान लिया?, केवल यही विप्रतिपत्ति शेष रह जाती है। इसके समाधान के लिए निम्न लिखित पृथिवी--स्वरूप को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा।

४६४-'यथाण्डे तथा पिण्डे' मूलक सर्वतत्त्वव्याप्ति-समन्वय, तन्निबन्धन विरोध-परिहार, एवं विज्ञानदृष्टिनिबन्धन-विरोध-परिहार का दिग्दर्शनोपक्रम —

"यदेवेह तदमुत्र-यदमुत्र तदन्विह' —"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते"--"यथाण्डे-तथा पिण्डे" इत्यादि वचनों के अनुसार विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित एक एक कण विश्वरूप है, विश्वेश्वर है। जो तत्त्व उस महामहिम महतोमहीयान् विश्वेश्वर में हैं, वे सभी तत्त्व एक परमाणु में भी विद्यमान हैं। इसी आधार पर उस विश्वेश्वर के पर्वावयवरूप विराट् को भी यदि हम 'सर्वेश्वर' कहें, तो कोई आपत्ति न होगी। और सम्भव है--गीता ने विश्वेश्वर की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रखकर ही तत्पर्वावयवरूप विराट् को भी सर्वेश्वर कह दिया हो। यद्यपि एक श्रद्धालु आस्तिक के लिए यह समाधान पर्य्याप्त होसकता है। तथापि विज्ञानदृष्टि से समन्विता विश्वासमयी श्रद्धा का अनुगामी एक वैज्ञानिक इस उत्तर से सन्तुष्ट नही होसकेगा। उसे तो केवल पृथिवी में हीं सर्वप्रपञ्च का विज्ञानदृष्टि से भोग बतलाते हुए विरोध का परिहार करना पड़ेगा। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसके सम्मुख "यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी"-- 'इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः" इत्यादि श्रुतियों का रहस्यार्थ उपस्थित करना पड़ेगा। और इसके लिए हमें सर्वप्रथम निम्नलिखित दो श्लोकों की ओर ही उनका ध्यान आकर्षित करना पड़ेगा—

> **भूर्भूमिरचलानन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा ॥**
> **धरा-धरित्री-धरणी-क्षोणी-ज्या-काश्यपी-क्षितिः ॥१॥**
> **सर्वंसहा वसुमती वसुधोर्वी वसुन्धरा ॥**
> **गोत्रा कुः पृथिवी क्ष्मावनिर्मेदिनी मही ।२॥**

—अमरकोश--द्वितीयकाण्ड भूमिवर्ग–२,३, ।

४६५-षड्विंशति--पार्थिव शब्दों की विभिन्नता, तथा अविभिन्नता का समन्वय, एवं तत्त्वनिबन्धना पारिभाषिकी शब्दविभिन्नता का दिग्दर्शन, और पर्य्याय--शब्दानुगता भ्रान्ति का निराकरण —

इस में तो कोई सन्देह नहीं कि अमरकार की ओर से संग्रहीत पृथिवी-वाचक पूर्वोक्त २६ सों नाम पार्थिव विवर्त्त से ही सम्बन्ध रखते हैं, और इसी दृष्टि से पार्थिव नामों में इन का संग्रह करना न्यायसङ्गत भी बन जाता है। यह सब कुछ ठीक ठीक मानते हुए भी निःसदिग्धरूपेणैव यह भी कह देने में कोई संकोच नहीं किया जायगा कि, २६ सों शब्द एकमात्र पार्थिव विवर्त्त के वाचक बनते हुए भी परस्पर उसीप्रकार पर्य्याय नहीं बन सकते, जैसे कि **इन्द्र-अग्नि-वरुण-मातरिश्वा** आदि यच्चयावत् नाम उसी, एक ही, विश्वेश्वर के ही वाचक बनते हुए भी परस्पर पर्य्याय नहीं माने जासकते। ईश्वरत्त्वेन यद्यपि इन्द्रादि सभी शब्द अभिन्न हैं तथापि इन्द्रत्त्वेन–अग्नित्त्वेन–सभी परस्पर सर्वथा विभिन्न ही हैं। एवमेव पार्थिव–विवर्त्त की दृष्टि से **भू-भूमि-अचला** आदि सभी नाम यद्यपि अभिन्नार्थ के ही वाचक हैं, तथापि **भूत्त्व–भूमित्त्वादि** की दृष्टि से **भूः-भूमि** आदि शब्द भिन्न भिन्न अर्थों के ही वाचक हैं। विभिन्नभावनिबन्धना इस विभिन्ना वाचकता के तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय के लिए सर्वप्रथम हमें उस पार्थिव विवर्त्त के ही प्रकृतिसिद्ध

मौलिक-स्वरूप को अत्यन्त अवधानपूर्वक अपना लक्ष्य बनाना पड़ेगा, जिसके यथावत् समन्वय से विभिन्ना-त्मिका इस भिन्नता का भलीभाँति समन्वय होजाता है ।

४६६-'अद्भ्यः पृथिवी' मूला आपोमयी पार्थिवी सृष्टि का तात्त्विक-स्वरूप--समन्वय, एवं अब्--वायु-तेजः-संयोगजनित आपः, और फेनसर्ग—

'अद्भ्यः पृथिवी' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पानी से ही पृथिवी का स्वरूप--निर्म्माण हुआ है । कल्पना कर लीजिए कि, किसी समय विश्वसाम्राज्य में पृथिवी की सत्ता नहीं थी । रोदसी के अर्णव समुद्र में सूर्य्यरश्मियों के संघर्ष से उत्पन्न **'मरीचि'** पानी की मूर्च्छितावस्थारूप **'मर'** नाम का पानी हीं सर्वत्र व्याप्त होरहा था । पानी में जब वायु का प्रवेश होता है, तो बुद्बुद् उत्पन्न होजाता है, यह नैसर्गिक अब्वायु-क्रीड़ा सर्वदृष्टा है । क्योंकि बुद्बुद् का ऊर्ध्व धरातल वर्त्तुल (गोलाकार) होता है, अतएव बुद्बुदावच्छिन्न पानी इधर उधर लुढक जाता है । फलतः गर्भीभूत वायु मार्ग मिलने से बाहिर निकल जाता है । यदि ऊर्ध्व धरातल की विच्युति से पहिले ही बुद्बुद् पर पानी का ओर आक्रमण होजाता है, तो इस आक्रमण की निश्चित अवधि में बुद्बुदावच्छिन्न पानी, और वायु, दोनों मूर्च्छित होजाते हैं । इन दोनों के सम्मि-श्रण से ही एक अपूर्व भाव का उदय होजाता है । और वही अपूर्वभाव आंशिक घनता से युक्त होता हुआ **'फेन'** (समुद्र-झाग) नाम से प्रसिद्ध होता है ।

४६७-भूतसृष्टि के प्रवर्त्तक काम तपः--श्रम--मूर्त्ति-हृद्य-अन्तर्य्यामी का समन्वय, एवं तन्निबन्धन षोडशीप्रजापति का अक्षरप्रजापति-रूपेण-संस्मरण—

साथ ही इतना ओर स्पष्ट कर लीजिए कि, पानी में वायु का प्रवेश करना, उस वायु, और पानी, दोनों को प्रतिमूर्च्छित बना डालना, दोनों के मूर्च्छितरूप से फेन का आविर्भाव कर डालना, ये सब व्यापार बुद्बुद् के केन्द्र में प्रतिष्ठित अणोरणीयान् उसी **हृदयरूप अन्तर्य्यामी ब्रह्मेन्द्रविष्णुअग्निसोममूर्त्ति अक्षरप्रजापति** की कृपा के ही फल हैं, जिस का कि, **'प्राकृतिक-योगत्रयी'** नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है । इसी अक्षरप्रजापति को हमने **षोडशी प्रजापति** कहा है । इसका आलम्बन निर्गुण अव्यय है । सर्वाधार-निराधार शाश्वतधर्म्म--लक्षण परात्पर है । परात्पर--अव्यय--गर्भित षोडशीप्रजापति--मूर्त्ति अक्षर ही हृदय (केन्द्र) रूप अन्तर्य्यामी है । इस की मौलिक प्रेरणा से ही अब्-वायु के संयोग से फेन उत्पन्न हुआ है ।

४६८-प्रजापति का सृष्टि में प्रवेश, एवं तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' श्रुति का तात्त्विक समन्वय—

इस का दूसरा यह स्वभाव है कि, अपनी प्रेरणा से यह जो कुछ उत्पन्न करता है, उस में आत्म--प्रतिष्ठारूप से प्रविष्ट होजाता है—**'तत् सृष्ट्वा तदेनुप्राविशत्'** । अतएव अबतक जो बुद्बुद् का आत्मा बना हुआ था, आज वही बुद्बुदावस्थान्तररूप इस फेन का हृदय (आत्मा) बन गया है । आगे जितने भी विकार बतलाए जायँगे, सब इसी हृद्य अक्षरप्रजापति की प्रेरणा से सम्बन्ध रक्खेंगे । एवं **'तत् सृष्ट्वा'** इस सामान्य नियम के अनुसार वह इन उत्तर-उत्तर-रूपों में प्रविष्ट रहेगा, और इस आत्मव्याप्ति को लक्ष्य में रख कर ही हमें पार्थिव सृष्टिविवर्त्त का विचार करना होगा ।

४६९—अष्टभावान्विता-पार्थिवी सृष्टि, और अष्टाक्षर-गायत्रीछन्द, एवं तदनुप्राणिता अष्टावया भूमि, और तत्समर्थक श्रौतसन्दर्भ—

पहिली अवस्था [1] आपः (बुद्बुद्) है, दूसरी [2] 'फेन' है। यही फेन उसी वायु के प्रत्याघात से सौरताप-सहयोगी बनता हुआ घनता के समावेश से आगे जाकर [3] 'मृत्' रूपमें परिणत होजाता है। चारभाग ही मृत् है। मृत् की दूसरी अवस्था [4] सिकता (चिकनी मिट्टी) है, इसकी उत्तरावस्था [5] शर्करा (बालूरेत) है, इसकी उत्तरावस्था [6] अश्मा (पत्थर) है, इस की उत्तरावस्था [7] अयः (कच्चालोह) है, एवं इस की उत्तरावस्था [8] हिरण्य (धातुमात्र) अवस्था पर उपरत होती है। 'आपः' से आरम्भ कर 'हिरण्य' पर्य्यन्त आठ भागों में विभक्त भूविवर्त्त ही पृथिवी का शरीर है, ओषधि–वनस्पतियाँ इसके केश--लोम हैं। अष्टावय होने से ही इसे 'गायत्री' कहा जाता है। आठवें अवयव पर ही प्रतिष्ठाभाव पूर्णरूपेण अभिव्यक्त होता है। अतएव इसे 'भूः' कहा जाता है। इसी भूपृष्ठ पर पार्थिव प्रजा उत्पन्न होती है, अतएव इसे 'भूमिः' कहा जाता है। इसी पार्थिव रचनाक्रम का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

"तदिदमेकमेव रूपं--[1]'आप' एव। सोऽकामयत-भूय एव स्यात्, प्रजायेय--इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानः [2] फेनमसृजत, [3] मृदंशुष्कापमूष--[4] सिकतां--[5] शर्करा--[6]मश्मान--[7]मयो--[8]हिरण्यं--(ओषधिवनस्पत्य) सृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्। ता वा एता नव सृष्टयः। इयमसृज्यत। तस्मादाहुस्त्रिवृदग्निरिति। इयं ह्यग्निः, अस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयते। अभूद्वा इयं प्रतिष्ठेति--तद्भूमिरभवत्। तम-प्रथयत्--सा पृथिव्यभवत्। सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमानागायत्। यदगायत्--तस्मादियं गायत्री। अग्निर्गायत्रः।' (६।१।१)— 'या वै सा गायत्री आसीत्, इयं वै सा पृथिवी (भूमिः)। भूरिति--ऋग्भ्योऽक्षरत्, सोऽयं लोकोऽभवत्'। भूरिति वा अयं लोकः।' इयं वा भूमिः, अस्यां वै स भवति, यो भवति"।

—शत० ७।२।११।

४७०—अग्नि--आपः--वाग् रूपा शुक्रत्रयी से अनुप्राणिता ब्रह्मा--विष्णु–इन्द्र–रूपा देवत्रयी, तदनुप्राणिता वेद–लोक--भूत–रूपा सृष्टित्रयी, एवं वषट्कारमण्डलात्मिका साहस्री का संस्मरण—

उक्त अष्टावयव, अतएव गायत्रमूर्त्ति भूपिण्ड, किंवा भूमिपिण्ड के सम्बन्ध में अभी कुछ और भी जानना शेष रह जाता है। श्रुति ने भौम अग्नि को 'त्रिवृत्' कहा है। पाठकों को स्मरण होगा कि, हमनें वेदयुगानुगत--उपासना--प्रकरण में शुक्रविभूति का निरूपण करते हुए पृथिवी के साथ मर्त्यशुक्रत्रयी का सम्बन्ध बतलाया था। अग्निः–आपः-वाक् इन तीनों की समष्टि ही मर्त्यशुक्रत्रयी है। पूर्वोक्त हृद्यप्रजाति की ब्रह्मा--विष्णु--इन्द्र, इन तीन कलाओं के साथ इन तीनों शुक्रों का भोग होता है। अग्नि का ब्रह्मा के

के साथ, आपः का विष्णु के साथ, एवं वाक् का इन्द्र के साथ सम्बन्ध होता है। अग्निमय ब्रह्मा वेदसृष्टि के, आपोमय विष्णु लोकसृष्टि के, एवं वाङ्मय इन्द्र देवसृष्टि के द्वारा वषट्कार-मण्डलरूपा वाक् साहस्री के जनक बनते हैं, जिसकाकि अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है।

४७१–भूकेन्द्र–भूमध्य–भू–ऊर्ध्व–अनुगता ब्रह्मा–विष्णु–शिव–त्रयी का स्वरूप–समन्वय—

अग्निमय ब्रह्मा की वेदसृष्टि ऋक्–यजुः–साम–भेद से त्रिधा विभक्त है। इन तीनों से क्रमशः भूः–भुवः–स्वः इन तीन लोकव्याहृतियों का प्रादुर्भाव होता है। **भूकेन्द्रस्थान स्वर्लोक है, स्वयं भूपिण्ड भूलोक है, एवं मध्यप्रदेश भुवर्लोक है।** स्वर्लोक में अग्निमूर्त्ति ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं—**"ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा"—"मूलतो ब्रह्मरूपाय"**। भुवर्लोक में अन्नमूर्त्ति विष्णु प्रतिष्ठित हैं—**"मध्यतो विष्णुरूपिणे"**। एवं भूलोक में अग्निसोमान्तरगर्भित त्रिमूर्त्ति वाङ्मय इन्द्र (शिव) प्रतिष्ठित हैं—**"अग्रतः शिवरूपाय"**।

४७२–भूपिण्डानुगत भूः–भुवः–स्वः–रूप–त्रैलोक्य का स्वरूप–दिग्दर्शन—

तात्पर्य्य इसका यही हुआ कि, हृद्या देवत्रयी की व्याहृतियों से उक्त अष्टपर्वा, किंवा नवपर्वा भूपिण्ड स्वः–भुवः–भूः–इन तीन भावों में परिणत होगया। **भूकेन्द्र अग्निमय स्वर्लोक कहलाया, भूमध्य भाग (उदरभाग) आपोमय भुवर्लोक कहलाया, एवं उपरितन भूपिण्ड वाङ्मय भूलोक कहलाया।** तीनों में क्रमशः **ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र** सहचारी **अग्निः–आपः–वाक्** इन तीन मर्त्य शुक्रों का भोग हुआ। भूः–इसका एकपर्व रहा, भूमि तीनों पर्वों की समष्टि का नाम रहा।

४७३–ब्रह्मानुगता वेदसाहस्री, विष्ण्वनुगता लोकसाहस्री, एवं इन्द्रानुगता वाक्साहस्री का तात्त्विक–संस्मरण—

सर्वसामान्य–लोकव्यवहार में भूरादि, पृथिव्यादि को भी परस्पर समानार्थक माना जारहा है। परन्तु उक्त विवेचन प्रमाणित रहा है कि, भूः–भुवः–स्वः–पृथक् तत्त्व हैं, एवं **पृथिवी–अन्तरिक्षं–द्यौः** पृथक् वस्तुभाव हैं, जैसाकि पाठक आगे जाकर देखेंगे। अभी केवल **भूपिण्ड** को ही लक्ष्य में रखिए, और लक्ष्य में रखिए उस ब्रह्माग्नि को, जो कि स्वर्लोक–स्थानीय भूपिण्ड के केन्द्र में सब की प्रतिष्ठा बनता हुआ प्रतिष्ठित होरहा है, एवं जिस प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर **वाङ्मय इन्द्र,** तथा **आपोमय विष्णु** आगे जाकर **वाक्साहस्री, वेदसाहस्री, लोकसाहस्री** इन तीन साहस्रियों का वितान करने वाले हैं। और जो कि यह वितान ही विराट्स्वरूप का निर्म्मापक बनने वाला है।

४७४–पृथिवी के अचला–अनन्ता–रसा विश्वम्भरा, तथा स्थिरा–विवर्त्तों का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय, एवं तन्मूलक हृद्य–प्रजापति—

भूपिण्ड का निर्म्माण सम्पन्न हुआ। प्रजापति की एक कामना पूरी हुई। अब उसने भूपिण्ड के आधार पर क्या नवीन इच्छा की ?, एवं इच्छानुकूल तप और श्रम के द्वारा वह क्या से क्या बन गया ?, इस प्रश्न का समाधान पूर्वोक्त श्रुति का **"अस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयते"** यही वाक्य है। पूर्व में कहा जाचुका

हैं कि, भूगर्भ में "स्वर्लोकाधिष्ठाता वेदमूर्ति ब्रह्माग्नि प्रतिष्ठित है । यह अग्नितत्त्व प्राणात्मक प्रजापति है । भूपिण्ड इसी का सप्तपुरुषपुरुषात्मक चितिभाव, किंवा चिनाव है । इसी चिति से यह मर्त्यभूपिण्ड "चित्य" कहलाया है । इस चित्य, किंवा भूस्तरों के क्रमिक चिनाव की प्रतिष्ठा यही केन्द्रस्थ प्राणाग्नि मूर्त्ति प्रजापति है—"विश्वमूर्ति-विश्वम्भर-अचल-अनन्त-रसमूर्त्ति यही प्रजापति है । इसी पार्थिव-प्रजापति के अनुग्रह से पृथिवी अचला, अनन्ता, रसा, विश्वम्भरा, एवं स्थिरा कहलाई है ।

४७५–चित्य--चितेनिधेयात्मक अग्नि की -'सर्व' रूपता का तात्त्विक--समन्वय—

आपः–फेन–मृत् शर्करादि भूपिण्ड के आठों पर्व चित्याग्निमय हैं । पञ्चीकृत होने से यह अष्टविध मर्त्य (चित्य) अग्नि "सर्व" कहलाता है । इस सर्वाग्नि की चिति (चयन--चेजा–चिनाव) उस मूलस्थ हृद्य प्रजापति–लक्षण अमृतधर्म्मा प्राणमूर्त्ति रसाग्नि के आधार पर ही हुई है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर–"अस्यै हि सर्वोऽग्नि (चित्योऽग्निरष्टविध)–श्चीयते" यह कहा गया है ।

४७६--'पशु' शब्द का पारिभाषिक समन्वय, तन्निबन्धन--'पाशुकाग्नि', एवं उसकी अविकसितावस्था का समन्वय—

चित्यभाव मे विकास नहीं होता, क्योंकि वैदिक--परिभाषानुसार चित्यभाव 'पशु' है, 'अनात्म्य' है । पाषाण–लोष्टादि का स्वरूप एकरूप क्यों रहता है ?, पशुओं की ज्ञानमात्रा विकसित क्यों नहीं होती ?, इन प्रश्नों का भी यही उत्तर है । यद्यपि वैदिक आत्मवाद के अनुसार इनमें भी आत्मा अवश्य ही है । पशुओं में तो चैतन्यलक्षण आत्मा प्रत्यक्ष ही दृष्ट है । तथापि इनका आत्मा भूतभाग के आवरणाधिक्य से ज्योतिर्भाग से अभिभूत ही रहता है । अतएव इसे विकास का अवसर नहीं मिलता । फलतः जितना भी चित्यवर्ग है, उसके स्वरूप में आगे कोई विकास नहीं होता । यही कारण है कि, चित्याग्निरूप [पाशुकाग्निरूप] भूपिण्ड जैसे का तैसा ही रहा, इसमें कोई विकास नहीं हुआ ।

४७७--'एकोऽहं बहु स्याम्' मूलक प्राणाग्नि-निबन्धन महिमात्मक विकासभाव, और अग्निनिबन्धन--'सर्व'--'कृत्स्न'--शब्द—

परन्तु इस चित्य भूपिण्ड का सर्वाधार, किन्तु स्वयं निराधार आत्मलक्षण रसाग्नि, (प्राणाग्नि) किंवा प्रजापति उस संकुचित सीमा में न रहकर बाहिर निकल पड़ा । "एकोऽहं बहु स्याम्" इस स्वाभाविकी कामना से रसाग्नि चित्यपिण्ड का भेदन करता हुआ (भूपिण्ड से बहिर निकलता हुआ) महिमारूप से भूपिण्ड के चारों ओर बड़ी दूर पर्य्यन्त मण्डलरूप में परिणत होगया, और मण्डल की अन्तिम सीमा पर पहुँच कर ही उसने अपने आप को 'सर्व', तथा 'कृत्स्न' माना ।

४७८--प्रजापति के अनिरुक्त--उद्गीथ, एवं सर्व–रूपों का संस्मरण, तथा अनिरुक्त--प्रजापति से अनुप्राणिता अनिरुक्ता--'ककार' व्याहृति का तात्त्विक--स्वरूप--सम वय—

प्रजापति के अनिरुक्त–उद्गीथ–सर्व–नामक तीन महिमामय स्वरूप माने गए हैं । हृद्यभाव सर्वथा अनिरुक्त रहता है । हृदय (केन्द्रबिन्दु) का शब्द के द्वारा कोई निर्वचन नहीं किया जासकता । इसी आधार

पर इस हृदयमूर्त्ति प्राणाग्नि-प्रजापति को **"अनिरुक्तप्रजापति"** कहा जाता है, एवं-**"प्रजापतिश्चरति-गर्भेऽन्तरजायमानः"** इत्यादि श्रुति इसी हृद्य प्रजापति का यशोवर्णन कर रही है। लोकव्यवहार में अनिरुक्त प्रजापति के लिए **'ककार** -- (क) का प्रयोग होता है । अज्ञातदशा में **"कौन"** का प्रयोग होता है। इसी रहस्य के आधार पर इस अनिरुक्त तत्त्व को "कः" नाम से व्यवहृत किया गया है, जैसाकि-**"कस्मै देवाय हविषा विधेम"-"स वै प्रजापतिरब्रवीत् कोऽहमिति । यदेवैतदवोच, इत्यब्रवीत, ततो वै को नाम प्रजापतिरभवत् । को वै नाम प्रजापतिः"** (ऐ० ब्रा० ३।२।१।) इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। इसी 'क' प्रजापति के सम्बन्ध से पृथिवी अपने स्वरूप-प्रदर्शनरूप प्रजापति के यशोगान करने से **'कु'** नाम से भी प्रसिद्ध हुई है।

४७९-ककारात्मक अनिरुक्तप्रजापति की 'स'-कारात्मिका सर्वरूपता का समन्वय, एवं प्रजापति की सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन--

दूसरा **सर्व** रूप है। चित्यपिण्ड भी इसी प्रजापति का मर्त्यभाग है। महिमामण्डल भी इसी प्राणाग्नि का वितान है। सबकुछ अपने मर्त्य-अमृत भागों से यही बना हुआ है। सर्वात्मक सर्वमूर्त्ति इसी प्रजापति को **"सर्वप्रजापति"** कहा जाता है। अनिरुक्तभाव से जो **'अजायमान'** रहता है, इस निरुक्त सर्वभाव कि दृष्टि से उत्पन्न होने वाला सब कुछ भी वही है, जैसाकि— **"प्रजापते नत्वदेतान्यन्यः"-"सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः" "प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च"** इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। अनिरुक्त की व्याहृति **'ककार'** था, एवं इस निरुक्त-सर्व की व्याहृति 'सकार **(स) है-"सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद"** ।

४८०-ककार-सकार, एवं उद्गीथ-प्रजापति-त्रयी का माङ्गलिक-संस्मरण, एवं 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति'--

भूकेन्द्र में प्रजापति का ककारलक्षण अनिरुक्तरूप प्रतिष्ठित है, महिमामण्डल की परिधि में सकार-लक्षण सर्वरूप प्रतिष्ठित है। एवं महिमामण्डलान्तर्गत २१ विंशस्तोमावाच्छिन्न यज्ञियमण्डल के सप्तदशस्तोम-रूप केन्द्र में तीसरा **उद्गीथरूप** प्रतिष्ठित रहता है, जिसे **"सप्तदशप्रजापति"** भी कहा जाता है। प्रजापति के इन तीनों रूपों में से प्रकृत में सर्वप्रथम हृद्य अनिरुक्त प्राणाग्निमूर्त्ति प्रजापति की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं-**"प्राणाग्नय एवैतस्मिन पुरे जागर्त्ति"** (प्रश्नोपनिषत्)।

४८१--प्राणात्मक हृद्य प्रजापति के वितान का माध्यम भूत, एवं भूत की साधनरूपता का समन्वय--

हृद प्रजापति प्राणात्मा था, विकसित होना इसका स्वाभाविक धर्म्म था। परन्तु बिना भूतभाग का आश्रय लिए यह स्वस्वरूप का विकास भी कैसे कर सकता था। ज्ञानविकास के लिए हमें भी तो साधनरूप से ग्रन्थ-लिपि आदि भौतिक चित्य भागों का ही आश्रय लेना पड़ता है । अपने शरीरपरिच्छिन्न भूतात्मा को विश्वव्यापक ईश्वरात्मा में समर्पित करने के लिए भी तो हमे प्रतिमादि भौतिक पदार्थों को ही मध्यस्थ बनाना पड़ता है। प्रजापति के द्वारा विहित इस स्वाभाविक सत्य नियम का स्वयं प्रजापति कैसे उल्लँघन कर सकते थे।

४८२–भूतमाध्यम से हृद्यप्रजापति के द्वारा पार्थिव-सृष्टि का वितान––

इसी नियम-शिक्षण के लिए 'प्राणप्रजापति' ने सर्वप्रथम मृत्यु का मन्थन कर पानी उत्पन्न किया। वायु के प्रवेश से पानी को घन बना डाला। प्रजापति के अवताररूप एमूष नामक वराहवायु की कृपा से संघातरूप में परिणत होने वाला यह घन पानी हीं–"**अपांशर**" [**पानी की थर-मलाई-**] नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही **अपांशर**, किंवा आपः नाम का प्रथम पर्व पूर्वोक्त क्रमानुसार कालान्तर में और भी अधिक क्रमिक संघातभाव से अष्टपर्वात्मक भूपिण्डरूप में परिणत होगया। यही पाञ्चभौतिक, सर्वाग्निमय (चित्याग्निमय) मर्त्य भूपिण्ड उस हृद्य प्राणप्रजापति के ऊर्ध्व वितानलक्षण विकास का मध्यस्थ आलम्बन बना।

४८३–तेजोरसमूर्त्ति प्राणाग्निमय प्रजापति का अवस्थात्रय–निबन्धन ऊर्ध्व वितान, एवं तन्निबन्धना वेदत्रयी का स्वरूप--समन्वय––

उक्त चित्य पिण्ड को आधार बनाकर प्रजापतिने सृष्टि के **काम–तपः–श्रम** -- रूप सामान्य अनुबन्धों का आश्रय लिया। इस संघर्ष से स्वयं **प्रजापति** भूपिण्ड से बाहिर निकल पड़े। बाहिर निकले हुए अपने इस **तेजोरस** (**प्राणाग्नि**) को, जो कि प्रजापति का अपना आत्मा हीं था, **घन–तरल-विरल** भेद से **अग्नि--वायु--आदित्य**-रूप में परिणत कर डाला, जिस **आत्मत्रयी-लक्षण देवत्रयी** का पूर्व के विराट्स्वरूप-प्रकरण में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। प्रजापति के रसात्मा के तीन ही रूप क्यों हुए ?, इसका उत्तर वेदत्रयी ही है। ब्रह्माग्नि को हमने वेदमूर्ति कहा है। वेद **ऋक्-यजुः–साम–भेद से** तीन भागों में विभक्त है। इसी वेदत्रयी के तीन पर्वों से **अग्नि-वायु-आदित्य**–ये तीन आत्मपर्व विकसित हुए। **ऋक् का अग्नि से, यजु का वायु से, एवं साम का आदित्य से सम्बन्ध रहा।** और यही वेदत्रयी वेदविज्ञान-परिभाषा में "**पार्थिव-यज्ञमात्रिक**" वेद नाम से प्रसिद्ध हुई।

४८४–'पुत्रत्रयी' रूपा 'आत्मत्रयी' का स्वरूप--समन्वय, एवं 'सम्वत्सरप्रजापति' रूप-- पार्थिव--'विराट् प्रजापति'- –

उक्त **आत्मत्रयी** को दूसरे शब्दों में हम '**पुत्रत्रयी**' भी कह सकते हैं। और इसी दृष्टि से पूर्वप्रकरण में **अग्नि–वायु–आदित्य**, इन तीनों को हमने **प्रजापति के पुत्र** कहा है। "**आत्मा वै जायते पुत्रः**" के अनुसार यहाँ हम इन तीनों को प्रजापतिरूप भी कहते हुए संकोच नहीं कर रहे हैं। फिर क्या हुआ ?, उत्तर पूर्व से गतार्थ है। प्रजापति की इच्छा से तीनों तानूनप्त्र के द्वारा मिलकर '**विराट्प्रजापति**'-रूप प्रजापति का दूसरा आत्मा बन गए, जो कि विराट् **सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ-वैश्वानर**–रूप से पूर्व में उपवर्णित होचुका है। **यही विराट् पार्थिव सम्वत्सर–प्रजापति कहलाया।**

४८५–महासुपर्णात्मक पार्थिव--सम्वत्सर का जन्ममहोत्सव, एवं तदावास--निवासस्थान-रूप पार्थिव त्रैलोक्य––

इस तानूनप्त्र–प्रक्रिया से पहिले पहिले एक विराट्रूप सम्वत्सरप्रजापति का अभाव था। तीनों के पारस्परिक सर्वहुतयज्ञ से ही आगे जाकर इस **महासुपर्णरूप पार्थिव सम्वत्सर** का जन्म हुआ, जिसका कि

ऋग्वेदावच्छिन्न अग्निमय, किंवा वैश्वानर--पर्वमय पार्थिवभाग त्रिवृत्पृथिवीलोक कहलाया। यजुर्वेदावच्छिन्न वायुमय, किंवा हिरण्यगर्भ--पर्वमय पार्थिवभाग पञ्चदश अन्तरिक्षलोक कहलाया। एवं सामवेदावच्छिन्न आदित्यमय, किंवा सर्वज्ञ-पर्वमय पार्थिवभाग एकविंश द्युलोक कहलाया।

४८६-विराट्प्रजापति का यज्ञसंस्थान, ऋत्विग्वर्ग, यजमान, और तदनुबन्धी--'अर्काश्वमेध' –

त्रैलोक्यरूपा अग्निमयी पृथिवी ही यज्ञमण्डल कहलाया। ऋग्वेदी अग्नि 'होता' बने, यजुर्वेदी वायु अध्वर्यु बने, सामवेदी आदित्य उद्गाता बने, स्वयं एकमूर्त्ति, समष्टिमूर्त्ति प्रजापति यजमान बने। यज्ञ हुआ, इसी यज्ञ से आगे जाकर सर्वोपादानभूत प्राणात्मक यशोवीर्य्यरूप "अर्काश्वमेध" उत्पन्न हुआ।

४८७-विराट् यज्ञप्रजापति के आधार पर अर्काश्वमेध की अभिव्यक्ति, तन्निबन्धना त्रैलोक्यव्यापिनी प्राणाग्निसृष्टि, एवं तत्समर्थक श्रौतसन्दर्भ--

उक्त ब्राह्माग्निवितान का निष्कर्ष यही निकला कि, आरम्भ में सर्वत्र पानी हीं पानी था। प्रजापति ने स्व-कामतपःश्रम से पानी को शर (घन) बनाया, शर पानी से भूपिण्ड बनाया, भूपिण्ड के संघर्ष से तेजोरस का विकास किया, तेजोरस को **अग्नि–वायु–आदित्य** भेद से तीन रूपों में परिणत किया। तीनों के मिथुनभाव से सम्वत्सररूप विराट् नाम की दूसरी प्रजापतिसंस्था का विकास किया। विराट्यज्ञ के आधार से अर्काश्वमेध उत्पन्न किया। एवं तद्द्वारा सब कुछ प्राप्त कर लिया। हृद्य अनिरुक्त अग्निमूर्त्ति ब्रह्मप्रजापति की इसी त्रिधा विभक्ता--त्रैलोक्यव्यापिनी प्राणाग्निसृष्टि का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

"नैवेह किञ्चनाग्रे–आसीत्, मृत्युनैवेदमावृतमासीत्–अशनायया। अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुत–आत्मन्वी स्यामिति। सोऽर्च्चन्नचरत्। तस्यार्चत आपोऽजायन्त। तद्यदपां शर आसीत्–तत् समहन्यत, सा पृथिव्यभवत्। तस्यामश्राम्यत्। तस्य श्रान्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तत–अग्निः। स त्रेधात्मानं व्यकुरुत–आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम्। स एष प्राणः (प्राणाग्निः) त्रेधा विहितः। द्यौः–पृष्ठं, अन्तरिक्षमुदरं, इयमुरः। स एष (त्रेधा विहितः प्राणाग्निः) अप्सु प्रतिष्ठितः। सोऽकामयत–द्वितीयो मे–आत्मा जायेत–इति। स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्–अशनायां। मृत्युः। तद्यद्रेत आसीत्, स सम्वत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः सम्वत्सर आस। सोऽकामयत–भूयसा यज्ञेन भूयो यजेय इति"।

—शतपथब्राह्मणे

४८८-विराट् प्रजापति से ऊर्ध्वस्थित विश्व-विवर्त्तों, तथा आत्मविवर्त्तों से अनुप्राणिता गैतालवृत्तिनिबन्धना महती समस्या--

यहाँतक तो बात ठीक ठीक बन गई। पूर्व में दूसरे ढँग से भूपिण्ड से विराट् की उत्पत्ति बतलाई थी, यहाँ उसी का प्रकारान्तर से स्पष्टीकरण होगया। अब आगे **वही चन्द्रमा, वही सूर्य्य, वही परमेष्ठी,**

वही वयम्भू, और षोडशी--अव्यय--परात्पर भी वे के वे ही। इन्हें विराट्गर्भ में कैसे लाया जाय ?, समस्या तो यही सम्मुख खड़ी हुई थी। सोचा था-त्रैलोक्यरूपा महापृथिवी का यह दूसरा प्रकार इस समस्या का निराकरणात्मक-समाधान कर देगा। परन्तु "तत्रै वावलम्बितो वेतालः"।

ब्रह्माग्निः--- विवर्त्तम्	१-अग्निः—पृथिवी——त्रिवृत्	(ऋग्वेदः—अग्निर्होता)—-वैश्वानरः		सम्वत्सरो विराट्
	२-वायुः—अन्तरिक्षम्--पञ्चदशः	(यजुर्वेदः—वायुरध्वर्युः)—-हिरण्यगर्भः		
	३-आदित्यः-द्यौः——-एकविंशः	(सामवेदः—आदित्यउद्गाता)-सर्वज्ञः		

---**---

४८६-सिंहावलोकनदृष्टया पार्थिव विराट् का संकलनात्मक संस्मरण, एवं तन्निबन्धना स्तौम्यत्रैलोक्य-रूपा महिमा पृथिवी—

"भूपिण्ड से संलग्न अग्निमय त्रिवृत् पृथिवीलोक, वायुमय पञ्चदश अन्तरिक्षलोक, आदित्यमय एकविंश द्युलोक, तीनों की समष्टिरूप महापृथिवीलोक, इस में सर्वज्ञ--हिरण्यगर्भ--वैश्वानरमूर्त्ति विराट्-प्रजापति प्रतिष्ठित, २१ पर सब कुछ परि समाप्त, अब पृथिवी के सम्बन्ध शेष क्या रहा" अबतक के प्रकरण से हमनें यही समझा, और यही समझना न्यायप्राप्त था भी, जब कि अबतक पृथिवी को **पिण्डपृथिवी**, एवं **महिमारूप** त्रैलोक्यात्मिका **स्तौम्यपृथिवी** के अतिरिक्त और कुछ विशेष बतलाया ही नहीं गया।

४९०-भूलोकाधिष्ठाता ब्रह्मा से अनुप्राणित स्तौम्यत्रैलोक्य, एवं भुवर्लोकाधिष्ठाता विष्णु, भूलोकधिष्ठाता-इन्द्र-से अनुप्राणित समस्यात्मक पार्थिव-लोकों की स्वरूप-जिज्ञासा—

अतएव अब हमें अबतक के तथाकथित पार्थिवविवर्त्त को लक्ष्य में रखते हुए पुनः तत्त्वविमर्श में प्रवृत्त होजाना चाहिए। अभी दो पृथिवी, किंवा पृथिवी के दो विवर्त्तों का स्पष्टीकरण और करना है। स्मरण कीजिए-उस भूपिण्ड का, जिसमें भूः-भुवः-स्वः, नामक तीन स्तर बतलाते हुए उन में क्रमशः **अग्निमय ब्रह्मा, आपोमय विष्णु**, एवं **वाङ्मय इन्द्र** की प्रतिष्ठा बतलाई गई थी। साथ ही पाठक पूर्व के पार्थिव-विवर्त्त से यह भी मान गए होंगे कि, त्रैलोक्यरूप उक्त सम्वत्सरमण्डल केवल अग्निमय ब्रह्मा का ही विवर्त्त है। अभी भुवर्लोकाधिष्ठाता आपोमय विष्णु, एवं भूलोकाधिष्ठाता वाङ्मय इन्द्र, ये दो हृद्य देवता ज्यों के त्यों बचे हुए हैं। प्राणाग्निमूर्त्ति ब्रह्माने तो अपने प्राणाग्नि का तेजोरसरूप से वितान कर वेदत्रयी के आधार पर विराट्रूपा सम्वत्सर-त्रिलोकी का निर्माण कर दिया। किन्तु विष्णु, और इन्द्र ने क्या किया ?, यह अभी अज्ञातगर्भ में हीं विलीन है।

४६१-ब्रह्मानुगता यज्ञमात्रिकवेदावच्छिन्ना वेदसाहस्री, एवं विष्णु-इन्द्रानुगता लोक-वाक्-साहस्रियों का संस्मरण—

बिना इन को जाने पृथिवी का वास्तविक विस्तार विदित नहीं होसकता। यही नहीं, जिस त्रिलोकी का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, वह भी इन्द्राविष्णू के सहयोग की ही नित्य अपेक्षा रख रही है। वेदमूर्त्ति ब्रह्मा वेदविकास कर सकते हैं। परन्तु लोकविकास के लिए तो इन्हें लोकाधिष्ठाता आपोमय विष्णु का ही आश्रय लेना पड़ता है। यही क्यों, वेद का विकास भी ये केवल भूपिण्ड में हीं कर सकते है। भूतवेद को भौतिक भूपिण्ड में व्याप्त करदेना मात्र इन के हाथ में है। इसे बाहिर के त्रैलोक्य में वितत कर 'यज्ञमात्रिक' बना डालना भी वाङ्मय यज्ञश्रेष्ठ इन्द्रदेवता के सहयोग पर ही निर्भर है। **इसप्रकार ब्रह्मा से सम्बन्ध रखने वाली यज्ञमात्रिकरूपा वेदसाहस्री, आपोमय विष्णु से सम्बन्ध रखने वाली लोकसाहस्री, एवं वाङ्मय इन्द्र से सम्बन्ध रखने वाली वाक्साहस्री,** तीनों के प्रवर्त्तक ब्रह्माधार पर प्रतिष्ठित इन्द्राविष्णू की स्पर्द्धा ही है, जैसाकि निम्न लिखित श्रुति से स्पष्ट है—

> उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
> इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥
>
> —ऋक्सं० ६।६९।८।

> किं तत् सहस्रमिति—
> इमे लोकाः
> इमे वेदाः
> अथो वाक्-इति ब्रूयात्॥ (ऐतरेयारण्यके)

४६२-सरलप्रयास का उत्तरोत्तर काठिन्य, तदनुगता विवशता, एवं वाक्परिणामात्मक मिथुनभाव से अनुप्राणित 'भाण' स्वरूप--विश्लेषक श्रौतसन्दर्भ—

विषय को जितना हीं अधिक सरल बनाने का प्रयास किया जारहा है, वह उतना हीं अधिक क्लिष्ट बनता जारहा है। परन्तु विवशता के अतिरिक्त इसका और उत्तर हो भी क्या सकता है। ब्रह्माग्नि-विवर्त्त का प्रतिपादन करते हुए एक आवश्यक बात कहना हम भूल गए थे। प्रजापति सम्वत्सरयज्ञरूप में परिणत होगए, इस 'भूयोयज्ञ' से उन्होंनें अर्काश्वमेध का विकास किया। और इस के द्वारा वे सर्वरूप में परिणत होगए। वहीं हमें यह और कह देना चाहिए था कि, प्रजापति की इस सर्वरूपता का कारण बना "वाक्परिमाण"। वाक्परिमाण से मिथुनभाव करते हुए ही प्रजापति सबकुछ बनने में समर्थ हुए हैं, जैसा कि पूर्वश्रुति के ही अंशभूत निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

"तमेतावन्तं कालमबिभः--यावान्त्संवत्सरः। तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत। तं जातमभिव्याददात्। स 'भाण' अकरोत्। सैव "वाक्"—अभवत्। स तया वाचा

तेन आत्मना इदं सर्वमसृजत । स यत्-यत्-एव-असृजत तत्तदत्तुमध्रियत, सर्वं वा अत्तीति, *तददितेरदितित्वम् । सर्वस्यात्ता भवति, सर्वमस्यान्नं भवति, य एवमेतमदितेरदितित्वं वेद" ।

४६३–वाक्परिमाणात्मक-छन्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, तदनुबन्धी 'छन्दोवेद', एवं तद्द्वारा यज्ञमात्रिक-वेद की स्वरूपाभिव्यक्ति—

'वाक्परिमाण' क्या है ?, इसका उत्तर है—"वाक्परिमाणं छन्दः" । वाक्तत्त्व को सीमित करने वाला आयतन ही 'छन्द' नाम से प्रसिद्ध है। यह छन्द भी स्वयं वाग्रूप ही है । छन्द स्वयं वस्तु नहीं है, अपितु वस्तु को सुरक्षित रखने वाला एक बहिरावरणमात्र है । इस वाङ्मय छन्द को भी एक स्वतन्त्र वेद माना जाता है, जो कि वेद "छन्दोवेद" नाम से प्रसिद्ध है । स्वयं वस्तुपिण्ड एक वस्तु है। इस वस्तुपिण्ड में हमनें वेदमूर्त्ति ब्रह्मा का साम्राज्य बतलाया है । भूपिण्ड में व्याप्त ब्रह्मा का यह वेद छन्दोवेद ही है । इसी के आधार पर आगे जाकर यज्ञमात्रिक वेद का विकास होता है ।

४६४–हृदय–विष्कम्भ–परिणाहात्मक–केन्द्र–व्यास–मण्डलात्मक छन्दोवेद का स्वरूप-समन्वय,–एवं तद्रूप भातिसिद्ध-भाव—

पिण्ड में हृदय (नाभि)--विष्कम्भ--परिणाह ये तीन भाव रहते हैं। केन्द्र–व्यास--घेरा, तीनों कोई सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं हैं । अपितु तीनों हीं विशुद्ध भातिसिद्ध पदार्थ हैं । जिसका हृदय है, जिसका व्यास है, एवं जिसका परिणाह है, वही सत्तासिद्ध पदार्थ है, और वही भूपिण्ड है । इन तीनों छन्दों से भूपिण्ड छन्दित है, आवृत है, सुरक्षित है ।

४६५–पद्य–गद्य–गेय–भावानुबन्धी ऋक्–यजुः–साम–तत्त्वों का स्वरूप–समन्वय, एवं 'ऋच्यधूढं साम गीयते'–'ऋक्सामे यजुरपीतः'–'त्रिचं साम' का रहस्यात्मक समन्वय—

इनमें हृदयच्छन्द अनिरुक्त बनता हुआ, असीमकोटि में आता हुआ यजुर्वेद है । विष्कम्भ-छन्द–ऋग्वेद है । एवं परिणाहछन्द सामवेद है । शब्दात्मिका वेदत्रयी के परिज्ञाता विद्वान् यह तो जानते ही हैं कि, यजुर्वेद गद्यात्मक बनता हुआ सीमाभाव से बहिष्कृत है । पद्यात्मक-ऋग्वेद, गेयात्मक सामवेद, दोनों सीमित हैं । वे यह भी जानते ही हैं कि, पद्यरूप ऋङ्मन्त्र ही गानसीमा में आकर साममन्त्र कहलाते हैं । दूसरे शब्दों में–ऋक् को आधार बना कर ही, ऋक् को वाहन बनाकर ही सामगान होता है–"ऋच्यधूढं साम गीयते" । वे यह भी जानते ही हैं कि, तीन ऋङ्मन्त्रों से एक ामन्त्र का

---

* पूर्व के विराट्प्रकरण में त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–रूपा महापृथिवी को ही हमने "अदिति" पृथिवी कहा है । एवं इसी के गर्भ में एककल, त्रिकल, अथवा दशकल विराट् प्रजापति की सत्ता बतलाई है । प्रकृत श्रुति विराट्जननी इसी अदिति पृथिवी का स्पष्टीकरण कर रही है ।

स्वरूप सम्पन्न होजाता है। अर्थात् जितने समय में पद्यात्मक एक ऋङ्मन्त्र का उच्चारण होता है, उससे त्रिगुणित समय लगाकर यदि उसी ऋङ्मन्त्र का प्रयोग किया जायगा (बोला जायगा), तो वह ऋङ्मन्त्र ऋङ्मन्त्र न कहला कर साममन्त्र कहलाने लगेगा—"**त्रिचं साम**"। हाँ, सम्भवत वे यह नहीं × जानते होंगे कि, ये **ऋक्साम दोनों हीं यजु में अपीत रहते हैं (डूबे रहते हैं)**।

४९६-तत्त्वात्मक-अपौरुषेय-वेद, एवं तदनुबन्धिनी वेदत्रयी का स्वरूप-संस्मरण—

विद्वानों की इस 'शब्दवेदभक्ति' का आज हम भूपिण्ड-स्वरूप-समर्पक इस तत्त्वात्मक छन्दोवेद के साथ समन्वय करना चाहते हैं, जोकि तत्त्वात्मक वेद "**अपौरुषेयवेद**" नाम से प्रसिद्ध है। परिणाह को हमनें साम कहा है। भूपिण्ड का वर्त्तुल घेरा ही परिणाह है। यह परिणाह भव्यास के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। व्यास को मूलप्रतिष्ठा बनाकर ही परिणाह वितत हुआ है--"**ऋच्यधूढं साम गीयते**"। विष्कम्भ ऋक है। त्रिगुणित विष्कम्भ ही परिणाह है। अर्थात् व्यास का जितना परिमाण है, परिणाह का परिमाण इस से त्रिगुणित होता है—"**त्रिचं साम**"। परिणाह, और विष्कम्भ, दोनों की प्रतिष्ठा हृदय-रूप यजु है-"**ऋक्सामे यजुरपीतः**"।

४९७-इन्द्रात्मक परिणाह, विष्णवात्मक विष्कम्भ, एवं ब्रह्मात्मक हृदय, तथा छन्दोवेद का त्रिदेवानुबन्धी समन्वय---

परिणाह अन्तिम सीमा है, यहीं वाङ्मय इन्द्रदेवता प्रतिष्ठित हैं। अतएव परिणाहरूप साम को हम इन्द्र-सम्बन्धी कह सकते हैं। व्यास मध्यसीमा है, यहीं आपोमय विष्णु प्रतिष्ठित हैं। अतएव विष्कम्भ-रूपा ऋक् को विष्णु-सम्बन्धिनी कहा जासकता है। हृदय मूलसीमा है, यहीं अग्निमय ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं। अतएव हृदयरूप यजु को ब्रह्मसम्बन्धी माना जासकता है। ऋक्-साम को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, एवं पहिले केवल यजु ही का विचार कीजिए।

४९८-यजुर्वेद के अनेजत्-एजत्--स्थिति-गति--लक्षण--यत्--जूः-रूप--'यज्जूः' स्वरूप का तात्त्विक दिग्दर्शन—

यह वेद यजुर्वेद नहीं है, अपितु "**यज्जू**" वेद है। यत् और जू की समष्टि ही यज्जू है। '**यज्जू**' को ही परोक्षभाषा में "**यजुः**" कहा जाता है। यज्जू का '**यत्**' भाग '**प्राण**' है, '**जू**' भाग '**वाक्** है। वाक '**आकाश**' है, प्राण '**वायु**' है। आकाश '**स्थितितत्त्व**' है, वायु '**गतितत्त्व** है। स्थिति '**अनेजत्**' है,

---

× न जानने का कारण स्पष्ट है। "**ऋक् के आधार पर सामगान होता है, तीन ऋचाओं का एक साम होता है**" ये सिद्धान्त तो दर्शनशास्त्र में उपबृंहित होचुके हैं। परन्तु "**ऋक्सामे यजु-रपीतः**" यह रहस्य श्रुति है। अतएव दर्शनभक्त आजके विद्वानोंनें उन दोनों दार्शनिक भावों को तो जान लिया। परन्तु इस वेदसिद्ध रहस्य को वे नहीं जानसके।

गति 'एजन्' है । अनेजन्--एजन् की समष्टि ही यज्जू है, यही ब्रह्मा है, यही मूलप्रतिष्ठा है । आपोमय विष्णु, और वाङ्मय इन्द्र, ये दोनों भी एक दृष्टि से इसी के विवर्त्त हैं । अत्तत्त्व का विकास प्राणगर्भित वाङ्मूर्ति ब्रह्मा से ही हुआ है--"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्"-"वागेव साऽसृज्यत" । वाक्तत्त्व का विकास भी इसी आपोमय मण्डल के गर्भ में [बीजरूप से) हुआ है ।

४९९-वेदमूर्त्ति ब्रह्मा की आदि-मध्य--अन्त-रूप से ब्रह्मा--विष्णु--इन्द्र--स्वरूप में परिणति-

दूसरी दृष्टि से देखिए । यत्, और जू में 'जू' रूप स्थितिभाव तो साक्षात् ब्रह्मा है । 'यत्' गति है, आगतिगति दोनों 'गति' हैं । आगति विष्णुधर्म्म है, गति इन्द्रधर्म्म है । इसप्रकार यजुर्मूर्त्ति ब्रह्मा जूरूप से मूल में प्रतिष्ठित रहता है, आगतिरूप यद्भाग से विष्णुरूप में परिणत होता हुआ मध्य में प्रतिष्ठित रहता है, एवं गतिरूप 'यत्' भाग से इन्द्ररूप में परिणत होता हुआ अन्त में प्रतिष्ठित रहता है । और यही तो इस अनिरुक्त की सर्वता है ।

५००--तत्त्वत्रयी का चामत्कारिक--समन्वय, एवं तन्निबन्धना--भाणात्मिका वाङ्मूला वेदत्रयी, शुक्रत्रयी, छन्दस्त्रयी, देवत्रयी, लोकत्रयी, और "नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने" का पावन--संस्मरण-

एक चमत्कार और देखिए । इन्द्र को हमनें साम कहाथा, यह कथन तो सुव्यस्थित है । विष्णु का ऋक् से सम्बन्ध बतलाया था, एवं ब्रह्मा का यजुः से । अब स्थिति बदल गई है । यज्जू का जू रूप आकाश भाग केवल ब्रह्मा रह गया है, यद्रूप वायु विष्णु बन गया है । इसी दृष्टि से उक्थरूप 'जू' (ब्रह्मा) ऋग्वेद बन गया है, अर्करूप यत् (विष्णु) यजुर्वेद बन गया है—"**तस्माद्वायुरेव यजुः**", एवं इन्द्र साम रह गया है । इसप्रकार छन्दोवेद के इस उच्चावचभाव से—**स्वर्लोकस्थानीय अग्निशुक्रमय ब्रह्मा ऋङ्मूर्त्ति, भुवर्लोकस्थानीय आपः शुक्रमय विष्णु यजुर्मूर्त्ति, एवं भूलोकस्थानीय वाक्शुक्रमय इन्द्र साममूर्त्ति बन गए हैं ।** तीनों वेद उस एक ही 'भाण' रूपा 'वाक्' के तीन विवर्त्त हैं । आरम्भ में वाक्-परिभाणरूप जो छन्द एक-रूप था, वही देवभेद से **ऋग्रूप उक्थ हृदयबिन्दु, यजुरूप अर्कविष्कम्भ, एवं सामरूप वितान-परिणाह**—रूप से तीन भागों में विभक्त होगया है । **एक छन्द तीन छन्द बन गए, एक वेद तीन वेद--बन गए, एक देवता तीन देवता बन गए, एक ही अग्निशुक्र तीन शुक्र बन गए, एवं एक ही भूलोक भु--भुवः--स्वः भेद से त्रिपर्वा बन गया--'नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक् सृष्टेः केवलात्मने'** ।

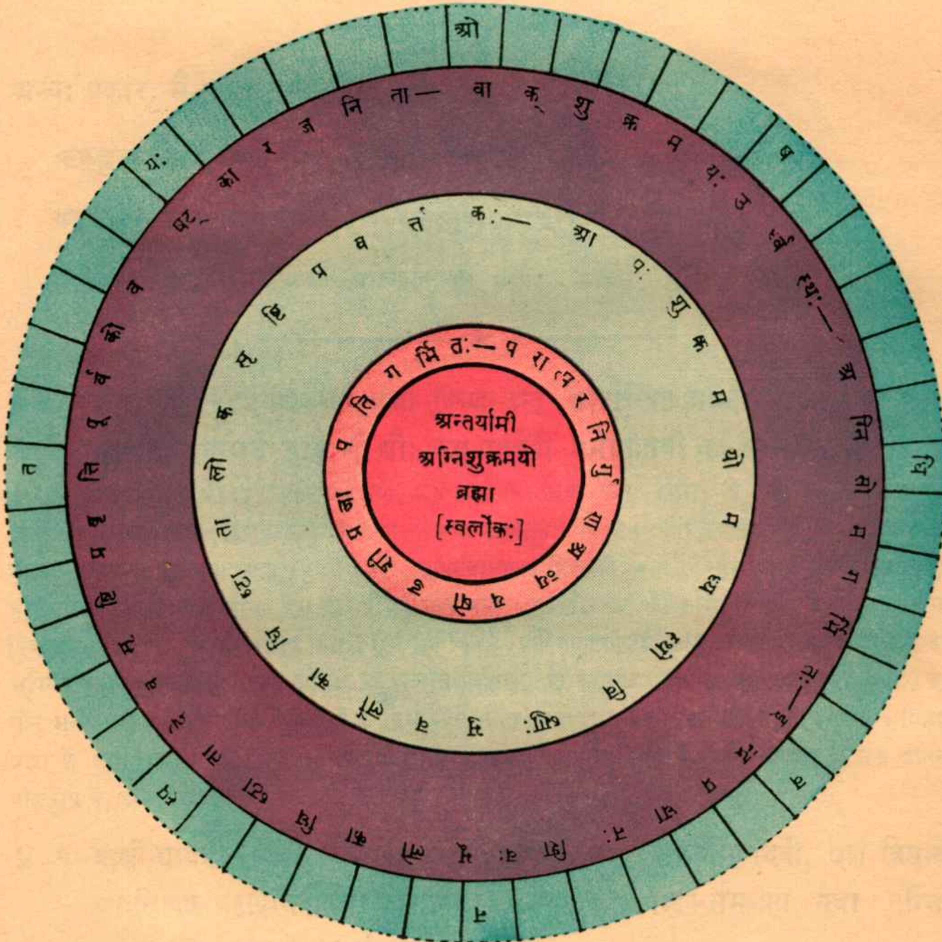
एकः प्रकारः--

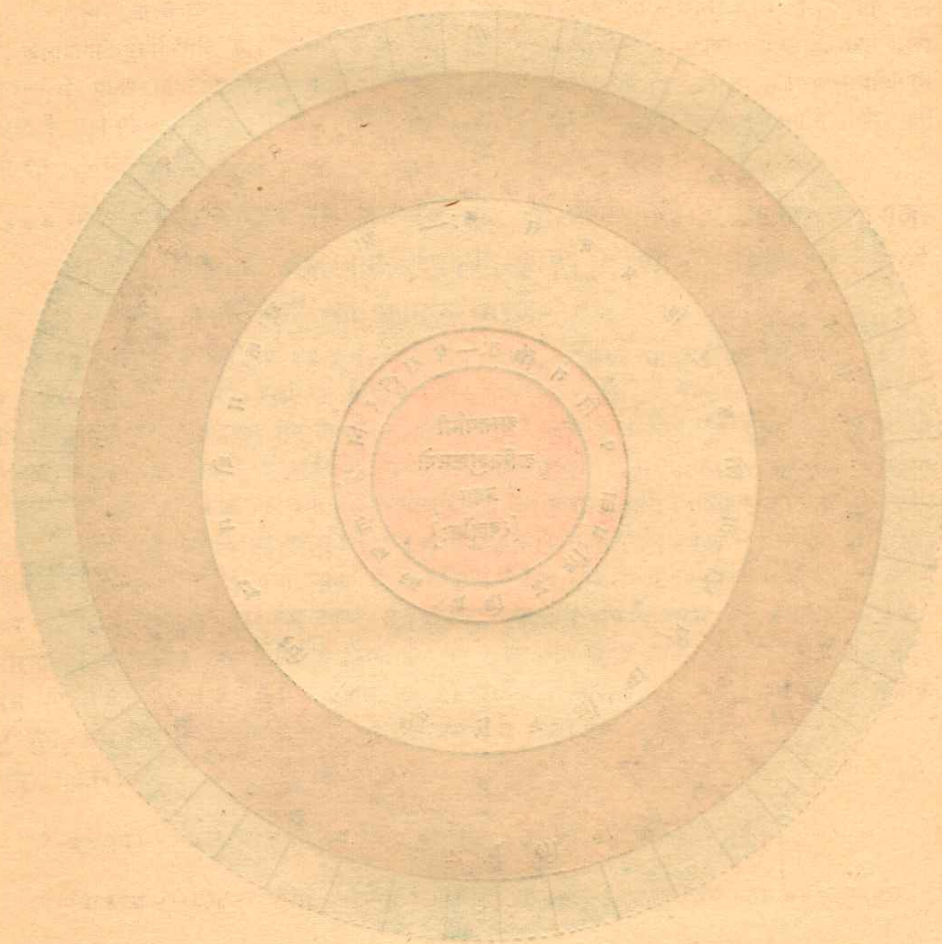
१-हृदयम्—-यजुः-यजुर्मूर्त्तिर्ब्रह्मा—अग्निमयो मूलस्थः—स्वर्लोकाधिष्ठाता ⎫
२-विष्कम्भः---ऋक्-ऋङ्मूर्त्तिर्विष्णुः-आपोमयो मध्यस्थः—भुवर्लोकाधिष्ठाता ⎬—भूपिण्डः
३-परिणाहः---साम-साममूर्त्तिरिन्द्रः—वाङ्मयो बहिःस्थः—भूलोकाधिष्ठाता ⎭

आपः-फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्यात्मकः--

भूपिण्डपरिलेखः–

(स्वर्भुवर्भूरात्मकोऽयमग्निगर्भो भूपिण्डः)





प्रमाणानि—

१–"एष प्रजापति (ब्रह्मा) यद्धृदयम्" (शत० १४।८।४।१।) ।

२–"तस्माद्यजूंषि निरुक्तानि सन्त्यनिरुक्तानि" (शत० ४।६।७।१७)

३–"स प्रजापतिर्यजूंष्येत्र हिङ्कारमकरोत्" (जै० ब्रा० उ० १।२५।६।) ।

———*———

अन्यः प्रकारः सैद्धान्तिकः—

ऋक्छन्दः--ब्रह्मा--अग्निमयः–हृदयम्—स्वः
यजुश्छन्दः-विष्णुः-आपोमयः-विष्कम्भः-भुवः } —भूपिण्डः
सामछन्दः–इन्द्रः—वाङ्मयः---परिणाहः-भूः

———★———

५०१–ऋक्--यजुः साम--अनुगत--ब्रह्मा--विष्णु--इन्द्र–भावान्वित अग्नि--आपः--वाग्-भाव, एवं तन्निबन्धन वाक्-गौ-द्यौः--रूप-पार्थिवी--मनोतात्रयी का संस्मरण—

वाक्परिमाण को छन्द बतलाया गया, उस छन्द के ऋक्--यजुः--साम, ये तीन पर्व बतलाए गए, तीनों का क्रमशः ब्रह्मा--विष्णु--इन्द्र के साथ सम्बन्ध बतलाया गया, एवं तीनों देवताओं को क्रमशः **अग्नि--आपः--वाङ्मय** बतलाया गया। और यही भूपिण्डात्मिका त्रिलोकी बनी। स्वर्लोकरूप विष्कम्भावच्छिन्न ऋङ्मय अग्निमय ब्रह्मस्थान इस का पृथिवीलोक बना। भुवर्लोकरूप विष्कम्भावच्छिन्न यजुर्मय आपोमय विष्णुस्थान इस का अन्तरिक्षलोक बना। एवं भूलोकरूप पारिणाहावच्छिन्न साममय वाङ्मय इन्द्रस्थान इस भूपिण्ड का द्युलोक बना। इसी आधार पर **मनोताविज्ञान** के अनुसार भूपिण्ड के **वाक्--गौः--द्यौः**, इन तीन मनोताओं का उक्त तीनों देवताओं के साथ भोग माना जाता है। वाक् अग्निमयी है, इस का अग्निमय ब्रह्मा के साथ सम्बन्ध है। गौतत्त्व आपोमय है, इसका आपोमय विष्णु के साथ सम्बन्ध है, एवं द्यौतत्त्व वाङ्मय है, और इसका वाङ्मय इन्द्र के साथ सम्बन्ध है।

५०२–ब्राह्मी-गायत्री-पृथिवी, वैष्णवी त्रैष्टुभी-पृथिवी, ऐन्द्री जागतीपृ-थिवी, एवं त्रिपृथि-व्यात्मिका महापृथिवीरूपा विश्वम्भरा का तात्त्विकस्वरूप-समन्वय, तथा तन्नि-बन्धना साहस्रीत्रयी का संस्मरण—

वाङ्मय अग्निमूर्त्ति ब्रह्मस्थानरूप पृथिवीलोक ऋक्छन्दा है, यही गायत्रीछन्द है। गौमय आपो-मूर्त्ति विष्णुस्थानरूप अन्तरिक्षलोक यजुः-छन्दा है, यही त्रिष्टुप् छन्द है। एवं वाङ्मय वाङ्मूर्त्ति इन्द्रस्थान

रूप द्युलोक सामच्छन्दा है, यही **जगतीछन्द** है । इस दृष्टि से तीनों भौम देवता क्रमशः **गायत्रपृथिवी-त्रैष्टुभ-पृथिवी, जागतपृथिवी,** इन तीन विवर्त्तों की विकासभूमि बनते हैं । गायत्र पृथिवी अग्निमयी कहलाती है, त्रैष्टुभ-पृथिवी आपोमयी कहलाती है, एवं जागत-पृथिवी वाङ्मयी कहलाती है । अग्निमयी पृथिवी से **वेदसाहस्री** का, आपोमयी पृथिवी से **लोकसाहस्री** का, एवं वाङ्मयी पृथिवी से **वाक्साहस्री** का विकास होता है ।

५०३-केवल-गायत्री-पृथिवी से अनुप्राणिता गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-रूपा छन्दस्त्रयी, तन्निबन्धना गायत्ररूपा वेदत्रयी, एवं राजर्षि मनु के द्वारा तत्स्वरूप--समन्वय—

इतना और ध्यान रखिए कि, भूपिण्ड में यद्यपि गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-तीनों हीं हैं, परन्तु प्रधानता गायत्रब्रह्म की ही है, अतएव भू को गायत्री ही कहा जायगा । इस गायत्री के गर्भ में **गायत्री--त्रिष्टुप्--जगती,** ये तीनों छन्द प्रतिष्ठित हैं । इनमें गायत्री का विकास स्तौम्यत्रिलोकीरूप महापृथिवीरूप से होता है । ब्रह्माग्निमूर्त्ति गायत्री ही तेजोरसरूप से बाहिर निकल कर अपनी घन-तरल-विरल इन तीन अवस्थाओं में परिणत होकर **त्रिवृत्--पञ्चदश--एकविंश,** इन तीन लोकों में प्रतिष्ठित होकर सम्वत्सररूप में परिणत होती है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है । भूकेन्द्र से आरम्भ कर २१ वें अहर्गण पर्यन्त गायत्रछन्दा पार्थिव गायत्राग्नि (ब्रह्माग्नि) का ही वितान है । गायत्राग्नि के तीनों पर्वों से यज्ञसिद्धि के लिए क्रमशः अग्निपर्व से ऋग्वेद, वायुपर्व से यजुर्वेद, एवं आदित्यपर्व से सामवेद का विकास होता है, जैसाकि निम्नलिखित मनु-वचन से स्पष्ट है—

> **अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।**
> **दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसाम-लक्षणम् ॥**
> —मनुः

५०४--छन्दस्त्रयीमयी गायत्री-पृथिवी से अनुप्राणिता वेदत्रयी के स्तोमत्रयानुबन्धी गायत्र-लोक, तन्निबन्धना वेदत्रयी के ऋक्--यजुः--साम--समुद्र, एवं अब्-मूला इन्द्राविष्णू की रहस्यपूर्णा प्रतिस्पर्द्धा का तात्त्विक स्वरूप--समन्वय—

यही पहिली वेदसाहस्री है । इस वेदसाहस्री के ऋङ्मय त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न गायत्र घनाग्निरूप पार्थिव अग्नि का छन्द गायत्री है । यजुर्म्मय, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न-गायत्र तरलाग्निरूपर आन्तरिक्ष्य वायु का छन्द त्रिष्टुप् है । एवं साममय, एकविंशस्तोमावच्छिन्न गायत्र विरलाग्निरूप दिव्य आदित्य का छन्द जगती है । इस दृष्टि से त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-रूप पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-में प्रतिष्ठित अग्नि-वायु-आदित्य-मूर्त्ति गायत्रब्रह्माग्नि के इन तीनों गायत्रपर्वों में भी गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती, इन तीनों छन्दों का भोग सिद्ध होजाता है । इसके साथ ही यह और स्मरण रखना चाहिए कि, इस वेदसाहस्री का वितान हुआ उसी इन्द्राविष्णू की स्पर्द्धा से है । आगतिधर्म्मा विष्णु, एवं गतिधर्म्मा इन्द्र के आदान-विसर्ग से ही अग्नीषोमात्मक यज्ञके द्वारा यह ब्रह्माग्नि वितत होकर २१ पर पहुँच सका है, यहाँ पहुँच कर ही यह त्रिपर्वा बन सका है,

एवं त्रिपर्वा बन कर ही यह वेदत्रयीरूप वेदसाहस्री (ऋक्साहस्री-यजुःसाहस्री-सामसाहस्री, किंवा **ऋचां समुद्र, यजुषां समुद्र-साम्नां समुद्र** को विकसित करने में समर्थ होसका है। और इन्द्राविष्णू की इस स्पर्द्धा का मूल धरातल बना है-वही अप्तत्त्व, जिस के गर्भ में जिसी के अंश से अष्टपर्वों के द्वारा भूपिण्ड प्रतिष्ठित रहता है—**'समुद्रमभितः पिन्वमानम्'**। **'इन्द्रश्च विष्णो यदपः स्पृधेथाम्'** का यही रहस्य है। भूपिण्ड के चारों ओर अर्णव समुद्र भरा हुआ है। इन्द्राविष्णू की नोदना से पानी के धरातल पर ही ब्रह्मा की इस गायत्र पृथिवी, किंवा संवत्सरपृथिवी का वितान होता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर पूर्व श्रुति ने उत्पन्न सम्वत्सर को भी **'स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितः'** कहते हुए इस आपोमय अर्णव समुद्र में हीं। प्रतिष्ठित बतलाया है।

१-अग्निः—त्रिवृत्स्तो०—पृथिवी-ऋग्वेदः-गायत्रोऽग्निः-गायत्रीछन्दा	**—गायत्री**
२-वायुः——पञ्चदशस्तो०-अन्त०-यजुर्वेदः-गायत्रो वायुः-त्रिष्टुपछन्दा	
३-आदित्यः-एकविंशस्तो०-द्यौः—सामवेदः-गायत्रआदित्य-जगतीछन्दा	**(अग्निः)**

——*——

१-गायत्री ८——अग्निर्गायत्रः—पृथिवी	
२-त्रिष्टुप् १५—वायुर्गायत्रः——अन्त०	**-गायत्री पृथिवी (ब्रह्मा)-वेदसाहस्री**
३-जगती २१——आदित्यः--गायत्रः-द्यौः	

——*——

५०५--भुवर्लोकात्मक--आपोमय-त्रैष्टुभ-वैष्णवलोकानुबन्धी तीन लोकों का तात्त्विक स्वरूप--समन्वय--

इसके अनन्तर भूपिण्ड के भुवर्लोक में प्रतिष्ठित रहने वाले त्रिष्टुप्छन्दा, यजुमूर्त्ति—आपोमय विष्णु का स्थान आया। इसी विष्णु से लोकसाहस्री का वितान हुआ। उसी भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ वें अह-र्गणपर्य्यन्त इस आपोमय विष्णु की व्याप्ति हुई। २१ पर्य्यन्त पानी का एक स्वतन्त्र मण्डल बना, यही तेजो-मय (अग्निमय) **"वेन"** पानी कहलाया, जिस के कि समावेश से दर्भ पवित्र माने जाते हैं। २१ से २७ पर्य्यन्त पानी का एक स्वतन्त्र मण्डल बना, यही पवित्र पानी (पार्थिव आकर्षण से विमुक्त पानी) **भास्वरसोम** कहलाया। एवं २७ से ३३ पर्य्यन्त पानी का एक स्वतन्त्र मण्डल बना। यही पानी **"दिक्सोम"** कहलाया।

५०६--वैष्णव-त्रैष्टुभ-तीनों लोकों से अनुप्राणित त्रयस्त्रिंश-सप्तविंश-एकविंश-स्तोमानुगत गायत्र-त्रैष्टुभ-जागत-भाव, एवं वैष्णवी त्रिलोकी का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

२१ विंश स्तोमावच्छिन्न तेजोमय वैष्णव, अतएव त्रैष्टुभ पानी उस तेजोमय, एकविंशस्तोम--पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले त्रिमूर्त्ति गायत्र अग्नि के सम्बन्ध से "गायत्री" कहलाया। त्रिणव (२७) स्तोमावच्छिन्न

भास्वरसोममय वैष्णव त्रैष्टुभ पानी "त्रिष्टुप्" कहलाया, एवं त्रयस्त्रिंश स्तोमावच्छिन्न दिक्सोममय वैष्णव त्रैष्टुभ पानी "जगती" कहलाया। इसप्रकार त्रिष्टुप्छन्दा आपोमय इस वैष्णव मण्डल की भी २१-२७-३३-भेद से तीन संस्थाएँ बन गई। एवं ये ही तीनों संस्थाएँ **आपोमय (वेनमय) पृथिवीलोक, आपोमय (भास्वरसोममय) अन्तरिक्षलोक, आपोमय (दिक्सोममय) द्युलोक**, इसप्रकार तीन लोक कहलाए। तीनों क्रमशः गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती छन्दों से युक्त बन गए। इसी दृष्टि से आपोमय केवल त्रैष्टुभलोक में हीं तीनों छन्दों का उपभोग सिद्ध होगया। यही दूसरी **लोकसाहस्री** कहलाई।

१-वेनः-------एकविंशस्तोमः-पृथिवी-आपः (त्रिष्टुप्--विष्णुः --गायत्री)		
२--भास्वरसोमः--त्रिणवस्तोमः--अन्त०--सोमः (,,)-त्रिष्टुप्	त्रिष्टुप्	
३-दिक्सोमः--त्रयस्त्रिंशस्तोमः-द्यौः----दिक् (,,)--जगती	(आपः)	

—:*:—

१—गायत्री—२१--वेनस्त्रैटुभः-----पृथिवी	
२—त्रिष्टुप्—२७--भा०सोमस्त्रैष्टुभः-अन्त०	त्रिष्टुप् पृथिवी (विष्णुः)-**लोकसाहस्री** २
३—जगती—३३-दि०सोमस्त्रैष्टुभः-द्यौः	

—:*:—

५०७--भूलोकात्मक-वाङ्मय-जागत-ऐन्द्र-लोकानुबन्धी तीन लोकों का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय, तदनुप्राणित वाङ्मय वषट्कार-मण्डल, एवं तत्र प्रतिष्ठिता स्वर-वर्ण-व्यञ्जन-त्रयी—

विष्णु के अनन्तर भूपिण्ड के भूलोक में प्रतिष्ठित रहने वाले जगतीछन्दा, साममूर्त्ति, अग्निसोम--गर्भित, साममूर्त्ति, वाङ्मय इन्द्र का स्थान आता है। इसी त्रिमूर्त्ति इन्द्र से वाक्साहस्री [वषट्कार] का जन्म होता है। अतएव इन्द्र के लिए "इन्द्राय--वौषट्" इत्यादि रूप से वषट्पूर्वक ही आहुति दी जाती है। उसी भूकेन्द्र से आरम्भ कर ४८ वें अहर्गण पर्य्यन्त इस वाङ्मय इन्द्र की व्याप्ति हुई। २४ पर्य्यन्त वाङ्मय इन्द्र का, किंवा वाक् का एक स्वतन्त्र मण्डल बना, यही जागतमण्डल कहलाया। जागत वाङ्मण्डल शब्द-ब्रह्मविज्ञान के अनुसार "**स्वरमण्डल**" कहलाया, त्रैष्टुभ वाङ्मण्डल "**वर्णमण्डल**" कहलाया, एवं गायत्र-वाङ्मण्डल "व्यञ्जनमण्डल" कहलाया।

५०८—इन्द्रानुगत-विविधाकारकरणात्मक 'व्याकरण' का स्वरूप-निर्वचन, एवं तदाधारभूत अर्द्धमात्रात्मक स्फोटब्रह्म का माङ्गलिक स्वरूप-संस्मरण—

वाग्लक्षण शब्दब्रह्म के **व्यञ्जन, वर्ण, स्वर**, ये तीन विवर्त्त माने गए हैं, जैसाकि **कर्म्मयोग-परीक्षान्तर्गत वर्णनिरुक्तिप्रकरण** में विस्तार से बतलाया जाचुका है। इन्द्र ही वाग्देवता बनकर शब्दब्रह्म

को (स्फोटब्रह्म को) व्याकरण (एकस्य स्फोटब्रह्मणो विविधकारकरणमेव व्याकरणम्) रूप में परिणत करते हैं। यह ऐन्द्र व्याकरण चतुर्विंश--चतुश्चत्वारिंश--अष्टचत्त्वारिंश भेद से व्यञ्जन--वर्ण--स्वर भेद से तीन भागों में विभक्त होजाता है। तीनों की मूलप्रतिष्ठा वही अव्ययस्थानीय स्फोटतत्त्व है, जो कि 'अर्द्ध मात्रा नाम से प्रसिद्ध है।

५०६-ऐन्द्र-जागत-तीनों लोकों से अनुप्राणित-अष्टाचत्त्वारिंश-चतुश्चत्त्वारिंश-चतुर्विंश-स्तोमानुगत गायत्र-त्रैष्टुभ-जागत--भाव, एवं ऐन्द्री त्रिलोकी का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय —

चत्त्वारिंशस्तोमावच्छिन्न ऐन्द्र व्यञ्जनलक्षण जागत वाक्तत्त्व गायत्र अग्नि के सम्बन्ध से गायत्र कहलाया, चतुश्चत्त्वारिंश-स्तोमावच्छिन्न ऐन्द्र वर्णलक्षण जागत वाक्तत्त्व त्रैष्टुप अप् के सम्बन्ध से त्रैष्टुभ कहलाया, एवं अष्टाचत्त्वारिंश-स्तोमावच्छिन्न ऐन्द्र स्वरलक्षण-जागत वाक्तत्त्व अपने विशुद्ध जागतरूप से जागत कहलाया। इसप्रकार जागतछन्दा वाङ्मय इस ऐन्द्रमण्डल की भी २४-४४--४८ भेद से तीन संस्थाएँ बन गईं। एवं ये ही तीनों संस्थाएँ **वाङ्मय (व्यञ्जन वाङ्मय)** पृथिवीलोक, **वाङ्मय (वर्ण-वाङ्मय)** अन्तरिक्षलोक, **वाङ्मय [स्वरवाङ्मय]** द्युलोक, इसप्रकार तीन लोक कहलाए। तीनों पूर्व-परिभाषानुसार क्रमशः गायत्री--त्रिष्टुप्--जगती, इन तीन छन्दों से युक्त बन गए। इसी दृष्टि से वाङ्मय केवल जागत लोक में भी तीनों छन्दों का उपभोग सिद्ध होगया। यही तीसरी **वाक्साहस्री** कहलाई। आगे की तालिकाओं, एवं परिलेखों से उक्त विषय भलीभाँति स्पष्ट होजाता है।

१-व्यञ्जनमण्डलम्-चतुर्विं०--पृथिवी-(व्यञ्जनानि-जगती-इन्द्रः-गायत्री					}	३
२-वर्णमण्डलम्---चतुश्च०---अन्त०-(वर्णाः)-	,,	,,	-त्रिष्टुप्		}	**- जगती** ३
३-स्वरमण्डलम्---अष्टाच०—द्यौः (स्वराः)-	,,	,,	-जगती		}	[वाक्]

——**——

१-गायत्री—२४—व्यञ्जनं जागतम्—पृथिवी	}	
२-त्रिष्टुम्--४४—वर्णो जागतः——अन्त०	}	जगती पृथिवी [इन्द्रः] **वाक्साहस्री** (३)
३-जगती—४८—स्वरो जागतः—-द्यौः	}	

——*——

समष्टिः—

१-ब्रह्मा—स्वः--अग्निः-ऋक्——"गायत्री"
२-विष्णुः-भुवः--आपः--यजुः——"त्रिष्टुप्"
३-इन्द्रः—भूः—वाक्-साम ——"जगती"
} भूपिण्डः

—*—

१—ब्राह्ममण्डलम्—(स्वर्लोकात्मिका गायत्री-पृथिवी)—

१-अग्निः—पृथिवी—ऋक्—गायत्री [६]
२-वायुः—अन्त०—यजुः—त्रिष्टुप् [१५]
३-आदित्यः--द्यौः— साम— जगती [२१]
} अग्निः-"गायत्री" 'वेदसाहस्री'

—*—

२—विष्णुमण्डलम्—(भुवर्लोकात्मिका त्रिष्टुप्-पृथिवी)

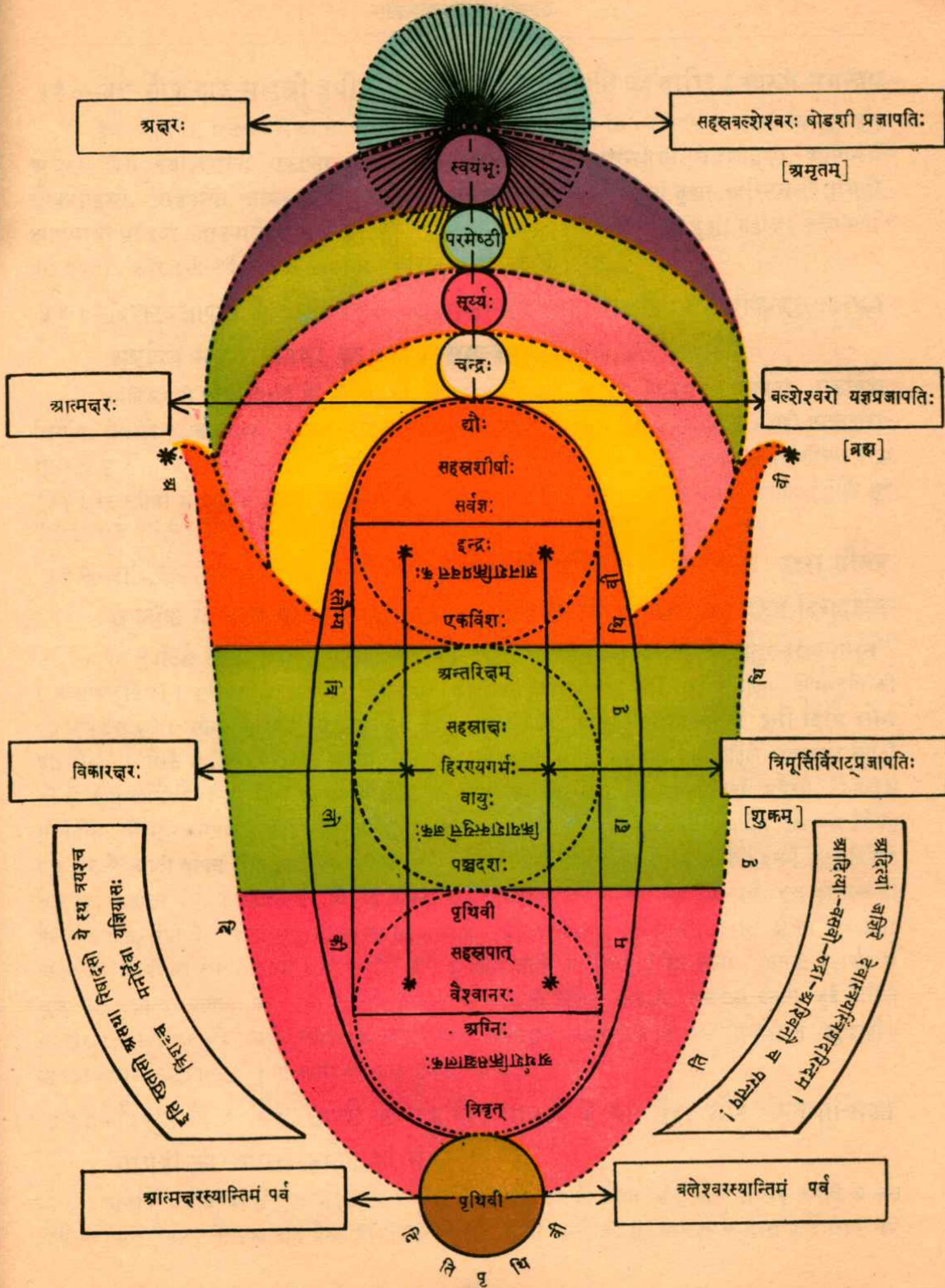
१-वेनः——पृथिवी—गायत्री [२१]
२-भा०सोमः-अन्तरि०-त्रिष्टुप् [२७]
३-दिक्सोमः-द्यौः——जगती [३३]
} आपः "त्रिष्टुप्" 'लोकसाहस्री'

—*—

३-इन्द्रमण्डलम्--(भूलोकात्मिका जगतीपृथिवी)--

१-व्यञ्जनम्-पृथिवी—गायत्री (२४)
२-वर्णः—अन्तरिक्षम्-त्रिष्टुप् (४४)
३-स्वरः—द्यौः——जगती (४८)
} वाक् "जगती" 'वाक्साहस्री'

—*—



अक्षरः
सहस्रवल्शेश्वरः षोडशी प्रजापतिः
[अमृतम्]
स्वयंभूः
परमेष्ठी
सूर्य्यः
चन्द्रः
आत्मक्षरः
वल्शेश्वरो यज्ञप्रजापतिः
[ब्रह्म]
द्यौः
सहस्रशीर्षा
सर्वज्ञः
इन्द्रः
एकविंशः
अन्तरिक्षम्
सहस्राक्षः
विकारक्षरः
हिरण्यगर्भः
त्रिमूर्त्तिर्विराट्प्रजापतिः
[शुक्रम्]
वायुः
पञ्चदशः
पृथिवी
सहस्रपात्
वैश्वानरः
अग्निः
त्रिवृत्
आत्मक्षरस्यान्तिमं पर्व
पृथिवी
बलेश्वरस्यान्तिमं पर्व

५१०–वेद-लोक-वाक्-साहस्री-त्रयीमूर्त्ति पार्थिव-विराट्प्रजापति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय–

उक्त तालिका, एवं परिलेखों से पाठकों को विदित हुआ होगा कि, भूपिण्ड के ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र अक्षरों, किंवा त्र्यक्षरमूर्त्ति एकाक्षर अनिरुक्त प्रजापति से ही अग्निमयी वेदसाहस्री, आपोमयी लोकसाहस्री, वाङ्मयी वाक्साहस्री, इन तीन साहस्रियों में परिणत होता हुआ अग्निमयी पृथिवी, आपोमयी पृथिवी, वाङ्मयी पृथिवी इन तीन पृथिवियों को अपने गर्भ में रखता हुआ सर्वाक्षर सर्वप्रजापति बन गया है, और इसी सर्वप्रजापति का नाम 'विराट् प्रजापति' है।

५११–विराट्प्रजापति से अनुप्राणित अहर्गणात्मक स्तोमों के गायत्रीछन्दोनिबन्धन अष्टविध महिमाविवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय—

समष्टिरूप से यदि विराट् के स्तोमों की गणना की जाती है, तो त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, चतुर्विंश, चतुश्चत्त्वारिंश, अष्टाचत्त्वारिंश, ये आठ स्तोम होजाते हैं। यही **अष्टाक्षरा-गायत्री है**। गायत्र अग्नि है, अग्नि ब्रह्मा है, गायत्र ब्रह्मा ही त्रैष्टुभ विष्णु जागत-इन्द्ररूप में परिणत होता. हुआ आठ स्तोमों में विभक्त होरहा है, दूसरे शब्दों में गायत्री ही त्रिष्टुप्-जगती रूप में परिणत होती हुई विराट्रूप में परिणत होरही है।

५१२–पार्थिवी-ब्रह्मगायत्री की 'सुपर्ण-पक्षी' रूप में परिणति, तद्रूप के द्वारा तीसरे द्युलोक से सोम का अपहरण, एवं 'चतुरक्षर-छन्दों' का तात्त्विक-स्वरूप-दिगदर्शन–

यह सुप्रसिद्ध है कि, आरम्भ में सभी छन्द चतुरक्षर ही थे-"**सर्वाणि व छन्दांसि चतुरक्षराण्यासन**" (ब्राह्मणश्रुतिः)। भूपिण्डस्थ आग्नेय देवताओं को अपने अन्नादभाव की रक्षा के लिए सोमाहुति की आवश्यकता हुई। सोम भूपिण्ड से बड़ी दूर तीसरे द्युलोक में था– "**तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्**"। उसके समीप जगतीछन्द पड़ता था। अतः सोमदेवताओंनें परामर्श कर पहिले चतुरक्षरा जगती को ही सोम लाने के लिए भेजा। गन्धर्व सोम की रक्षा कर रहे थे। जब जगती वहाँ पहुँची, तो रक्षक गन्धर्वोंनें उसे मार भगाया। यही नहीं, अपितु चतुष्पदा जगती के तीन पैर काट कर गन्धर्वोंनें वहीं रख लिए, एक पैर से जगती वापस लौट आई। जगती के अनन्तर चतुरक्षरा त्रिष्टुप् का स्थान आया। इसमें कुछ विशेष बल था, अतएव सोम न मिलने पर भी यह अपना शरीर अधिक क्षत न करासकी। गन्धर्व इस का एक ही पैर काट सके, तीन पैरों से त्रिष्टुप् भी वापस लौट आई। अब पृथिवी में रहनेवाली, "एति-प्रेति" लक्षणा चतुष्पदा गायत्री का स्थान आया। देवताओंनें इसे ही सोम लाने के लिए प्रेरित किया। गायत्री ब्रह्मबल से युक्त थी, ब्रह्मा की प्रतिष्ठा का इस में पूर्ण विकास था। इसी विशेष बल से बलतमा बनती हुई गायत्री सुपर्णरूप धारण कर बड़े वेग से झपाटे के साथ सोमपर आक्रमण करने चलपड़ी —"**गायत्री वै सुपर्णो-भूत्त्वा सोममच्छापतत्**"। परिणाम जो कुछ हुआ, सर्वविदित है।

५१३–त्रिष्टुप के ३ पैर, जगती का एक पैर, गायत्री के चार पैर, और समष्ट्यात्मिका गायत्री की अष्टाक्षररूपता का समन्वय—

गन्धर्वों की आँखों में धूल झोंक कर गायत्री ने सोमापहरण तो किया ही, साथ ही वह जगती के उस एक पैर, एवं त्रिष्टुप् के उन तीन पैरों को भी अपने साथ लेती आई, जो कि गन्धर्वों के द्वारा काट लिए गए

थे । गायत्री स्वयं चतुरक्षरा पहिले से थी ही । जगती तथा त्रिष्टुप् के १-३ पैरों से आज सोमापहरण के साथ साथ गायत्री अष्टाक्षरा भी बन गई । तभी से गायत्री के सम्बन्ध में "अष्टाक्षरा वै गायत्री" यह निगम चल पड़ा ।

५१४-अष्टाक्षरा गायत्री, एकादशाक्षरा त्रिष्टुप्, एवं द्वादशाक्षरा जगती के अक्षरसंख्या-निबन्धन तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय, एवं गायत्री की सर्वरूपता—

जब त्रिष्टुप्, और जगती ने यह सुना कि गायत्री सफल होकर लौट आई है, साथ ही वह हमारे पैर भी ले आई है, तो वे दोनों अपने अपने पैर माँगनें के लिए गायत्री के समीप आई । गायत्री ने कह दिया कि, पैर तुम्हें वापस नहीं मिल सकते । हाँ, यदि तुम चाहो तो मुझ में मिल सकती हो । ऐसा ही हुआ । त्र्यक्षरा त्रिष्टुप अष्टाक्षरा गायत्री में मिल गई, फलतः अष्टाक्षरा गायत्री एकादशाक्षरा बन गई । इसी एकादशाक्षरा गायत्री को 'एकादशाक्षरा त्रिष्टुप' कहा जाने लगा । एवमेव एकाक्षरा जगती भी गायत्री में मिल गई । इस से एकादशाक्षरा गायत्री द्वादशाक्षरा बन गयी । इसी द्वादशाक्षरा गायत्री को "द्वादशाक्षरा जगती" कहा जाने लगा । इसप्रकार सोमाहुति के प्रभाव से ब्रह्मसम्बन्धिनी गायत्री ही ८-११-१२ भावों में परिणत होकर गायत्री-त्रिष्टुप् जगती-रूप में परिणत होती हुई महासुपर्णरूप धारण कर विराट्रूप में परिणत होगई । यही वैज्ञानिक आख्यान ब्राह्मणग्रन्थों में-"एतद्ध सौपर्णकमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते" इत्यादि रूप से "सौपर्ण--आख्यान" नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

५१५-छान्दोग्योपनिषत्सम्मता 'ब्रह्मगायत्री' की सर्वव्याप्ति का यशोगान—

इस आख्यान का मौलिक रहस्य क्या है ?, यह बतलाने का यहाँ अवसर नहीं है । इस से प्रकृत में हमें बतलाना केवल यही है कि, चतुरक्षरा, किंवा अष्टाक्षरा गायत्री ही, गायत्रछन्दा भूकेन्द्रस्थ ब्रह्मप्रजापति ही गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती मूर्त्ति बनता हुआ, ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र मूर्त्ति बनता हुआ, अग्नि-आपः-वाङ्मय बनता हुआ-उक्त तीन साहस्त्रियों में परिणत होकर सर्वेसर्वा बना है । ब्रह्मगायत्री की इसी सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करती हुई छान्दोग्यश्रुति कहती है—

"गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च । वाग्वै गायत्रीं । वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च । या वै सा गायत्री, इयं वाव सा ऽयेयं पृथिवी । अस्यां हीदं सर्वं भूतं प्रतिष्ठितम् । एतामेव नातिशीयते"

—छान्दोग्योपनिषत् ३।१२।१

५१६-गायत्र्यनुबन्धी पञ्चविध-अयुग्मस्तोम, एवं त्रिविध-युग्मस्तोमों का समन्वय, तथा आयुःस्वरूपरक्षक-ऐन्द्र--छन्दोमास्तोम--समन्वय—

गायत्रसम्बन्धी उक्त आठ स्तोमों में त्रि० पञ्च० एक० त्रि० त्रय० इन पाँच स्तोमों की समष्टि का एक स्वतन्त्र विभाग है, एवं चतु० चतुश्च० अष्टा० इन तीन स्तोमों का एक स्वतन्त्र विभाग है । उन पाँचों को

"**अयुग्मस्तोम**" कहा जाता है, इन तीनों को युग्मस्तोम कहा जाता है, एवं ये ही युग्मस्तोम **छन्दोमास्तोम** नाम से भी प्रसिद्ध हैं। चतुर्विंशत्यक्षर गायत्रछन्दोमा, चतुश्चत्त्वारिंशदक्षर त्रैष्टुप् छन्दोमा, अष्टाचत्त्वारिंशदक्षर जागत छन्दोमा, इन तीनों की (२४–४४–४८) अक्षरसंख्या का यदि संकलन किया जाता है, तो ११६ अक्षर होजाते हैं। इसी छन्दोमास्तोमविज्ञान के आधार पर भारतीय वैज्ञानिकों नें एक छन्दोमय यज्ञ का आविष्कार किया था। इस के अनुष्ठान से एक स्वल्पायु द्विजाति भी ११६ वर्ष पर्य्यन्त जीवित रह सकता था।

५१७–वाङ्मय छन्दोमास्तोम की इन्द्ररूपता, छन्दोमास्तोमों की अस्तोमरूपता, एवं स्तोमानुगत ३३ अहर्गणों का तात्त्विक--स्वरूप--समन्वय—

इन तीनों वाङ्मय छन्दोमा स्तोमों का इन्द्र से सम्बन्ध है, एवं "**आयुर्वा इन्द्रः**" के अनुसार बृहतीसहस्रात्मक इन्द्रप्राण ही आयु का अधिष्ठाता माना गया है। इसी आधार पर छन्दोमा को आयुर्वर्द्धक बतलाया गया है। इन तीन का स्वरूप क्योंकि वाक् से सम्बद्ध हुआ है, अतएव स्तोमरूप रहने पर भी इन्हें स्तोममर्य्यादा से बाहिर मान लिया गया है-"**अस्तोमा वा एते यच्छन्दोमाः**" (तां० ब्रा० ३।६।३।)। त्रिवृदादि जितनें स्तोम हैं, वे सब इसी वाक् के वितान हैं। वाङ्मयी इन्द्रसाहस्री ही अयुग्मस्तोमों की प्रतिष्ठा बनती है। इन्द्रसाहस्री ही गौसाहस्री है। मनःप्राणगर्भित वाग्भाव ही गौ है। रश्मिरूप इन सहस्र गौ–भावों का ३०–३० गौ के अनुपात से पृथक् पृथक् संकलन होता है। ३० गौप्राण की समष्टि को विज्ञानभाषा में "**अहर्गण**" कहा जाता है। इस दृष्टि से ६६० गौप्राणों के ३३ अहर्गण होजाते हैं। १० अहर्गण शेष बच जाते हैं, यही हजारवीं कामगवी, किंवा कामधेनु कहलाती है।

५१८–वाङ्मय-ऐन्द्रस्तोमानुबन्धी षड्भावों से अनुप्राणित 'वाक्' के ६ महिमाविवर्त्त, तदनुबन्धी वाक्षट्कार, एवं तदनुप्राणित–'वाक्षट्कार' रूप-'वौषट्कार'–के 'वषट्कार' का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय—

इन ३३ अहर्गणों में से ३ अहर्गणों का भोग तो भूपिण्डस्थ हृद्य ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र-इन तीन देवताओं के साथ होजाता है। शेष ३० अहर्गण रहते हैं। केन्द्रस्थ तीन (मूलप्रतिष्ठारूप) अहर्गणों में ६ के समावेश से त्रिवृत्स्तोम का (९ का), त्रिवृत् में ६ के समावेश से पञ्चदशस्तोम का (१५ का), पञ्चदश में ६ के समावेश से एकविंशस्तोम का (२१ का), एकविंश में ६ के समावेश से त्रिणवस्तोम का (२७ का), एवं त्रिणव में ६ के समावेश से त्रयस्त्रिंशस्तोम (३३) का स्वरूप निष्पन्न होता है। सम्भूय ५ स्तोम होजाते हैं। इन पाँचों स्तोमों का केन्द्र १७ वाँ अहर्गण पड़ता है। यही ६ ठा सत्रहवाँ अहर्गण उद्गीथप्रजापति--लक्षण सप्तदशस्तोम कहलाता है। इसप्रकार ३३ अहर्गणों के ९/१–१५/२–१७/३–२१/४–२७/५–३३/६ भेद से ६ स्तोम (राशि–ढेर) होजाते हैं। ये ६ ओं उसी इन्द्रमयी वाक्सहस्री पर प्रतिष्ठित हैं। उस एक ही वाक् के ये ६ स्तोम है, वाक् के षट्कार का ही नाम "**वाक् षट्कार**" है। वाक्षट्कार ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा के अनुसार "**वषट्कार**", किंवा "**वौषट्**" है। वषट्कार-सम्बन्धी ये ६ स्तोम ९–१५–इत्यादि विषमयोग के कारण अयुग्मस्तोम कहलाए हैं। एवं विज्ञानभाषा में इन्हें ही–"**पृष्ठ्यस्तोम**" कहा जाता है। त्रिविध, युग्मरूप छन्दोमास्तोम "**अभिप्लव**" नाम से प्रसिद्ध है।

५१६-स्तोमानुगत-मण्डलात्मक पृष्ठ्यस्तोम, तथा रश्म्यात्मक अभिप्लवस्तोम, एवं तत्स्वरूप-संस्मरण—

भूपिण्ड को केन्द्र मान कर उस के चारों ओ वर्त्तुल एक सहस्र वृत्त बना दीजिए, एक एक वृत्त को एक एक गौ समझिए। ऐसे गोरूप वर्त्तुल वृत्तों से जो स्तोमों का स्वरूप निष्पन्न होगा, वही **"पृष्ठ्यस्तोम"**, किंवा **"युग्मस्तोम"** कहलाएँगे। भूतविवर्त्त का इसी पृष्ठ्यस्तोम से सम्बन्ध रहेगा। भूकेन्द्र के चारों ओर रश्मियों का प्रसार कीजिए। ऐसी सहस्र रश्मियों को वाक्साहस्री समझिए। यही अभिप्लवस्तोम कहलाएगा, इसे ही **युग्मस्तोम**, किंवा **छन्दोमास्तोम** कहा जायगा, एवं यही आयुर्विवर्त्त की प्रतिष्ठा माना जायगा। इसी से यह भी सिद्ध होगया कि, ब्रह्मा-विष्णु का पृष्ठ्यस्तोम से सम्बन्ध है, एवं इन्द्र का अभिप्लवस्तोम से सम्बन्ध है। अतएव तीनों में केवल इन्द्र को ही आयुःसूत्र का प्रवर्त्तक माना गया है।

५२०-लोकत्रयी, अक्षरत्रयी, शुक्रत्रयी, छन्दस्त्रयी, मनोतात्रयी, एवं वेदत्रयी निबन्धन-विविधभावापन्न त्रिविवर्त्तभावों का स्वरूप-समन्वय—

उक्त निरूपण से अब यह भलिभाँति सिद्ध होचुका है कि, भूकेन्द्र में प्रतिष्ठिता ब्रह्मगायत्री ही ब्रह्म-सम्बन्धी यजुर्वेद के जू भाग से उक्थरूप ऋक्भाव में परिणत होती हुई **"गायत्री"** कहलाती है। यत् के आगतिभाव से यजुर्मूर्त्ति विष्णुरूप में परिणत होती हुई **"त्रिष्टुप्"** कहलाने लगती है, एवं यत् के गतिभाव से साममूर्त्ति इन्द्ररूप में परिणत होती हुई **"जगती"** कहलाने लगती है। स्वर्लोक का विकास ही **"स्वः-भुवः-भूः"** ये तीन लोक हैं। ब्रह्मा का विकास ही ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र ये तीन हृद्याक्षर हैं। अग्नि का विकास ही अग्नि-आपः-वाक् ये तीन शुक्र हैं। गायत्री का विकास ही गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-ये तीन छन्द हैं। वाक् का विकास ही वाक्-गौ-द्यौ-ये तीन मनोता हैं। यजु का विकास ही ऋक्-यजुः-साम-ये तीन वेद [छन्दोवेद] हैं। इस लोक-हृद्याक्षर-शुक्र-छन्द-मनोता-वेदत्रयी की समष्टि ही भूपिण्ड, किंवा प्रतिष्ठालक्षण "भूमि" [चित्यभूपिण्ड] है।

	लोका।	अक्षराणि	शुक्राणि	छन्दांसि	मनोताः	वेदाः
भूः	स्वर्लोकः	ब्रह्मा	अग्निः	गायत्री	वाक्	ऋक्
	भुवर्लोकः	विष्णुः	अ पः	त्रिष्टुप्	गौः	यजुः
	भूर्लोकः	इन्द्रः	वाक्	जगती	द्यौः	साम

५२१–अयुग्मस्तोममयी–आग्नेयी–ब्राह्मी-गायत्रीरूपा, वेदसाहस्री से समन्विता-स्वर्लोकात्मिका–'ब्राह्मीपृथिवी' का स्वरूप–संस्मरण—

भूपिण्ड के इसी त्रयीविवर्त्त से पूर्वकथनानुसार आगे जाकर स्वर्लोकमूर्त्ति, हृदययुक्त अग्निमय, वाङ्मय, ऋङ्मय, गायत्रीछन्दा ब्रह्मा के अमृतलक्षण अग्निरस [तेजोरस] के ऊर्ध्व वितान से अग्नि-वायु-आदित्यमयी, पृथिव्यन्तरिक्षद्यु लोकात्मिका, गायत्री–त्रिष्टुप्–जगती छन्दोमयी, ऋक्–यजुः–साममयी, गौ–द्यौ मनोतागर्भिता वाङ्मनोतामयी, यज्ञमयी, पृष्ठ्यस्तोमात्मक त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–नामक–अयुग्म स्तोममयी आग्नेयी ब्राह्मी पृथिवी का [वेदसाहस्री का] विकास हुआ।

५२२–अयुग्मस्तोममयी, आपोमयी, वैष्णवी त्रिष्टुबरूपा लोकसाहस्री से समन्विता भुवर्लोकात्मिका वैष्णवी पृथिवी का स्वरूप-संस्मरण—

भुवर्लोकमूर्त्ति विष्कम्भयुक्त, आपोमय, गौमय, यजुर्मय, त्रिष्टुपछन्दा विष्णु के अमृतलक्षण आपोरस के ऊर्ध्व वितान से वेन–भास्वरसोम–दिक्सोममयी पृथिव्यन्तरिक्षद्यु लोकात्मिका, गायत्री–त्रिष्टुप्–जगती छन्दोमयी वाक् द्यौ मनोगर्भिता गौमनोतामयी, पृष्ठ्यस्तोमात्मक एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश नामक अयुग्मस्तोममयी आपोमयी वैष्णवी पृथिवी का (लोकसाहस्री का) विकास हुआ।

५२३–युग्मस्तोममयी, वाङ्मयी, ऐन्द्री जगतीरूपा वाक्साहस्री से समन्विता भूलोकात्मिका ऐन्द्री पृथिवी का स्वरूप–संस्मरण—

भूलोकमूर्त्ति, परिणाहयुक्त, वाङ्मय, द्यौमय, साममय, जगतीछन्दा इन्द्र के अमृत–लक्षण वाग्रस के ऊर्ध्व वितान से व्यञ्जन–वर्ण–स्वरमयी, पृथिव्यन्तिरिक्ष–द्यु लोकात्मिका, गायत्री–त्रिष्टुप् जगती-छन्दोमयी, वाग्–गौ मनोता गर्भिता द्यौ मनोतामयी, अभिप्लवस्तोमात्मक चतुर्विंश, चतुश्चत्वारिंश अष्टाचत्वारिंश–युग्मस्तोममयी वाङ्मयी ऐन्द्रीपृथिवी का (वाक्साहस्री का) विकास हुआ।

५२४–अयुग्म-युग्मस्तोमानुगता त्रैलोक्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी का संकलनात्मक–स्वरूप–संस्मरण, एवं पृथिवी के परिमित अन्तर्वेदि, तथा अपरिमित बहिर्वेदि–स्वरूपोंका तात्त्विक स्वरूप–समन्वय—

इसप्रकार अग्नि–आपः–वाक् शुक्रमय हृय ब्रह्मा-विष्णु–इन्द्र के वितान से भूपिण्ड के आधार पर अमृताग्नि–आपः–वाक्–शुक्रों द्वारा अग्निमयी ब्राह्मी पृथिवी, आपोमयी वैष्णवी पृथिवी, वाङ्मयी ऐन्द्री पृथिवी, इन तीन पृथिवियों का वितान होगया। इसी दृष्टि से पार्थिवत्रिवर्त्त भूः—पृथिवी–पृथिवी–पृथिवी इन चार विवर्त्तभावों में परिणत होगया। भूविवर्त्त "अन्तर्वेदि" कहलाया, शेष तीनों–"बहिर्वेदि" कहलाए। पहिला रूप परिमित कहलाया, आगे के तीनों रूप अपरिमित कहलाए–"तस्या एतत्

परिमितं रूपं यदन्तर्वेदि, अथैष भूमाऽपरिमितो यो बहिर्वेदि" (ऐ० ब्रा० ८।५।) । * "तिस्रो वा इमाः पृथिव्यः-इयमहैका, द्वे अम्याः परे" (शत० ५।१।५।२१।) ।

१-ब्राह्मी पृथिवी—(पृष्ठयस्तोमात्मिका) (वेदसाहस्री)

१	१-अग्निः—पृथिवी—गायत्री-ऋक्-वाक्-त्रिवृत् २-वायुः—अन्तरिक्षम्-त्रिष्टुप्-यजुः-गौः--पञ्चदशः ३-आदित्यः-द्यौः——जगती—साम-द्यौः-एकविंशः	स्वर्लोकमूर्तिर्हृदययुक्तोऽग्निमयो वाङ्मयः-ऋङ्मयो गायत्रीछन्दा ब्रह्मामृताग्निरसेनोर्ध्वं गच्छत् तामिमां गायत्रीरूपां पृथिवीं विदधाति "सैषा गायत्री पृथिवी"

—*—

२-वैष्णवी पृथिवी—(पृष्ठयस्तोमात्मिका) (लोकसाहस्री)

२	१-वेनः——पृथिवी-गायत्री-ऋक्-वाक्-एकविंशः २-भास्वरसोमः-अन्त०-त्रिष्टुप्-यजुः-गौः-त्रिणवः ३-दिक्सोमः-द्यौः —जगती—साम-द्यौः-त्रयस्त्रिंशः	भुवर्लोकमूर्त्तिर्विष्कम्भयुक्त आपोमयो गोमयो यजुर्म्मयस्त्रिष्टुपछन्दा विष्णुरमृतापोरसेनोर्ध्वं गच्छन् तामिमां त्रिष्टुब्रूपां पृथिवीं विदधाति-सैषा-"त्रिष्टुप् पृथिवी"

—*—

३-ऐन्द्री पृथिवी—(अभिप्लवस्तोमात्मिका)-वाक्साहस्री—

३	१-व्यञ्जनम्-पृथिवी-गायत्री-ऋक्-चतु० २-वर्णः-अन्त०—त्रिष्टुप्-यजुः-चतुश्च० ३-स्वरः-द्यौः——जगती-साम-अष्टाच०	भूलोकमूर्त्तिः परिणाहयुक्तो वाङ्मयो द्यौमयः साममयो जगतीछन्दा-इन्द्रो ऽमृतवाग्रसेनोर्ध्वं गच्छन् तामिमां जगतीरूपां पृथिवीं विदधाति—सैषा-"जगती पृथिवी"

——*——

५२५-महिमापृथिव्यनुगता सुवर्ण-रजत-लौह-धातुमयी तीन पुरियों का संस्मरण, एवं अथर्वश्रुति—

उपर्युक्त ये ही तीनों पृथिवियाँ उपसद्विज्ञान के अनुसार हिरण्मयीपुरी, राजतीपुरी, अयस्मयी-पुरी, इन नामों से व्यहृत हुई हैं। ऐन्द्री जागती सुवर्णपुरी है, यही पुराण का वैकुण्ठधाम है। वैष्णवी

---

*-इमा यास्तिस्त्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥ (अथर्व)
—अथर्वसंहिता ।२१।१।

त्रैष्टुभी पृथिवी राजतपुरी है, यही पुराण का श्वेतद्वीप है। ब्राह्मी गायत्री पृथिवी लौहपुरी है, यही पुराण का **भारतद्वीप** है। ब्रह्मा-विष्णु–इन्द्र ये तीन शिल्पी हीं इस त्रिदेवपुरी के निर्म्माता हैं। अथर्वसंहितानें विस्पष्टशब्दों में 'त्रिपुरी' रूपा इस देवपुरी का निम्नालिखित शब्दों में यशोगान किया है—

१–दिवस्त्वा पातु हरितं, मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम्।
भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद् देवपुरा अयम्॥
२–इमास्तिस्त्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः।
तास्त्वं बिभ्रद् वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव॥
३–पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे देवो अग्ने।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यन्तां त्रिवृदावधेमे॥

—अथर्वसंहिता ५।२८।९,१०,११।

——*——

५२६–देवपुरत्रयी की रहस्यपूर्णा 'त्रिसुपर्णरूपता' का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं पार्थिव गायत्राग्नि की सोमापहरणमूला त्र्यात्मकता से अनुप्राणित त्रिवृद्भावापन्न तीन पार्थिव लोकों के तीन सुपर्णों की समष्टि का स्वरूप–समन्वय—

ये ही तीनों देवपुर अथर्वसंहिता में "त्रिसुपर्ण" नाम से भी व्यवहृत हुए हैं। जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है चतुरक्षा गायत्री ही सुपर्ण बनकर तृतीय द्युलोक से सोमापहरण करती हुई गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती, इन तीन रूपों में परिणत होती हुई उक्त तीनों पृथिवियों की स्वरूप-सम्पादिका बनती है। क्योंकि गायत्री सुपर्ण है, एवं इस सुपर्णगायत्री के ही ये तीन वितान हैं, अतएव इन तीनों पृथिवियों को हम "त्रिसुपर्ण" कह सकते हैं। भूपिण्डस्था गायत्री मृत्युशुक्रप्रधाना (अग्नि-आपः-वाङ्मयी–मृत्युशुक्रत्रयीरूपा गा० त्रि० जगतीमयी गायत्री) है, एवं इन तीनो पृथिवियों की गायत्रीरूपा अग्निशुक्रमयी गायत्री, त्रिष्टुप्रूपा अमृत आपः शुक्रमयी गायत्री, जगतीरूपा अमृतवाक् शुक्रमयी गायत्री अमृतशुक्रप्रधाना है। तीनों सुपर्णों का वितान ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्रमूर्त्ति त्र्यक्षरगर्भित एकाक्षरमूर्त्ति हृद्य अनिरुक्त प्रजापति के आधार पर ही हुआ है—तीनों सुपर्णों में प्रत्येक सुपर्ण त्रिवृत् हैं, अतएव स्तोम भेद से प्रत्येक में तीन तीन लोक होजाते हैं। अथर्वश्रुति ने त्रिलोकात्मिका इसी त्रिसुपर्णरूपता का यों स्पष्टीकरण किया है—

१–त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत्।
अपामेकं वेधसा रेत आहुस्तत् ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे॥
२–त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसम्भूय शुक्राः।
प्रत्यौहन् मृत्यु-ममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा॥

—अथर्वसंहिता ५।२८।६।८।

३–त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम्॥

—अथर्वसंहिता १८।४।४।

१	६–गायत्री–पृ० ब्रह्मा १५–त्रिष्टुप्–अ० विष्णुः २१–जगती–द्यौ० इन्द्रः	—गायत्री ब्रह्मा—गायत्ररूपो गायत्रीसुपर्णस्त्रिवृतः	त्रिसुपर्णा गायत्री
२	२१–गायत्री–पृ० ब्र० २७–त्रिष्टुप्– अ० वि० ३३–जमती द्यो० इन्द्रः	—त्रिष्टुप् विष्णुः—त्रिष्टुबूरूपो गायत्रीसुपर्णस्त्रिवृतः	
३	२४–गायत्री–पृ० ब्र० ४४–त्रिष्टुप्–अ० वि० ४८–जगती–द्यौ० इन्द्रः	—जगती इन्द्रः—जगतीरूपो गायत्रीसुपर्णस्त्रिवृतः	

——**——

५२७–६-२१-२४–संख्याओं से मित तीन पृथिवीलोक, १५–२७-४४–संख्यानुगत तीन अन्तरिक्षलोक, एवं २१-३३–४८ संख्यानुगत तीन द्युलोक—

उक्त तीनों हीं सुपर्णों को त्रिवृत् बतलाया है । त्रिवृत् का अर्थ है-प्रत्येक सुपर्ण पृथिवी-अन्तरिक्ष–द्यौ–, इन तीन तीन लोकों से युक्त । इस दृष्टि से ६–२१–२४ ये तीन पृथिवीलोक होजाते हैं, १५–२७-४४ ये तीन अन्तरिक्षलोक होजाते हैं । एवं २१–३३-४८ ये तीन द्युलोक हो जाते हैं ।

५२८–समुद्र, एवं मातरिश्वा नामक पारिभाषिक अन्तरिक्ष; तथा नाक, ब्रध्नस्य विष्टप्–सूर्य्य–नामक पारिभाषिक द्युलोक का स्वरूप–सयन्वय–

वैदिक परिभाषानुसार ऋतमूर्ति अन्तरिक्ष को समुद्र, एवं "मातरिश्वा" कहा जाता है, सत्यमूर्त्ति द्युलोकको "नाक "ब्रध्नस्य विष्टप् एवं "सूर्य्य" इन नामों से व्यवहृत किया जाता है । इस सामान्य परिभाषा के अनुसार १५–२७–४४ ये तीन अन्तरिक्ष समुद्र, मातारिश्वा इन नामों से, २१-३३–४८ ये तीन द्युलोक नाक–ब्रध्नस्य विष्टप् सूर्य्य इन नामों से भी व्यवहृत किए जाते हैं । महापृथिवी की इसी त्रिवृद्विभूति का विस्पष्ट शब्दों में दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

१—तिस्रो दिवस्तिस्त्रः पृथिवीस्त्रीण्तन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान् ।
त्रिवृतं स्तोम त्रिवृत आप आहुस्तास्त्वा त्रिवृतां त्रिवृद्भिः ॥

२—त्रीन्नाकांस्त्रीन् समुद्रांस्त्रीन् ब्रध्नांस्त्रीन् वैष्टपान् ।
त्रीन् मातरिश्वतस्त्रीन् त्सूर्य्यान् गोप्तॄन्कल्पयामि ते ॥

(अथर्व सं० १–।२७।३,४,।)

१–त्रिवृद्विभूतिः—

१ {
१–त्रिवृत्स्तोमः (६)—ब्राह्मः पृथिवीलोको गायत्रः–पृथिवी
२–एकविंशस्तोमः (२१)—वैष्णवः पृथिवीलोको गायत्रः–पृथिवी
३–चतुर्विंशस्तोमः (२४)—ऐन्द्रः पृथिवीलोको गायत्रः पृथिवी

——*०*——

२ {
१–पञ्चदशस्तोमः (१५)—ब्राह्मोऽन्तरिक्षलोकस्त्रैष्टुभः अन्तरिक्षम् (समुद्रः–मातरिश्वा)
२–त्रिणवस्तोमः (२७)—वैष्णवोऽन्तरिक्षलोकस्त्रैष्टुभः–अन्तरिक्षम् (समुद्रः–मातरिश्वा)
३–चतुश्चत्त्वारिंशः(४४)—ऐन्द्रोऽन्तरिक्षलोकस्त्रैष्टुभः–अन्तरिक्षम् (समुद्रः मातरिश्वा)

——*——

३ {
१–एककविंशस्तोमः (२१)—ब्राह्मो द्यु लोको जागतः—द्यौः (नाकः–सूर्य्यः–ब्रध्नस्य०)
२–त्रयस्त्रिंशस्तोमः (३३)—वैष्णवो द्यु लोको जागतः–द्यौः (नाकः–सूर्य्य–ब्रध्न०)
३–अष्टाचत्त्वारिंश० (४८)—ऐन्द्रो द्य लोको जागतः–द्यौः (नाकः–सूर्य्यः–ब्रध्न०

——*——

५२९–विराट्प्रजापति की पूर्वसंस्था से अनुप्राणित प्राजापत्य विवर्त्तों का संस्मरण—

विराट् स्वरूप को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, और विराट्संस्था से पूर्व में स्थित–**यज्ञप्रजापति** [वल्शेश्वर], **षोडषीप्रजापति** [सहस्रवल्शेश्वर],**निर्गुण अव्यय** [शाश्वतधर्म्मगोप्ता], एवं **परात्पर** (शाश्वतधर्म्म] इन चारों पर दृष्टि डालिए। परात्पर के सम्बन्ध में तो कुछ वक्तव्य नहीं है। तन्मूर्त्ति मायामय अव्यय प्रथम आत्मसंस्था है। इसके आधार पर अक्षरमूर्त्ति षोडशी प्रतिष्ठित है, इसके आधार पर आत्मक्षरमूर्त्ति यज्ञप्रजापति प्रतिष्ठित है। यज्ञप्रजापति उक्त दोनों, किंवा तीनों (षोडशी अक्षर, निर्गुण अव्यय, शा० रूप–परान्यर तीनों) से अविनाभूत है।

५३०–विराट् प्रजापति के जन्मदाता यज्ञप्रजापति के त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप महिमामय स्वरूप का समन्वय—

इस यज्ञप्रजापति के ही हमनें स्वयम्भू- परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी (भूमि) ये पाँच पर्व बतलाए हैं। एवं इन पाँचों का आगे जाकर **संयती-क्रन्दसी रोदसी** इन तीन त्रैलोक्यों में विभाजन किया है। संयती द्यौ है, क्रन्दसी अन्तरिक्ष है, रोदसी पृथिवी है। प्रत्येक में तीन तीन लोकों का अन्तर्भाव है, जैसाकि पूर्व के

तीसरे प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है । यज्ञेश्वर, किंवा जल्शेश्वर की तीसरी रोदसीत्रिलोकी में भूपिण्डको को पृथिवीलोक कहा है, चान्द्र अन्तरिक्ष को आन्तरिक्षलोक कहा है, एवं प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्य को द्युलोक कहा है । इसप्रकार केवल भूरूप रोदसीमण्डल में पृ० अन्त० द्यौ० इन तीन लोकों का भोग बतलाया गया है ।

५३१–यज्ञप्रजापति के महिमात्मक स्वरूप का अन्तिम–स्वल्पतमपर्व–भूलोक, एवं तद्द्वारा विराट्पुत्र की प्रसूति, तथा तन्निबन्धना विराट्प्रजापति की विकारक्षररूपता का समन्वय—

अब सर्वान्त में भूरूपा रोदसी त्रिलोकी का भूपिण्डरूप पृथिवीलोक हमारे सामने आता है, जोकि आत्मक्षरमूर्ति बल्शेश्वर का अन्तिम पर्व कहा जासकता है । इसी अन्तिम पर्वरूप भूपिण्ड से पूर्वोक्त तीन पृथिवियों का विकास बतलाया गया है । तीनों पृथिवियाँ भूविकार हैं, अतएव इस पृथिवीत्रयी को हम "**विकारक्षर-मण्डल**" कर सकते हैं । यही विराट् सम्पत्ति है, अतएव विराट्प्रजापति को हमनें–"**विकारक्षरमूर्त्ति**" कहा है ।

५३२–पितायज्ञप्रजापति के स्वल्पांश से समुत्पन्न विराट्प्रजापति की महिमा का महतो महीयान् विस्तार, तद्द्वारा पुत्र विराट् की 'पितुष्पितासत्' रूप में परिणति, तथा तन्निबन्धन विराट् का ही त्रैलोक्य में यशोगान—

क्योंकि विराट्प्रजापति उस यज्ञेश्वरप्रजापति के अवयवरूप भूपर्व का विकास है, अतएव उसे इस का पिता कह सकते हैं, इसे उसका पुत्र कहसकते हैं । "**गुरु गुड़ रहगए-चेले शक्कर बनगए**" किंवदन्ती लोक व्यवहार में प्रसिद्ध है । यहां भी ऐसा ही हुआ । पिता यज्ञप्रजापति तो पिता ही रहे, परन्तु तत्पुत्र विराट् पिता के भी पिता बन गए । पुत्र की महिमा पिता से भी बढ़ गई । तभी तो इन्हें "**विराट्**" (बहुत बड़े) कहा गया । क्यों महिमा बढ़ गई ?, इसका उत्तर तो पिता से ही पूछना चाहिए । कैसे बढ़ गई ?, इस का समाधान श्रुति कर देती है । पिता यज्ञप्रजापति यदि स्व० प० सू० चन्द्र० पृथिवी, पाँचों को लेकर महान् विराट् कहलावें, तो इस में कोई बड़प्पन्न नहीं है । जिस के कोश में अतुल सम्पत्ति पहले से ही विद्यमान है, उसकी महत्ता को विशेष महत्त्व नहीं दिया जासकता । महत्ता तो उसकी प्रशस्त मानी जायगी, जिसे पिता से मिला बहुत थोड़ा, परन्तु अपने तप श्रम से जिसने पितावत् सम्पति उत्पन्न करली । विराट् आरम्भ में क्या था, पिता यज्ञेश्वर का एक छोटा सा भूपर्व । उसी ने आगे जाकर ४८ पर्य्यन्त वितत होते हुए न केवल यज्ञप्रजापति की महता प्राप्त की, किन्तु इस के साथ साथ हृदयाक्षर के वितान से षोडशी अक्षरप्रजापति (यज्ञप्रजापति का पिता, इस विराट् का पिता मह), निर्गुण अव्यय (षोडशी का पिता, यज्ञप्रजापति का पितामह, विराट् का प्रपितामह), एवं शा० ध० परात्पर (अव्यय का पिता, षो० का पितामह, यज्ञप्रजापति का प्रपितामह एवं विराट् का वृद्धप्रपितामह) इन की महिमासे युक्त हुआ, अतएव विराट् नाम से प्रसिद्ध होता हुआ यह "**पितुष्पितासत्**" (बाप का भी बाप) बन गया । आज परात्पर–अव्यय–षोडशी–यज्ञ को कोई नहीं जानता । सर्पत्र विराट् का ही यशोगान होरहा है । अन्य लोकों की प्रजा को जाने दीजिए । कम से कम विश्वात्मिका पार्थिव प्रजा । (चतुर्दशविध भूतसर्ग) के तो सर्वेसर्वा विराट् प्रजापति ही बने हुए हैं ।

५३३–विराट्प्रजापति के स्वरूप में यज्ञप्रजापतिस्वरूप के त्रैलोक्यात्मक विस्तार का अन्तर्भाव—

इस त्रिपृथिव्यात्मिका पृथिवी से कृतरूप विराट् के केन्द्र में शाश्वतधर्मलक्षण-परात्परगर्भित-अव्ययुक्त षोडशीरूप अक्षरानुगृहीत आत्मक्षरमूर्त्ति इन्द्रविष्णुगर्भित अग्निमूर्त्ति भौम ब्रह्मा (यज्ञप्रजापति) तो प्रतिष्ठित हैं हीं, इस के अतिरिक्त इस में संयती–क्रन्दसी–रोदसी तीनों त्रैलोक्यों का भी उपभोग होरहा है ।

५३४–गीताप्रतिपादित विराट्प्रजापति के विशेष-भावों का निर्विरोध समन्वय, एवं श्रुति-स्मृत्यु-पवर्णित विराट्प्रजापति के रहस्यात्मक स्वरूप का समष्ट्यात्मक-सकलन—

संयती का प्रवर्ग्यभाग इस के ऐन्द्री पृथिवी में, क्रन्दसी का प्रवर्ग्यभाग इस की वैष्णवी पृथिवी में, एवं रोदसी का प्रवर्ग्यभाग इसकी ब्राह्मी पृथिवी में प्रतिष्ठित है । स्तोमविभागानुसार ४८वें स्तोम में स्वयम्भू का प्रवर्ग्य-भाग प्रतिष्ठित है । ३३ वें स्तोम में परमेष्ठी का आप: भाग प्रतिष्ठित है । २७ में चन्द्रमा का प्रवर्ग्यभाग प्रतिष्ठित है । २१ में सूर्य्य का प्रवर्ग्यभाग प्रतिष्ठित है । विप्रतिपत्ति तो यही न उठाई गई थी कि–जब सूर्य्य–चन्द्र–परमेष्ठी–स्वयम्भू चारों यज्ञेश्वर के पर्व हैं, एवं विराट् का जब केवल पार्थिव विवर्त्त से सम्बन्ध है, तो गीता ने सूर्य्य–चन्द्रादि का विराट्स्वरूप में किस आधार पर अन्तर्भाव मान लिया, साथ ही किस आधार पर गीता ने विराट् को अव्यय–अक्षर–एवं शाश्वतधर्म्म (परात्पर) कह डाला । यज्ञेश्वर, किंवा यज्ञेश्वर के चारों पर्व भौमविराट् स्वरूप से सर्वथा पृथक् हैं । अवश्य ही परात्पराव्ययाक्षर चारों की भी स्वतन्त्र संस्थाएँ हैं । अतएव अवश्य ही विराट् को केवल पार्थिव ही माना जासकता है, और मानना चाहिए ।

५३५–विराट्प्रजापति के लोकविभक्त अष्टविध महिमामय स्तोमपृष्ठों के द्वारा यज्ञ-प्रजापति के महिमामय आठों विवर्त्तों का प्रवर्ग्यरूपेण संग्रह, एवं तद्द्वारा विराट्की सर्वरूप में परिणति—

परन्तु अपने हृत्पृष्ठ, त्रिवत्पृष्ठ, पञ्चदश पृष्ठ, एकविंश पृष्ठ, त्रिणवपृष्ट, त्रयस्त्रिंश पृष्ठ, अष्टाचत्वारिंशत् पृष्ठ, इन पृष्ठों में क्रमशः परात्पराव्ययगर्भित षोडशी अक्षर के, रोदसी के भस्थानीय त्रिवृदग्नि के, रोदसी के पञ्चदश स्थानीय अन्तरिक्ष के, रोदसी के एकविंश स्थानीय सूर्य्य के, क्रन्दसी के सप्तविंश (त्रिणव) स्थानीय चन्द्रमा के, क्रन्दसी के त्रयस्त्रिंश स्थानीय आपोमय परमेष्ठी के, एवं संयती के अष्टाचत्वारिंश स्थानीय द्यु रस के प्रवर्ग्यभागों को लेता हुआ यह अपने केवल इस पार्थिवरूप से ही परात्पर–अव्यय–अक्षर–**अग्नि[1]-अन्तरिक्ष[2]–सूर्य्य[3]–चन्द्रमा[4]-परमेष्ठी[5]** (आप:)-**द्यौ[6]**—इन सब का अधिष्ठाता बन रहा है । और इसी प्रवर्ग्यसम्पत्ति से युक्त रहने के कारण ब्रह्मौदनरूप परात्परादि से पृथ रहने पर भी इसे गीता ने परात्परादिरूप कह दिया है, जिस में कोई विप्रतिपत्ति नहीं उठाई जा-सकती । विराट् का हृत्पृष्ठ परात्पराव्ययाक्षररूप है । त्रिवृत्पृष्ठ (९) **अग्निरूप[1]** है, पञ्चदशपृष्ठ (१५) **अन्तरिक्षरूप[2]** है । एकविंश (२१) पृष्ठ **सूर्य्यरूप[3]** है । त्रिणव पृष्ठ (२७) **चन्द्ररूप** है, त्रयस्त्रिंश पृष्ठ (३३) **परमेष्ठी[3]** (आपः) रूप है, एवं **अष्टाचत्वारिंशत्पृष्ठ स्वयम्भूरूप** (द्यौरूप] है । सभी

कुछ तो इस में है। विराट्प्रजापति की इसी षट्–लक्षणा सर्वविभूति का स्पष्टीकरण करती हुई अथर्व–श्रुति कहती है—

१–अग्निः सूर्य्य, श्चन्द्रमा, भूमि, रापो, द्यौ, रन्तरिक्षं, प्रदिशो दिशश्च।
आर्त्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु॥

—अथर्वसं० ५।२८।२

५३६–पुराणपरिभाषानुगत चन्द्रमा का सूर्य्य से ऊर्ध्व–स्थिति-समन्वय, एवं तन्निबन्धना पौराणिकी रहस्यात्मिका परिभाषा—

पुराण ने इसी विराट्–प्रजापति के लक्ष्य से चन्द्रमा को सूर्य्य से ऊपर बतलाया है। प्रत्यक्ष दृष्ट सूर्य्य, एवं विराट् के २१ स्तोम पर सूर्य्य का ही प्रवर्ग्यरूप आदित्य नामक सूर्य्य भिन्न हैं। प्रत्यक्षदृष्ट [रोदसी के] सूर्य्यधरातल से यद्यपि चन्द्रमा नीचे है, परन्तु सूर्य्यप्रवर्ग्यरूप पार्थिव एकविंशस्थ आदित्यप्राणरूप सूर्य्य की अपेक्षा–पृथिवी के त्रिणव स्तोम में प्रतिष्ठित प्रत्यक्षदृष्ट चन्द्रमा का (जो कि चन्द्रमा भास्वरसोममूर्त्ति है) प्रवर्ग्यभाग, अतएव चन्द्रमा नाम से ही प्रसिद्ध चन्द्रमा अवश्य ही [एकविंशस्थ आदित्यरूप पार्थिव-वैराज सूर्य्य की अपेक्षा] ऊपर [२७ में] प्रतिष्ठित है। पुराण के इस रहस्यार्थ को न जानने के कारण जिन पश्चिमी विद्वानों नें पुराण के वैराजानुबन्धी--**"चन्द्रमा सूर्य्य से ऊपर है"** इस सिद्धान्त का उपहास किया है, वे अवश्य ही अज्ञता के कारण भारतीय वैज्ञानिकों की दृष्टि में क्षम्य हैं।

६—द्यौः	[अष्टाचत्वा० संयती स्व० प्र०]	[४८] स्वयम्भूः	–संयती विराट्
५—आपः	[त्रयस्त्रिंशतोमः--क्र० परमेष्ठिनः प्र०]	[३३] परमेष्ठी	क्रन्दसी विराट्
४—चन्द्रमाः	[त्रिणवस्तोमः क्रन्दस्या चन्द्रमसः प्रवृक्तभागः]	[२७] चन्द्रमाः	
३—सूर्य्यः	[एकविंशस्तोमः–रोदस्याः सूर्य्यस्य प्रवृक्तभागः	[२१]–सूर्य्यः	रोदसी विराट्
२—अन्तरिक्षम्	[पञ्चदशस्तोमः–रोदस्या वायोः प्रवृक्तभागः	[१५]–अन्तरिक्षम्	
१—अग्निः	[त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नः-रोदस्या अग्नेः प्रवृक्त भागः]	[९]–भूः	

——*——

५३७–विराट्प्रजापति का 'कविपुत्रत्त्व', एवं तन्निबन्धन 'पितुष्पितासत्' भाव—

पिता यज्ञप्रजापति का महत्त्व संयती-क्रन्द्रसी-रोदसी इन तीन त्रैलोक्य-त्रिलोकियों ही पर ही विश्रान्त था, परन्तु पुत्र विराट् प्रजापति का महत्त्व तो इस से भी आगे बढ़ा हुआ है। यज्ञप्रजापति की संयती–त्रिलोकी

*—भूमिः [पिण्डः–चित्यपृथिवी]

इस विराट् की ऐन्द्री पृथिवी है। यज्ञ० की क्रन्दसी त्रिलोकी इस विराट् की वैष्णवी पृथिवी है। यज्ञ० की रोदसी [भूमि०--अन्तरिक्ष--सूर्य्यरूपा] विराट् की ब्राह्मी पृथिवी [त्रिवृत्--पञ्चदश--एकविंशरूपा] है । यहाँ तक तो पिता पुत्र समान रहे। परन्तु विराट् का अधिकार तीनों त्रिलोकियों से अतिरिक्त भूपिण्ड पर और रहा। वहाँ तीनों में ही भूपिण्ड का अन्तर्भाव था, यहाँ भूपिण्ड तीनों से पृथक् है। कवि पुत्र के इसी महत्त्व का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

१–स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स इमाचिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत्"
—ऋक्सं० १।१६४।१६।

५३८–यज्ञेश्वरप्रजापति की भूः–भुवः–स्वः–रूपा तीनों महाव्याहृतियों का पुत्र विराट्–प्रजापति के महिमामय स्वरूप के साथ समन्वयात्मक–समतुलन—

अब यह और देख लीजिए कि, विराट् त्रिलोकी में यज्ञेश्वर की संयती क्रन्दसी रोदसी का भोग किस रूप से हुआ। विराट् प्रतिष्ठारूप भूमि, किंवा भूपिण्ड को एक ओर रखते हुए महिमारूप तीनों पृथिवियों का विचार कीजिए। परिभाषानुसार गायत्री पृथिवी का, त्रिष्टुप् अन्तरिक्ष का, एवं जगती द्युलोक का छन्द माना जाता है। किंवा गायत्री पृथिवी, त्रिष्टुप् अन्तरिक्ष, एवं जगती द्युलोक माना जाता है, जैसाकि 'गायत्रोऽयं [भू--] लोकः' [कौ० ८।९]--'गायत्री वा इयं पृथिवी' [शत० ४।३।४।९।]--त्रैष्टुभोऽन्तरिक्षलोकः' [कौ० ८।९।]--'अन्तरिक्षं त्रिष्टुप्' [जै ब्रा० उप० १।५।५।३।],--'जागतोऽसौ द्युलोकः-[कौ० ८।९।]—'असौ जगती' [जै० ब्रा० उप० १।५।५।३।] इत्यादि श्रौत निगमवचनों में स्पष्ट है ।

५३९–यज्ञेश्वरप्रजापति की महाव्याहृतित्रयी की प्रतिकृतिभावापन्ना विराट्प्रजापति की तीन महाव्याहृतियों का स्वरूप–समन्वय—

क्योंकि ब्राह्मी पृथिवी गायत्री छन्दः-प्रधाना है, इसलिए इसे पृथिवी कहा जासकता है। वैष्णवी पृथिवी त्रिष्टुप् छन्दः- प्रधाना है। अतः इसे अन्तरिक्ष कहा जासकता है। एवं ऐन्द्री पृथिवी जगतीछन्दः-प्रधाना है, अतएव इसे द्युलोक माना जासकता है। यही तीनों पृथिवियों को क्रमशः भूरूप रोदसी, भुवःरूप क्रन्दसी, एवं स्वः रूप संयती, इन तीन [यज्ञप्रजापति की] महाव्याहृतियों की प्रतिकृति [प्रवर्ग्यरूप प्रतिकृति] समझिए।

५४०–यज्ञेश्वरप्रजापति के त्रैलोक्यात्मक–भूरूप-रोदसी-त्रैलोक्य का विराट्प्रजापति के लोकत्रयात्मक–भूलोक के साथ समतुलन–समन्वय—

यहाँ भूलोकोपलक्षिता महाव्याहृतिलक्षणा रोदसी में गायत्रीछन्दोयुक्त गायत्र अग्निमय भूलोक [भूपिण्ड] पृथिवी है, त्रिष्टुप्छन्दोयुक्त गायत्र वायुमय भुवर्लोक अन्तरिक्ष है, एवं जगती छन्दोयुक्त गायत्र सूर्य्यमय [प्रत्यक्षदृष्ट] स्वर्लोक द्युलोक है। यहाँ की भूलोकोपलक्षिता ब्राह्मी पृथिवी में त्रिवृत् स्तोमावच्छिन्न गायत्रीछन्दोयुक्त गायत्र अग्निमय भूलोक पृथिवीलोक है, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न, त्रिष्टुप् छन्दोमय गायत्रवायुमय भुवर्लोक अन्तरिक्षलोक है, एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न, जगतीछन्दोमय गायत्र आदित्यमय स्वर्लोक द्युलोक है। रोदसी की समानता गतार्थ है ।

५४१–यज्ञेश्वरप्रजापति के त्रैलोक्यात्मक–भुवः–रूप-क्रन्दसी–त्रैलोक्य का विराट्–प्रजापति के लोकत्रयात्मक–भुवर्लोक के साथ समतुलन–समन्वय—

यज्ञेश्वर की महाव्याहृतियों का स्वरूप बतलाते हुए यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, रोदसी त्रिलोकी ही क्रन्दसी का भूलोक बन जाती है। इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखते हुए विचार करना है। यहाँ की भुवर्लोकोपलक्षिता महाव्याहृतिलक्षणा क्रन्दसी में गायत्रीछन्दोयुक्त राथन्तर त्रैष्टुभ अग्निमय रोदसी त्रैलोक्य, किंवा रोदसी का स्वः स्थानीय, भूः-भुव को गर्भ में रखने वाला स्वर्लोकात्मक सूर्य्य ही पृथिवी है, भास्वर-सोममय, त्रिष्टुपछन्दोयुक्त त्रैष्टुभ शिववायु **महर्लोक** अन्तरिक्ष है। दिक्सोममय जगतीछन्दोयुक्त जनल्लोक (परमेष्ठी) द्युलोक है। यहाँ की भुवर्लोकोप लक्षिता वैष्णवी पृथिवी में -त्रिवृत्–पञ्चदशगर्भित एकविंशस्तोमावच्छिन्न, गायत्रीछन्दोयुक्त त्रैष्टुभ वेनमय [स्वर्लोकस्थानीय] प्रदेश पृथिवीलोक है, त्रिणव स्तोमावच्छिन्न, त्रिष्टुप् छन्दोयुक्त, त्रैष्टुभ भास्वर सोममय [महर्लोक स्थानीय, किंवा चन्द्रस्थानीय] प्रदेश अन्तरिक्ष है। एवं त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न, जगतीछन्दोयुक्त त्रैष्टुभ दिक्सोम [आपो] मय [जनल्लोकस्थानीय, किंवा परमेष्ठि–स्थानीय] प्रदेश द्युलोक है। क्रन्दसी की समानता गतार्थ है।

५४२–यज्ञेश्वरप्रजापति त्रैलोक्यात्मक स्वः रूप संयती-त्रैलोक्य का विराट्प्रजापति के लोकत्रयात्मक स्वर्लोक के साथ समतुलन-समन्वय—

उसी महाव्याहृति-प्रकरण में यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, क्रन्दसी त्रिलोकी ही, [किंवा क्रन्दसी त्रिलोकी का जनल्लोकात्मक परमेष्ठीरूप द्युलोक ही] संयती का भूलोक बनता है। इस भाव को लक्ष्य में रखते हुए इस तीसरे विवर्त्त की मीमांसा कीजिए। वहाँ का स्वर्लोकोपलक्षित महाव्याहृतिलक्षण संयती गायत्रीछन्दोयुक्त जो जागत आपोमय क्रन्दसीत्रैलोक्य [किंवा क्रन्दसी का स्वःस्थानीय भूः–भुवः को गर्भ में रखने वाला परमेष्ठी किंवा जनल्लोक] पृथिवीलोक है। त्रिष्टुप् छन्दोयुक्त, जागत सूत्रवायुमय तपोलोक अन्तरिक्ष है। वाङ्मय जगतीछन्दोयुक्त जागत प्राणमय सत्यलोक [स्वयम्भू] द्युलोक है। यहाँ की स्वर्लोकोपलक्षिता ऐन्द्री पृथिवी चतुर्विंशस्तोमावच्छिन्न गायत्रीछन्दोयुक्त जागत व्यञ्जनमय (जनल्लोक स्थानीय) प्रदेश पृथिवीलोक है। चतुश्चत्त्वारिंश स्तोमावच्छिन्न, त्रिष्टुप् छन्दोयुक्त, जागत वर्णमय [तपोलोक–स्थानीय] प्रदेश अन्तरिक्ष है। एवं अष्टाचत्त्वारिंशस्तोमवच्छिन्न, जगतीछन्दोयुक्त, जागत स्वरमय (सत्य–स्वयम्भू स्थानीय] प्रदेश द्युलोक है। संयती की सनानता गतार्थ है।

५४३–भूपिण्डरूपेण पिता–यज्ञप्रजापत्यपेक्षयापि विशेष भावापन्न विराट्प्रजापति के विराट्स्वरूप का समन्वय—

इसप्रकार पिता यज्ञेश्वरप्रजापति की तीनों त्रिलोकियों का पुत्र विराट् प्रजापति की तीनों पृथिवियों में भोग सिद्ध होजाता है। एवं भूपिण्डरूप से विशेष बनता हुआ यह पुत्र पिता की अपेक्षा भी विराट बनता हुआ गीता के विराट् स्वरूप का सर्वात्मना समर्थक बन रहा है, साथ ही श्रौत पार्थिव विराट् स्वरूप का भी।

१–ब्रह्मा गायत्रः—स्वः—मर्त्याग्निः विराट्
२–विष्णुः–त्रैष्टुभः–भुवः—मर्त्यापः–विराट्
३–इन्द्रः—जागतः—भूः—मर्त्यवाक्–विराट्

} भूमिर्विराट् [चित्यः]

ब्रह्मा

त्रयस्त्रिंशद्-देवतास्त्रीणि च वीर्य्याणि प्रियायमाणा जुगुपुरप्स्वन्तः । अस्मिंश्चन्द्रे अधि यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद् वीर्य्याणि ॥—[अथर्व सं० १६।२७।१०]

त्रयस्त्रिंशद्वै सर्वे देवाः—यज्ञियाः—"मनोर्देवा यज्ञियासः" इत्याहुः ।

स्मरन्ति च—"अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम ! । आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च परन्तप ।" [वा० रा०]

द्वादश-आदित्याः दिव्याः	एकादश-रुद्राः आन्तरीक्ष्याः	अष्टौ-वसवः पार्थिवाः
१२ (३३), ११ (३२), १० (३१), ९ (३०), ८ (२९), ७ (२८), ६ (२७), ५ (२६), ४ (२५), ३ (२४), २ (२३), १ (२२)	११ (२०), १० [१९], ९ [१८], ८ [१७], ७ [१६], ६ [१५], ५ [१४], ४ [१३], ३ [१२], २ [११], १ [१०]	८ [८], ७ [७], ६ [६], ५ [५], ४ [४], ३ [३], २ [२], १ [१]

दस्रः सा० १ (२१)

नासत्यः सां० १ [९]

सर्वज्ञः—आदित्यः

हिरण्यगर्भः—वायुः

वैश्वानरः—अग्निः

एकविंशस्तोमः—द्यौः—जगती आदित्यो गायत्रः—सामसाहस्री	पञ्चदशस्तोमः—अन्तरिक्षम्—त्रिष्टुप् वायुर्गायत्रः—यजुःसाहस्री	त्रिवृत्स्तोमः—पृथिवी गायत्री अग्निर्गायत्रः ऋक्साहस्री
(२१) ६, (२०) ५, (१९) ४, (१८) ३, (१७) २, (१६) १	(१५) ६, (१४) ५, (१३) ४, (१२) ३, (११) २, (१०) १	(९) ९, (८) ८, (७) ७, (६) ६, (५) ५, (४) ४, (३) ३, (२) २, (१) १

त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नोऽग्निर्गायत्रः, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नो वायुर्गायत्रः, एकविंशस्तोमावच्छिन्न आदित्यो गायत्रः— इत्येतेषां त्रयाणां स्तोमानां देवानां, वेदानाञ्च समष्टिरूपो गायत्राग्निमूर्त्तिश्चन्द्रमयो भूकेन्द्रस्थो ब्रह्मा ; त्रैलोक्याधिष्ठाता—(वेदसाहस्री)—"अग्निर्वै ब्रह्म" इत्याहुः—"विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता" इति च ।

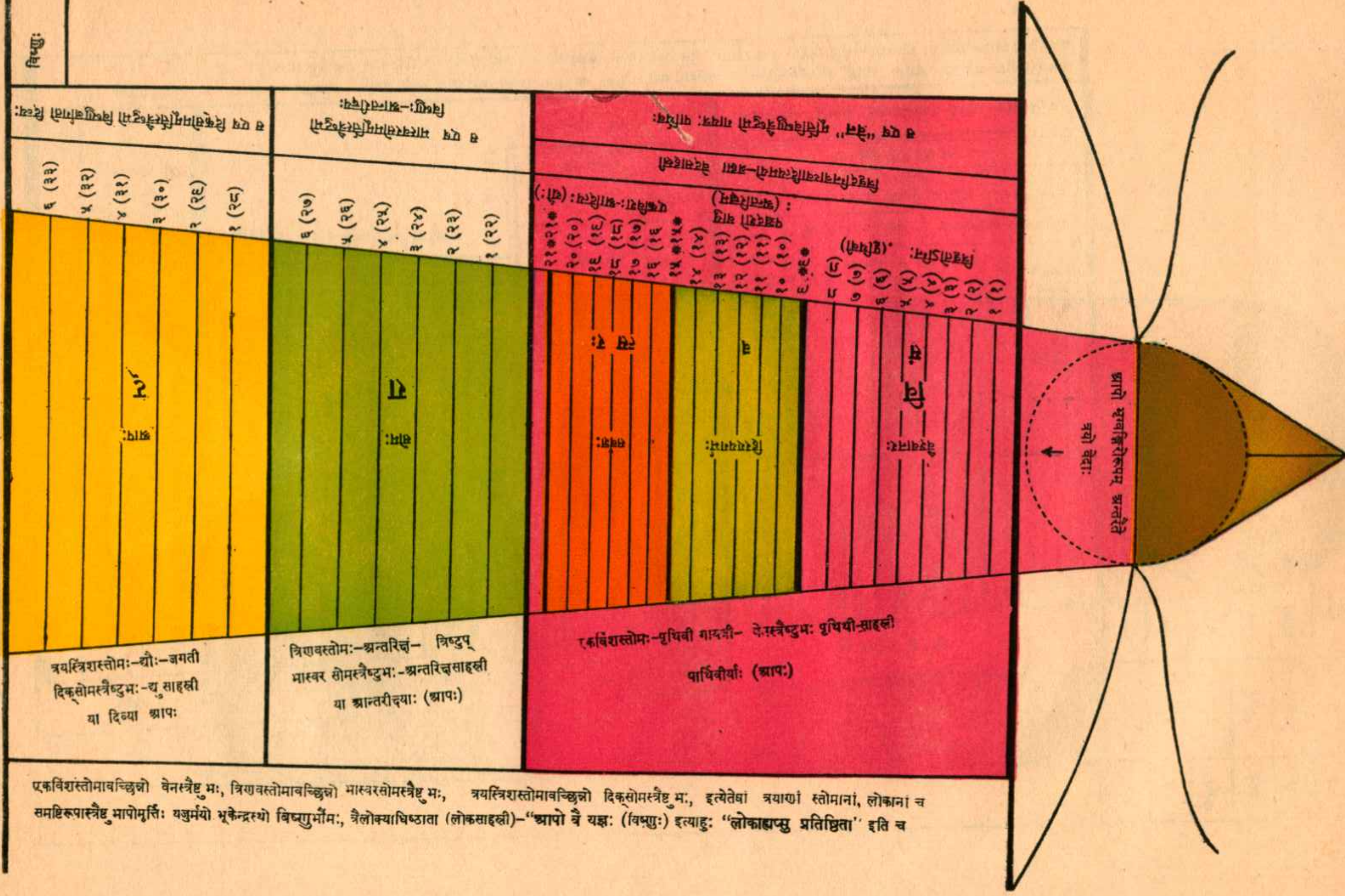
"अग्निः पृथ्वी इत्यादि"

दि-ति—म-ह-ल-म्

आ सु र म ह ल म्

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।

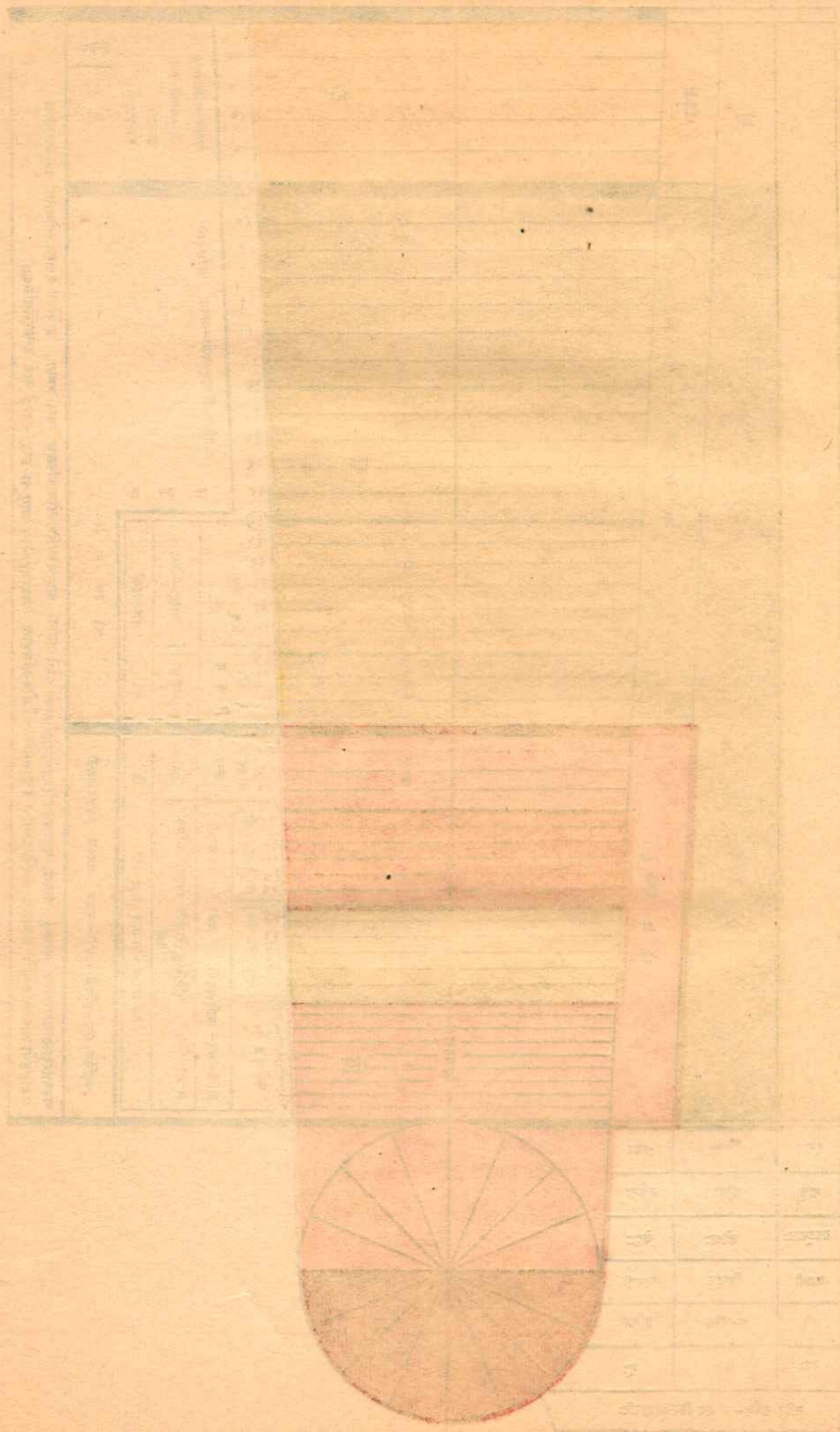
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥



एकविंशस्तोमावच्छिन्नो वेनस्त्रैष्टुभः, त्रिणवस्तोमावच्छिन्नो भास्वरसोमस्त्रैष्टुभः, त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्नो दिक्सोमस्त्रैष्टुभः, इत्येतेषां त्रयाणां स्तोमानां, लोकानां च समष्टिरूपास्त्रैष्टुभापोमूर्तिः यजुर्मयो भूकेन्द्रस्थो विष्णुर्भौमः, त्रैलोक्याधिष्ठाता (लोकसाहस्री)–"आपो वै यज्ञः (विष्णुः) इत्याहुः "लोकाह्यप्सु प्रतिष्ठिता'' इति च

इन्द्रः	विष्णुः	ब्रह्मा
वाक्	आपः	अग्निः
वषट्कारः	लोकाः	वेदाः
जगती	त्रिष्टुप्	गायत्री
द्यौः	अन्तरिक्षं	पृथिवी
स्वः	भुवः	भूः

तदिदं सर्वम्— स एष विराट्प्रजापतिः



स्वः
भुवः
भूः
भूमिः

३–श्रष्टाचित्त्वा० (४८) जगती–स्वरोजागतः (सत्यः) स्वः
२–चतुश्चत्त्वा० (४४) त्रिष्टुप्-वर्णोजागतः (तपः) भुवः
१–चतुर्विंश० २४) गायत्री–व्यञ्जनंजा० (जनत्) भूः

—ऐन्द्रीपृथिवी–संयतीरूपा,

३–त्रयस्त्रिंशः (३३) जगती-दि०सो० त्रैष्टुभः (जनत्)–स्वः
२–त्रिणवः (२७) त्रिष्टुप्-भा०सो० त्रैष्टुभः (महः)–भुवः
१–एकविंशः (२१) गायत्री-वेनस्त्रैष्टुभः (स्वः)–भूः

—वैष्णवीपृथिवी–क्रन्दसीरूपा

३–एकविंशः (२१) जगती–श्रा० गायत्रः (स्वः)–स्वः
२–पञ्चदशः (१५) त्रिष्टुप्-वा० गायत्रः (भुवः)-भुवः
१–त्रिवृतः (९) गायत्री–श्र० गायत्रः (भूः)–भूः

ब्राह्मीपृथिवी रोदसीरूपा

३–परिणाहः–जगती–स्वः
२–विष्कम्भः-त्रिष्टुप्–भुवः
१–हृदयम्—गायत्री–भूः

—— भूपिण्डः

"विराट्–पार्थिवः"

५४४–यज्ञेश्वरप्रजापति के अमृत–मर्त्य–शुक्रषट् से समुद्भूत पार्थिव–विराट्प्रजापति के महिमाभावात्मक शुक्रों की विशकलनात्मिका सर्वव्याप्ति का तात्त्विक समन्वय --

सम्भवतः पाठक यह न भूले होंगे कि, यज्ञेश्वरप्रजापति की स्वरूपसत्ता जहाँ हमने वाक्–आपः अग्निः, इन तीन अमृतशुक्रों से बतलाई थी, वहाँ इस विकारमूर्ति विराट् प्रजापति का स्वरूप-निर्म्माण अग्निः-आपः—वाक् इन तीन मर्त्यशुक्रों से बतलाया गया था। सचमुच ऐसा ही है। परन्तु मृत्यु–अमृत का घनिष्ट सम्बन्ध है। जिसप्रकार अमृतशुक्रप्रधाना यज्ञ–संस्था में स्वयम्भू–परमेष्ठी–अमृतसूर्य्य, इन तीनों में क्रमशः अमृत–वाक्–आपः–अग्नि-शुक्रों का, एवं मर्त्यसूर्य्य, चन्द्रमा–भूमि इन तीनों में क्रमशः मर्त्य–अग्नि–आपः--वाक् तीन शुक्रों का, इसप्रकार अमृत–मर्त्य दोनों शुक्रों का भोग सिद्ध होजाता है, एवमेव मर्त्यशुक्रप्रधान इस विराट् प्रजापति में भी—**"अन्तरं मृत्योरमृतं, मर्त्त्यावमृतमाहितम्--**(शतपथब्रा०) **"प्रत्यौहन् मर्त्त्युममृतेन साकम्"** (अथर्व० ५।२८।८।) इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार भूपिण्ड, एवं त्रिपृथिवीगर्भिता महा पृथिवी भेद से मर्त्यशुक्रत्रयी, अमृतशुक्रत्रयी दोनों का भोग सिद्ध होजाता है। हृद्य--प्रजापति (ब्रह्मेन्द्रविष्णुमूर्ति) स्वयं—**"अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनोमर्त्त्यमासीदर्द्धममृतम्"** इस सिद्धान्त के अनुसार उभयमूर्त्ति हैं। केन्द्र में अमृतप्रधान बने हुए इसी हृद्यप्रजापति के आधार पर पहिले मर्त्य-अग्नि आपः-वाक्-इन तीन मर्त्य शुक्रस्तरों की चिति होती है। इसी मर्त्यशुक्रचिति से पूर्व लक्षण भूपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। आगे जाकर उन हृद्यदेवताओं के अमृतवितान के आधार पर अग्नि--आपः--वाक् इन तीन अमृतशुक्रों का वितान होता है। ये ही तीनों अमृतशुक्र क्रमशः ब्राह्मी--वैष्णवी--ऐन्द्री पृथिवी रूपों में परिणत हुए हैं। इसप्रकार विराट् भी यज्ञप्रजापतिवत् षट्-शुक्र-मूर्ति बन जाता है। यदि और भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाता है, तो पूर्व अथर्व श्रुति से प्रदर्शित तीनों पृथिवी अग्निशुक्रमयी हैं, तीनों अन्तरिक्ष आपः--शुक्रमय हैं, तीनों द्युलोक वाक्शुक्रमय हैं। और भी अधिक गहराई में जाने पर तो यह शुक्रव्याप्ति अणु--अणु में प्रतिष्ठित प्रतीत होती है, जो कि यत्रतत्र विशकलन--प्रक्रिया के द्वारा भी सुसमन्विता है।

१
- (४८)--जगती---स्वरः--इन्द्रः---वाक्
- (४४)-त्रिष्टुप्-वर्णः-विष्णुः-आपः
- (२४)-गायत्री-व्यञ्जनं-ब्रह्मा-अग्निः

—द्यौः जगती-इन्द्रः--वाक् (६)

२
- (३३)-जगती-दिक्सो--इन्द्रः---वाक्
- (२७)-त्रिष्टु ्-भा०सो-विष्णुः-आपः
- (२१)--गायत्री--वेन--ब्रह्मा-अग्निः

— अन्तरिक्षम् त्रिष्टुप्-विष्णुः--आपः (५)

३
- (२१)-जगती-आदित्यः-इन्द्रः-वाक्
- (१५)-त्रिष्टुप्-वायुः-विष्णुः-आपः
- (६)-गायत्री-अग्निः-ब्रह्मा-अग्निः

—पृथिवी-गायत्री-ब्रह्म--अग्निः (४)

४
- स्वर्लोकः-जगती-इन्द्रः-वाक् (३)
- भुवर्लोकः-त्रिष्टुप्-विष्णु-आपः (२)
- भूलोकः-गायत्री-ब्रह्मा-अग्निः (१)

—भूमिः--सर्वप्रजापतिः

५४५-विराटस्वरूप-विश्लेषक, समर्थक आर्ष-वचनों का संस्मरण—

अब यह सर्वात्मना सिद्ध होचुका है कि, विराट् पृथिवीपुत्र है, महिमापृथिवी ही इसका शरीर है, सूर्य्यचन्द्रादि सभी प्रवर्ग्य भागों का इसमें अन्तर्भाव है। भूपृष्ठ को अपने गर्भ में रखने वाला आपोमय अर्णव

समुद्र ही इसका गर्भाशय हैं। विराट् के इसी सर्वरूपका स्पष्टीकरण करते हुए कुछ एक वचन हमारे सम्मुख समुपस्थित हैं—

१—विराड्वाग् विराट्पृथिवी, विराडन्तरिक्षं, विराट् प्रजापतिः।
विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव, तस्य भूतं भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ॥
—अथर्वसं० ६।१०।२४।

२—कुतस्तौ जातौ, कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात् कतमस्याः पृथिव्याः।
वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा ॥

३—यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः ॥

४—यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम्।
ब्रह्मैतद् विद्यात् तपसा विपाश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम् ॥
—अथर्वसं० ८।६।१,२,३,।

——**——

१—"वाग्वै विराट्" (शत० ३।५।१।३४।)-("भूमिः")।
२—विराट्-हीयम्" (शत० २।२ १।२०) -(गायत्री पृथिवी)।
३- "विराड्वै गौः" (शत० ७।५।२।१९)—त्रिष्टुपपृथिवी)।
४—"दशाक्षरा वै विराट्" (तां० ब्रा० ३।१३।३।)।
५—"सहस्राक्षरा वै परमा विराट्" (तां० ब्रा० २५।६।४।)।
६—"सर्वदेवत्यं वा एतच्छन्दो यद्विराट्" (शत० १३।४।१।)।
७—स पुरुषमेधेनेष्ट्वा विराडिति नामायत्त (गो० ब्रा० पू० ५।८।)।

५४६–आरम्भ के एकविंशस्तोमात्मक विराट्प्रजापति का अन्ततोगत्वा अष्टाचत्वारिंशत्स्तोमानुगता महती व्याप्ति का महिमामय-स्वरूप-समन्वय–

पूर्व में त्रिवृत्–तानूनप्त्र-वैश्वानर अग्नि, पञ्चदश तानूनप्त्र हिरण्यगर्भ वायु, एवं एकविंश तानूनप्त्र सर्वज्ञ आदित्य की समष्टि को एककल, त्रिकल, दशफल विराट् बतलाते हुए स्तौम्यत्रिलोकीरूप ब्राह्मी पृथिवी में ही विराट् स्वरूप का अन्तर्भाव बतलाया गया था। परन्तु अब इसी विराट् का स्वरूप दूसरा होगया है। अब विराट् २१ पर्य्यन्त ही व्याप्त न रहकर ४८ पर्य्यन्त चला गया है। पहिले ब्रह्मा हीं विराट् थे, परन्तु अब ब्रह्मविष्णुगर्भित इन्द्र विराट् बनगए हैं। ब्रह्माग्निरूपा ब्राह्मी पृथिवी सहस्रपात् लक्षण वैश्वानर विराट्

है, विष्णु–आपोरूपा वैष्णवी पृथिवी सहस्राक्षलक्षण हिरण्यगर्भ विराट् है, एवं इन्द्र–वाग्‌रूपा ऐन्द्री पृथिवी सहस्रशीर्षा सर्वज्ञविराट् है । वेदसाहस्री विराट् के सहस्रपात् हैं, लोकसाहस्री इस के सहस्राक्ष हैं, एवं वाक्‌साहस्री इस के सहस्रशीर्ष हैं । त्रिसाहस्री से कृतरूप विराट् उसी भूमिपिण्ड पर प्रतिष्ठित है । और विराट् पुरुष का यही श्रुतिसिद्ध वैज्ञानिक स्वरूप है, जोकि विकारक्षर के आधार पर प्रतिष्ठित है, एवं जिसका कि स्वरूप परिलेख से स्पष्ट होजाता है ।

पौराणिक विराट् पुरुष—

५४७–पुराणशास्त्र के प्रति भावुक वेदभक्तों की भ्रान्ता दृष्टि, तन्निराकरण-प्रयास, एवं पौराणिक--विराट्स्वरूपोपक्रम—

वैदिक विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले विराट् प्रजापति का वैज्ञानिक स्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा गया । उचित था कि विराट्स्वरूप-प्रकरण को यहीं समाप्त कर तदुपासना की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता । परन्तु जैसा कि वर्त्तमान मनोवृत्ति से स्पष्ट हैं, आज कुछ एक मूढधी पुराणों को निरा गपोड़ा बतलाने की धृष्टता कर रहे हैं । कहना न होगाकि वेदज्ञानकणिका से भी वञ्चित, किन्तु वेदाभिमानी इन मूढों की यह धृष्टता सर्वथा अक्षम्य है । हम अपनें पाठकों को यह विश्वास दिलाते हैं कि, पुराणशास्त्र वेद की ही प्रतिच्छाया है । वेद में जिन वैज्ञानिक तत्त्वों का सूत्ररूप से निरूपण हुआ है, कारुणिक व्यासदेव के महान् अनुग्रह से उन्हीं तत्त्वों का आख्यानोपाख्यानरूप से पुराण में बड़े विस्तार से उपबृंहण हुआ है । इसी सादृश्य को स्पष्ट करने के लिए दो शब्दों में पौराणिक विराट् प्रजापति का स्वरूप बतलाना भी आवश्यक समझा गया है ।

५४८–दर्शनयुगानुगत चतुर्विंशतितत्त्ववाद का पुराणशास्त्र के द्वारा त्रयोविंशतितत्त्वों पर पर्य्यवसान, एवं पुरुष–प्रकृति विकृति-मूल–षोडशीप्रजापति–यज्ञप्रजापति–विराट् प्रजापति का समतुलनात्मक समन्वय—

"दर्शनयुगानुगता–उपासना" प्रकरण चल रहा है। इस युग का तत्त्ववाद से सम्बन्ध है । महदादि तत्त्वों की समष्टि ही दार्शनिक तत्त्ववाद है । यद्यपि प्राधानिक तन्त्र के अनुसार महदादि तत्त्व २४ हैं, २५ वाँ तत्त्वातीत पुरुष है । परन्तु विराट् प्रजापति की दृष्टि से २३ तत्त्व ही शेष रहजाते हैं । २५ वाँ पुरुष है, २४ वाँ तत्त्व प्रकृति है, शेष २३ तत्त्वों की समष्टि विकृति है । पुरुषतत्त्व षोडशी प्रजापति है, प्रकृतितत्त्व यज्ञ-प्रजापति है, विकृतितत्त्व विराट् प्रजापति है । इसी आधार पर हमने पूर्व के वैज्ञानिक प्रकरण में विराट् को विकार रूप बतलाया है । शुक्ररूप कहा है । दार्शनिक [प्राधानिक] पुरुष-प्रकृति–विकृति इन तीनों के लिए विज्ञानभाषा में अमृत–ब्रह्म–शुक्र शब्द प्रयुक्त हुए हैं । षोडशी पुरुष अमृत है, आत्मक्षरमूर्त्ति यज्ञप्रजापति ब्रह्म है, प्रकृति है, एवं विकारक्षरमूर्त्ति विराट् प्रजापति शुक्र है, विकृति है । इसी आधार पर पुराणने २३ तत्त्वों की समष्टिरूप विकारसंघ को विराट् का स्वरूप–समर्पक माना है ।

५४९–भूतग्रामप्रधान विराट्प्रजापति का श्रीमद्भागवत के द्वारा यशोवर्णन—

पूर्वकथनानुसार विराट्प्रजापति देवसत्यात्मक है, एवं एकधा, त्रिधा, दशधा विभक्त है । इसी विराट् को विश्वसृष्टि-प्रवर्त्तक परमात्मा कहा है । वह अंशी है, चतुर्दशविध सर्ग उसी के अंश हैं । भूतग्रामप्रधान

विराट् ही उस यज्ञप्रजापति का प्रथमवतार है। विराट् प्रजापति के इसी वैज्ञानिक स्वरूप का स्पष्टीकरण करता हुआ पुराण कहता है—

ऋषिरुवाच १—इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशम्य गतिरीश्वरः॥

२—कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत्॥

३—सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम्।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म्म प्रबोधयन्॥

४—प्रबुद्धकर्म्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः।
प्रेरितोऽजनयत् स्वाभिर्मात्राभिरधिपूरुषम्॥

५—परेणविशता स्वस्मिन् मात्रया विश्वसृग्गणः।
चुक्षोमान्योऽन्यमासाद्य यस्मिँल्लोकाश्चराचराः॥

६—हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान्।
आण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः॥

७—स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्म्मात्मशक्तिमान्।
विबभाजात्मनात्मानमेकधा-दशधा-त्रिधा॥

८—एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः।
आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते॥

९—साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा।
विराट् प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च॥

१०—स्मरन् विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः।
विराजमतपत्स्वेन तेजसैषां विवृत्तये॥

११—अथ तस्याभितप्तस्य कति चायतानि ह।
निरभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु॥

(श्रीमद्भागवतपुराण--३ स्कन्ध, ६ अ० १ से ११ पर्य्यन्त)

५५०–आधिकारिक-अचेतन-जीवोपासनात्मिका विराडुपासना का आधारभूत पार्थिव विराट्-प्रजापति—

पाठकों का स्मरण होगा कि हमनें विराट् उपासना को "आधिकारिक अचेतन जीवोपासना" कहा है, यही तत्त्वोपासना है। यही दर्शनभक्ति है। विराट् प्रजापति में विकार भाव की प्रधानता है, तत्त्वप्राधान्य है। अवएव इसका चिद्भाव आवृत होरहा है, हमारी दृष्टि से नहीं, अपितु चिदात्मलक्षण षोडशी, एवं तदंशलक्षण यज्ञप्रजापति की दृष्टि से।

५५१–चिदात्मलक्षण षोडशीप्रजापति, प्रत्यगात्मलक्षण यज्ञप्रजापति, एवं शारीरका-त्मलक्षण विराटप्रजापति का समन्वय, तथा प्रत्यगात्मसंस्मरण—

उस एक ही आत्मतत्त्व के आत्म–देवता–भूत, किंवा पुरुष–प्रकृति–विकृति, किंवा प्रज्ञा–प्राण–भूत, किंवा अमृत-ब्रह्म-शुक्र भेद से तीन विवर्त्त होजाते हैं। इन तीनों आधिदैविक आत्मपर्वों को [ईश्वरीय पर्वो को] हम क्रमशः चिदात्मा-प्रत्यगात्मा-शारीरक आत्मा इन नामों से व्यवहृत करसकते हैं। विश्वव्यापक सहस्र-वल्शेश्वर षोडशीप्रजापति चिदात्मा कहा जासकता है। पञ्चपर्वेश्वर, किंवा एकवल्शेश्वर यज्ञप्रजापति को प्रत्यगात्मा माना जासकता है। एवं पार्थिवेश्वर विराट् प्रजापति को शारीरक आत्मा कहा जासकता है। आध्यात्मिक आत्म-विवर्त्तों से परिचित पाठकों को यह विदित ही है कि, वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-लक्षण भूतात्मा ही आध्यात्मिक शारीर-क-आत्मा है, इसे ही चिदाभास कहा जाता है। इस का अधिष्ठाता अध्यात्मकेन्द्र में प्रतिष्ठित वही विराडंश प्रत्यगात्मा बनता है, एवं व्यापक तत्व चिदात्मा कहलाता है।

५५२–ईश्वरशरीरानुगत सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्–मूर्त्ति विराडात्मा, एवं यज्ञप्रजापत्य-पेक्षया इत्थंभूत विराडात्मा का जीवात्मत्व–समन्वय–

ईश्वरशरीर में वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्ति विराट् भूतप्रधान भूतात्मा है। यज्ञप्रजापतिरूप देव-प्रधान आत्मा परमात्मा है। भूतप्रधान इसी परात्मा का एक अंशवतार है, पञ्चपुण्डीरेश्वर का अंशरूप भूपर्व ही इस विराड़वतार की प्रतिष्ठा है। अतएव यज्ञेश्वर को प्रत्यागात्मलक्षण परमात्मा माना जासकता है, एवं विराट् को उसी संस्था का जीवात्मा।

५५३–समानशीलव्यसनिष्ठ आधिदैविक–जीवविराट्प्रजापति के साथ–आध्यात्मिक-जीवविराट्प्रजापति का रहस्यपूर्ण-मैत्रीसम्बन्ध, एवं पुरुष की प्रजापतिनिबन्धना नेदिष्ठता का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय —

यह एक रहस्य की बात है कि—"समानशीलव्यसनेषु मैत्री" के अनुसार मित्रता का सम्बन्ध समानता पर ही निर्भर है। परमात्मा और जीवात्मा (हमारे) में बड़ा अन्तर है। अतएव महेश्वरलक्षण पर-मात्मा के साथ जीवात्मा (हमारा) का सख्यभाव नहीं होसकता। जीव की समानशील--व्यसन जीव के साथ ही मित्रता सम्भव है। वह जीव यही "विराट् प्रजापति" है। यज्ञप्रजापतिलक्षण परमात्मा के भूत-

ग्रामप्रधान अंशावतार इस त्रिमूर्ति विराट् को अवश्य ही **'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता) इस सामान्य परिभाषा के अनुसार ईश्वरीय विवर्त्त का "जीव" (शारीरक आत्मा] कहा जासकता है । यही विराट्प्रजापति सुपर्ण है। भोक्ता जीवसुपर्ण की मित्रता इस साक्षी विराट्सुपर्ण के साथ ही सम्भव है । दोनों समानशील-व्यसन हैं । अन्तर यही है कि, वह असङ्ग है, यह ससङ्ग है । **"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"** इत्यादि मन्त्र श्रुति ने भी विराट्सुपर्ण की ही जीवसुपर्ण के शाथ मित्रता बतलाई है। वह हिरण्यगर्भ जीव है, यह कार्म्मिक इरागर्भजीव है । उसके यदि वि० हि० स० तीन पर्व हैं, तो इसके भी वै० प्रा० तै० तीन हीं पर्व हैं । यह इरागर्भात्मक सत्त्वरूप जीवों का तो आत्मा है, परन्तु उस परमात्मालक्षण यज्ञेश्वर का अंशावतार है, जैसाकि-**"एष ह्येष सत्त्वानामात्मा, अंशः परमात्मनः, आद्योवतारो, यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते"** इत्यादि पूर्वोक्त भागवतसिद्धान्त से स्पष्ट है । वह आपोमय अर्णव समुद्र के गर्भ में [**अप्सुप्रविष्टः-उवासाप्सु**] प्रतिष्ठित है, तो यह भी **"इति नु पञ्चम्याहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"** इत्यादि पञ्चाग्नि-विद्या--सिद्धान्त के अनुसार आपोमय, किंवा अप्प्रधान [**त्र्यात्मकत्त्वात्तु भूयस्त्वात्**] पाञ्चभौतिक शरीर के गर्भ में प्रतिष्ठित है । वह यदि पार्थिव त्रिलोकी के अशेष सत्त्वों का एक आत्मा है, तो यह भी शरीरस्थ अशेष सत्त्वों [कीटाणुओं] का एक आत्मा है । उसमें यदि त्रैलोक्यसंस्था है, तो इसमें भी मूलग्रन्थि से आरम्भ कर नाभि पर्य्यन्त ब्राह्म-पृथिवीलोक, नाभि से हृदय पर्य्यन्त वैष्णव-अन्तरिक्षलोक, हृदय से कण्ठ पर्य्यन्त ऐन्द्रलोक, कण्ठ से ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त चौथा आपोलोक [**अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः**], इसप्रकार लोक-संस्था ज्यों की त्यों प्रतिष्ठित है । यह जीवपुरुष, और वह जीवपुरुष दोनों नाम-रूप-गुण-कर्म्म संस्थान आदि सभी दृष्टियों से अवश्य ही समानशीलव्यसन बने हुए है । इसीलिए इसे उसके नेदिष्ठ [समीपतम] माना गया है-**"पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्"** ।

हाँ, तो वक्तव्य यही था कि जिसप्रकार अध्यात्मदृष्टि से आत्मा के चिदात्मा-प्रत्यगात्मा-शारीरक आत्मा, ये तीन विभाग होते हैं, एवमेव आधिदैविकदृष्टि से भी आत्मा के ये तीन विभाग होजाते हैं। षोडशीपुरुष चिदात्मा है, यज्ञप्रजापति परमात्मलक्षण प्रत्यगात्मा है, एवं विराट्प्रजापति जीवत्मलक्षण शारीरक आत्मा है ।

१-अधिदैवतम्

१-षोडशीप्रजापतिः-पुरुषः [अक्षरः]-अमृतम्--चिदात्मा [ज्ञानात्मा]	ईश्वरः
२-यज्ञप्रजापतिः-प्रकृतिः [आत्मक्षरः]-ब्रह्म-प्रत्यगात्मा [कर्म्मात्मा]	
३-विराट्प्रजापतिः-विकृतिः [विकारक्षरः]-शुक्रम्-शारीरकात्मा [भूतात्मा]	

---*---

२–अध्यात्मम्–

१–हृदयषोडशी—चिदात्मा-अलिप्तः-सर्वलिप्तः
२–हृदयज्ञः—प्रत्यगात्मा–निर्लिप्तः } –जीवः
३–जीवः—शारीरकात्मा–देही

———*———

५५४–विराट्प्रजापति की 'आधिकारिक–चेतन–जीव' रूपता का समन्वय—

उक्त दृष्टि के अनुसार हमें मानना पड़ेगा कि भूतप्रधान, किंवा विकारप्रधान, किंवा शुक्रात्मक पार्थिव भौतिक विश्वप्रधान विराट्प्रजापति का चिद्भाग यज्ञ–षोडशी की अपेक्षा अचित् ही कहलाएगा, एवं जहाँ हम हमारी दृष्टि से (आध्यात्मिक जीवदृष्टि से) विराट् को चित्, किंवा चेतन कहेंगे, वहाँ आधिदैविक यज्ञ–षोडशी की दृष्टि से विराट् को अचित्, किंवा अचेतन ही माना जायगा। इसी अभिप्राय से हमनें विराट् को **'आधिकारिक अचेतन जीव'** कहना शास्त्रसम्मत माना है।

५५५–'सर्वत्र विराजते' रूप विराट्प्रजापति की अपतत्त्व से आवरणप्रवृत्ति, एवं आवरणमूलक–'अचेतन' भावानुबन्ध से विराट् प्रजापति का 'अचेतनजीवत्त्व'–समन्वय—

अचित् तत्त्वों की समष्टिरूप पार्थिव अचेतन ब्रह्माण्ड से वितान के द्वारा ४८ स्तोम पर्य्यन्त उठ खड़ा होने वाला, त्रिकल, दशकल, किंवा एककल विराट् भी अवश्य ही अचेतन कहा जासकता है। अचेतन, परन्तु चेतन यज्ञप्रजापति की अपेक्षा है विशेष। जिस विशेषता से कि प्रजापति का सुत होता हुआ भी [**सुतं कर्म्म प्रबोधयन**] विराट् बना हुआ है, एवं जिस विशेषताका कि पूर्व के वैज्ञानिक प्रकरण में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। विकृति–लक्षण २३ तत्त्वों की समष्टिरूप यह विराट् लोकवितान करता हुआ, यज्ञमूर्त्ति विष्णु की साक्षात् प्रतिमा बनता हुआ [**आत्मा वै जायते पुत्रः**]। बाहिर की ओर से **'प्रधान'** नाम से प्रसिद्ध चौवीसवीं प्रकृति, एवं महद्रूप पारमेष्ठ्य आपः से आवृत होता हुआ **"सर्वत्र विराजते, सर्वत्र विराजते"**। विराट् के इसी तात्त्विक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए व्यासदेव कहते हैं—

१—परस्य दृश्यते धर्म्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात्।
अतो * विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते ॥

२—एतान् संहत्य यदा महदादीनि सप्त वै।
कालकर्म्मगुणोपेतो जगदादिरुपाविशत् ॥

---

* भूमिगता इस विशेषता से ही तो विराट्पुत्र पितुष्पितासत् बना है।

३—ततस्तेनानु विद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम् ।
उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट् ॥

४—एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः ।
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः ॥
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः (यज्ञविष्णोः) ॥

५—हिरण्मयादण्डकोशादुत्थाय सलिलेशयात् ।
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम् ॥

(श्री० भा० पु० ३ स्कं० २६ अ० ४६ से ५३ पर्यन्त)

—— * ——

५५६-विराट्-स्वरूपानुगत पार्थिव-विभक्त नामों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

विराट्स्वरूप--निबन्धन पार्थिव विवर्त्त के उपक्रम में यह बतलाया गया था कि--अमरकार ने पृथिवी के भूः-भूमिः-आदि जो पर्य्यायशब्द बतलाए हैं, वे पार्थिव विवर्त्त की दृष्टि से समानार्थक बनते हुए भी अपने प्राति-स्विकरूपों से भिन्न भिन्न अर्थों के ही वाचक हैं–(देखिए पृ० सं० ३६२)। विराट् निरूपण के साथ साथ पार्थिव विवर्त्तों का स्वरूप भी गतार्थ है । उन विवर्त्तों को लक्ष्य में रखते हुए ही पार्थिव--नामों का समन्वय कीजिए, पार्थक्य स्पष्ट होजायगा ।

५५७–भूः-भूमिः-अचला-अनन्ता नाम की शब्दचतुष्टयी का रहस्यात्मक--समन्वय—

पिण्डपृथिवी के भूः–भुवः–स्वः–ये तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं । भू केन्द्र बहिस्तर (परिणाह) है, भुवः वैष्णव मध्यस्तर (विष्कम्भ) है, एव स्वः मूलस्तर (हृदय) है । हृदयात्मक स्वर्भावापन्न ब्रह्मधाम अनन्त है, विष्कम्भात्मक भुवर्भावापन्न विष्णुधाम **'मध्ये वामनमासीनम्'** के अनुसार अचल है, एवं परिणाहात्मक भूभावापन्न इन्द्रधाम **"यदभूत्"** निर्वचन के अनुसार **"भूः"** है । भूरूप बहिस्तर, भुवः रूप मध्यस्तर, एवं स्वः रूप मूलस्तर ही क्रमशः भूः–अचल–अनन्त हैं । भूकेन्द्र को **अनन्ता** पृथिवी कहा जायगा, भूविष्कम्भको **अचला** पृथिवी, एवं भूपरिणाहको "भू" पृथिवी कहा जायगा । इन तीनों की समष्टि (अनन्त–अचल–भू की–समष्टि) **"भूमि"** कहलाएगी । इसप्रकार अमरकारके आरम्भ के ये चारों शब्द भूपिण्ड के चारों भावों के वाचक बनेंगे ।

५५८–रसा-विश्वम्भरा-स्थिरा-नाम-विवर्त्तों का रहस्यात्मक समन्वय—

भूमिपिण्ड के अनन्तर क्रमशः अग्निरसमयी (**तेजोरसो निरवर्त्तताग्निः**) ब्राह्मी पृथिवी, आपोमयी वैष्णवी पृथिवी, एवं वाङ्मयी ऐन्द्री पृथिवी प्रतिष्ठित है । वाङ्मयी पृथिवी स्थिरवषट्कार है, अतएव इसे हम **"स्थिरा"** कह सकते हैं । लोकदृष्टि का, किंवा विश्व का आपः से सम्बन्ध है । [**लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः**]

अतएव आपोमयी वैष्णवी पृथिवी को "**विश्वम्भरा**" कहा जासकता है। यही विश्वम्भरा पृथिवी विष्णु की पत्नी भी मानी गई है। एवं तेजोरसमयी पृथिवी को "**रसा**" कहा जासकता है। २१ विंशस्तोमावच्छिन्ना ब्राह्मी अग्निमयी पहिली पृथिवी रसा है, त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्ना वैष्णवी आपोमयी दूसरी पृथिवी विश्वम्भरा है, एवं अष्टाचत्वारिंशस्तोमावच्छिन्ना ऐन्द्री वाङ्मयी [वषट्काररूपा] तीसरी पृथिवी स्थिरा है। इसप्रकार अमरकार के पृथिवी नामनिरूपक दो श्लोकों में से प्रथम श्लोक का "**भूर्भूमिरचलानन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा**" यह पूर्वार्द्ध वैज्ञानिक चारों पार्थिव विवर्त्तों का संग्राहक बना हुआ है।

१ भूपिण्डः
- १–१–१–भूकेन्द्रः [हृदयरूपा ब्राह्मी पृथिवी-स्वर्लोकः]—अनन्तापृथिवी—"**अनन्ता**"
- २–२–२–भूमध्यः [विष्कम्भरूपा वैष्णवी पृ० भुवर्लोकः]—अचलापृथिवी—"**अचला**"
- ३–३–३–भूस्तरः [परिणाहरूपा ऐन्द्री पृ० भूलोकः]——भूः–पृथिवी——"**भूः**"
- ४–१–४–समष्टिः [त्रयाणां समष्टिः]————————भूमिः– पृथिवी—"**भूमिः**"

—–*—–

२ महापृथिवी
- ५–१–ब्राह्मी त्रिलोकी [अग्निमण्डलम्–२१]–भूः——–भूः पृथिवी ब्राह्मी——"**रसा**"
- ६–२–वैष्णवी त्रिलोकी [अब्मण्डलम्–३३]-भुवः——भुवः पृथिवी वैष्णवी—–"**विश्वम्भरा**"
- ७–३–ऐन्द्री त्रिलोकी [वाङ्मण्डलम्–४८]-स्वः——स्वः पृथिवी ऐन्द्री——"**स्थिरा**"

—–*—–

५५९–धरा-धरित्री-धरणी-नामविवर्त्तों का ध्रुव-धर्त्र-धरुणानुबन्धी तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय–

उक्त स्थिति के अनन्तर पुनः पहिला ब्राह्मत्रैलोक्यरूप पृथिवीलोक हमारे सम्मुख आता है, जिसके कि त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश नामक तीन स्तर बतलाए गए हैं, एवं वहीं यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, त्रिवृत् में घन अग्नि, पञ्चदश में तरलवायु, एवं एकविंश में विरल आदित्य प्रतिष्ठित है। त्रिवृत्पार्थिव स्तर अग्निमयी पृथिवी है, पञ्चदश पार्थिवस्तर वायुमयी, एवं एकविंश पार्थिवस्तर आदित्यमयी पृथिवी है। घन–तरल–विरल,–इन तीनों अवस्थाओं के लिए संहिता में क्रमशः **ध्रुव धर्त्र–धरुण** शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अग्निमयी पृथिवी ध्रुवा है, वायुमयी धर्त्री है, आदित्यमयी धरुणा है। ब्राह्मी पृथिवी के इन्हीं तीनों स्तरों के लिए क्रमशः **धरा–धरित्री–धरणी**–ये तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

५६०–ब्राह्मी पृथिवी के विशेष–भावों से अनुप्राणित विभिन्न शब्द, एवं तदनुबन्धी– 'क्षोणी' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अब इसी ब्राह्मी पृथिवी के विशेष भावों का विचार कीजिए। धरा–धरित्री–धरणी की समष्टिरूप सम्वत्सरात्मिका पृथिवी भूपिण्ड को अपने केन्द्र में प्रतिष्ठित रखती हुई सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है। यही वैश्वानर–मण्डल की परिक्रमा है। विश्व में जो एक **'साँय साँय'** शब्दध्वनि सुनाई पड़ती है,

यह इसी वैश्वानर सम्वत्सररूपिणी पृथिवी के परिभ्रमण का अनाहत नाद है। इसी ध्वनिः शब्दरूप नादभाव की अपेक्षा से इस ब्राह्मी पृथिवी को हम **'क्षोणी'** (**'टुक्शु' शब्दे**) कह सकते हैं।

५६१- अन्नादानात्मक-वयोहानिप्रवर्त्तक-प्राजापत्यधर्म्म, एवं तन्निबन्धन 'ज्या' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

सम्वत्सर--प्रजापति जहाँ हमारी आयु का स्वरूप-समर्पक बनता है, वहाँ यही अन्त में हमारी आयु के नाश का कारण भी बनता है—**'यो मा ददाति स इदेवमावत्'**। सम्वत्सर के नियत अहोरात्र पर्वोतक उसी सम्वत्सर से हमें आयु और आयुः स्वरूप--रक्षक पार्थिव भोग्यपदार्थ उपलब्ध होते हैं, एवं अन्त में वही हमारी वयोहानि का कारण बनता है। सम्वत्सररूपा ब्राह्मी पृथिवी को इस नाशभाव की अपेक्षा से **"ज्या"** (**'ज्या' वयोहानौ**) कहा जायगा।

५६२-पार्थिव-अग्निरसात्मक-कूर्म्मप्रजापति--नामक कश्यपप्रजापति का संस्मरण, एवं तन्निबन्धन-'काश्यपी' नाम का स्वरूप-समन्वय—

सौर सावित्र मण्डल ही सौर सम्वत्सर है, इसी सौर सम्वत्सर को कूर्म्म, किंवा कश्यप कहा जाता है। उक्त गायत्राग्निमण्डलरूप पार्थिव सम्वत्सर इस कश्यपात्मक सौर सम्वत्सर से अतिमान करता रहता है। दोनों सामों का परस्पर मिल जाना ही अतिमान है। पार्थिव सम्वत्सर रस **'श्यैत'** नाम से, एवं सौर काश्यप सम्वत्सर रस **'नौधस'** नामसे प्रसिद्ध है। श्यैत नौधस मण्डलों से नौधस श्यैत मण्डल में प्रविष्ट रहता है। इसी संगमनरूप अतिमान से पार्थिव सम्वत्सर उस कश्यपरस से (**रसो वै कूर्म्मः**) युक्त होता हुआ अदितिरूप में परिणत होजाता है। कश्यप के सम्बन्ध से ही यह सम्वत्सररूपा ब्राह्मी पृथिवी (वेद में) अदिति कहलाई है, सौरकश्यपप्राणावच्छिन्न उसी पार्थिव सम्वत्सर--पृथिवी को **'काश्यपी'** कहा जायगा।

५६३-'क्षिति' शब्द का तात्त्विक--स्वरूप-समन्वय—

ब्राह्मी पृथिवी का त्रिवृत् अग्निमय भाग भूपृष्ठ से संलग्न रहता है। भूस्तर का मृण्मय प्रदेश इसी से आक्रान्त रहता है। अन्तरिक्षविभूति से युक्त (त्रिवृद्भाग से युक्त) यह मृण्मय भूप्रदेश ही पार्थिव प्रजा के निवास, एवं गमन का साधन बनता है। इस दृष्टि से भूस्तर (मृण्मय भूस्तर) युक्ता ब्राह्मी पृथिवी के अन्तरिक्षरूप त्रिवृत् भागात्मक पार्थिव भाग को **'क्षिति'** (क्षि—निवासगत्योः) कहा जायगा।

५६४- सर्वंसहा' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

नद-नदी-पर्वत-ओषधि-वनस्पति-धातुवर्ग-मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीट आदि आदि का भार सहने वाला मृण्मय भूस्तरावच्छिन्न ब्राह्मीपृथिवीयुक्त पार्थिव पृथिवीरूप त्रिवृद्भाग, यक्ष-राक्षस-गन्धर्व-पिशाच इन चारों देवयोनियों का भार सहने वाला ब्राह्मीपृथिवी का अन्तरिक्षरूप पञ्चदश भाग, पितर-ऐन्द्र-प्राजापत्य-ब्राह्म इन चार देवयोनियों का भार सहने वाला ब्राह्मी पृथिवी का द्युरूप एकविंशभाग, इन तीनों की समष्टि-रूपा मृण्मयी भूस्तरावच्छिन्ना ब्राह्मी पृथिवी ही **'सर्वंसहा'** कहलाएगी।

५६५-पार्थिव-विराट् प्रजापति की-'वसु' रूपता का वैज्ञानिक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

भूमिपिण्ड पाशुकाग्नि रूप है—(देखिए शत० ६।२।१।····)। पाशुकाग्नि, किंवा पशुरूप भूमिपिण्ड को ही याज्ञिक--भाषा में पुराणगार्हपत्य कहा जाता है। यही उस सम्वत्सरयज्ञरूप सोमयज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है। सम्वत्सरयज्ञ का त्रिवृदग्नि (६) नूतन गार्हपत्य है, पञ्चदश वायुरूप अग्नि धिष्ण्याग्नि है, एवं एकविंश आदित्य आहवनीय है। इन तीन प्राणाग्नियों से अग्निमूर्त्ति सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होरहा है। भूपिण्ड रूप पाशुकाग्नि, त्रिवृदग्नि, पञ्चदश वायु, एकविंश सूर्य्य, तीनों की समष्टिरूप यज्ञ चारों हीं ब्राह्मी त्रिलोकी में रहने वाले आग्नेय ३३ यज्ञिय देवताओं का अन्नसम्पत्तिरूप मौलिक धन है, यही दैववित्त, किंवा दैववसु है—'यज्ञो वोऽन्नम्'। इसी यज्ञसम्पत्ति के आधार पर देवताओं का जीवन प्रतिष्ठित है। अतएव इन चारों को ही हम 'वसु' कह सकते हैं, जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

१—'पशवो वै वसु' (श० ब्रा० ७।१०।१७।)।

२—'स एषो (अग्निः)ऽत्र वसुः' (शत० ६।३।२।१।)।

३—'वायुर्वै वसुरन्तरिक्षसत्' (शत० ६।७।३।११।)।

४—'एष वै (सूर्य्यः) वसुरन्तरिक्षसत्' (ऐ० ब्रा० ४।२०।)।

५—'यज्ञो (सम्वत्सरः) वै वसुः' (शत० १।७।१।)।

५६६-वसुतत्त्वानुबन्धी 'वसुमती', एवं 'वसुधा' शब्दों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

भूमिपिण्ड—सहकृत त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-स्तोममूर्त्तिरूपा यज्ञात्मिका ब्राह्मी पृथिवी ही वसुदृष्टि से "वसुमती" कहलाएगी। भूमिपिण्ड ही त्रिवृत् पृथिवी में रहने वाले अष्टविध वसुअग्नि की प्रतिष्ठा है। वसु अग्नि, किंवा वस्वाग्निमण्डल को भूपिण्डने ही धारण कर रक्खा है, अतएव 'वसु दधाति' इस निर्वचन से वस्वग्निप्रतिष्ठा की अपेक्षा भूमिपिण्ड को "वसुधा" कहा जायगा।

५६७-एकतः आधारभूत 'आधार', एवं सर्वतः आधारभूत-'आवपन' शब्दों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

धारणात्मक सम्बन्ध आधार–आवपन भेदसे दो भागों में विभक्त माना गया है। एकतः आधार को आधार कहा जाता है, एवं सर्वाधार को आवपन कहा जता है। मेज के ऊपरि धरातल पर रक्खी हुई पुस्तक का मेज आधार है, मेज की दराज में रक्खी हुई पुस्तक का मेज आवपन है। दूसरी दृष्टि से देखिए। भूधरातल हमारा आधार है। परन्तु हम धरातल पर खड़े मात्र हैं, हमारे चारों ओर धरातल का वेष्टन नहीं हैं। अतएव यह एकतः आधार आधार कहा जायगा। आकाश भी हमारा आधार बना हुआ है—(कोह्येवान्यात्, कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्)। परन्तु हम आकाश के गर्भ में हैं, चारों ओर आकाश व्याप्त है। सर्वाधारात्मक इस आकाशाधार को "आवपन" कहा जायगा।

५६८-'दधाति' मूलक 'आधारतत्त्व', एवं 'धारयति' मूलक-आवपनतत्त्व, एवं तन्निबन्धन-'वसुन्धरा' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

आधार के लिए "दधाति" कहा जायगा, आवपन के लिए 'धारयति' कहा जायगा। जिसप्रकार भूमिपिण्ड "अस्मान् दधाति" है, वैसे ही उसने त्रिवृद् गर्भित वस्वग्नि को धारण कर रक्खा है। त्रिवृदग्नि का आधार (एकतः) भूमिपिण्ड ही तो है। इस आधाररूपा प्रतिष्ठा की अपेक्षा से भूमिपिण्ड को "**वसुधा**" कहा जायगा। उधर त्रिवृन्मण्डलरूपा त्रिवृत् पृथिवी के गर्भ में अष्टविध वस्वग्नि प्रतिष्ठित है। इस सर्वतः आधारूप त्रिवृत्पृथिवी को आवपन कहा जायगा, एवं "**वसु धारयति**" इस निर्वचन से इस त्रिवृता पृथिवी को "वसुन्धरा" कहा जायगा।

५६९-अर्णवसमुद्र में ऋतरूप से व्याप्ता आप्यापृथिवी के वितानभाव से अनुप्राणित-'उर्वी' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

किसी समय पृथिवी सर्वथा **काल्वालीकृता** थी। न उस समय पृथिवी का त्रिवृद्रूप पृथिवी विभाग था, न पञ्चदशरूप अन्तरिक्ष विभाग था, एवं न एकविंशरूप द्यु विभाग था। आपोमम अर्णव-समुद्र में यह अपांसाररूप से इतस्ततः द्रुत बनी हुई व्यवस्थित सत्यलोकप्रतिष्ठा से वञ्चित थी (देखिए शत० २।२।४।३)। हुआ क्या?, वराहवायुने जगत् की प्रतिष्ठा के लिए अपने व्याप्तिगर्भित संवरण-धर्म्म से उन ऋत पार्थिव रजों को एक स्थान पर संहित कर इसे इतना बड़ारूप देडाला, जोकि पृथिवीरूप प्रथनभाव से आज ब्राह्मी त्रिलोकीरूप में परिणत होरहा है। वराहानुबन्धी यही सम्वत्सर पृथिवी "**उर्वीमपश्यज्जगतः प्रतिष्ठाम्**" इत्यादि मन्त्र वर्णन के अनुसार वराहसम्बन्ध से "उर्वी" कहलाएगी। ('**यथेयं पृथिव्युर्वी, एवमुरुर्भूयासम्**'-शत० २।१।४।२८।)।

५७०-पार्थिवस्वरूप-संरक्षक 'महीधरों' का स्वरूपेतिवृत्त-समन्वय, एवं तन्निबन्धन-'गोत्र' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

पर्वतमाला भूपिण्डका एक प्रधान अङ्ग माना गया है। यह पर्वतमाला अन्तर्वेदि, बहिर्वेदि भेद से दो भागों में विभक्त है। भूकेन्द्र में अग्नि प्रज्वलित होरहा है--"**यथाग्निगर्भा पृथिवी**"। अग्नि स्वभावतः विशकलनधर्म्मा (तेजोलक्षण) है। आपोमय मध्यस्थ विष्णुदेवता आपोमय अश्मासोम से अश्माव्याहृति (पाषाण) का निर्म्माण कर इस अग्नि का द्वार यदि अवरुद्ध न करदेते, तो वह केन्द्रस्थ ब्रह्माग्नि भूपिण्ड को अपने इस सहजसिद्ध विशकलनधर्म्म से विदीर्ण ही करडालता। भूपृष्ठ से नीचे (गर्भ में) बड़े बड़े पाषाणस्तर फैले हुए हैं। इन अभेद्य चट्टानों से ही केन्द्राग्नि का वेग सीमित बना हुआ है। जहाँ पाषाणस्तर शिथिल हैं, वहाँ अग्नि उन का भेदन कर बाहिर निकलकर तदवच्छिन्न भूप्रदेश को, एवं तदवच्छिन्न पाषाणस्तर को खण्ड-खण्डरूपमें परिणत कर ही तो डालता है, जैसाकि विधिसौभाग्यवञ्चित ज्वालामुखीप्रदेशों की दुर्दशा से स्पष्ट है। इन भूगर्भस्थ पाषाणस्तरोंनें हीं भूपिण्ड को स्वस्वरूप से सुरक्षित रख रक्खा है, अतएव इन्हें "**महीधर**" कहा जाता है। वस्तुतः मही नाम महापृथिवी का है, पिण्ड पृथिवी तो "भू" किंवा भूमि ही कहलावेगी, और इसी दृष्टि से पर्वतों को भूधर कहना ही अधिक समीचीन होगा। तथापि मही की प्रतिष्ठा भू है, भू

की प्रतिष्ठा भूधर हैं, इस पारस्परिक सम्बन्ध से पर्वतमाला मही की भी प्रतिष्ठा बनी हुई है। और इसी दृष्टि से इन्हें "महीधर" भी कहा जासकता है। भूगर्भ में रहने वाली पर्वतमाला ही **"अन्तर्वेदिपाषाणस्तर"** कहलाएँगे। वे ही पाषाण शिखारूप से यत्र-तत्र भूपृष्ठ से बाहिर भी निकल आए हैं, यही बहिर्वेदि (प्रत्यक्षदृष्ट) पाषाणमय उत्तुङ्गशिख पर्वतमाला है। पृथिवी गोरूपधरा है, उसका अग्नि से त्राण इन्हीं पर्वतमालाओं से होरहा है, अतएव पर्वतमालाको गोत्र कहा जाता है। गोत्रावच्छिन्ना पृथिवी ही गोत्र अपेक्षा से **"गोत्रा"** कहलाएगी। उक्त **–धरा–धरित्री–धरणी–क्षोणी–ज्या–काश्यपी–क्षिति–सर्वंसहा–वसुमती–वसुधा–उर्वी–वसुन्धरा–गोत्रा** ये सभी शब्द भूमिपिण्ड और ब्राह्मी पृथिवी के समष्टि-व्यष्टि भावों के ही वाचक बन रहे हैं, जैसाकि तालिका से स्पष्ट है—

भूपिण्ड–एवं रसा पृथिवी के अवान्तर विवर्त्त—

१—त्रिवृत्पृथिवी अग्निमयी—भूः धरापृथिवी (ध्रुवा वा)—**"धरा"** (८)

२—पञ्चदशपृथिवी वायुमयी—भुवः धरित्रीपृ० (धर्त्री वा)—**"धरित्री"** (९)

३—एकविंशपृथि० आदि०—स्व० धरणीपृ० (धरुणावा)—**"धरणी"** (१०)

४—परिभ्रमणेन शब्दं कुर्वती नादमावोपेता संवत्सरपृथिवी (ब्रा० त्रि० रूपा)—**"क्षोणी"** (११)

५—अहोरात्रवती संत्सररूपिणी अवसानप्र० पृथिवी (ब्रा० त्रि० रूपा)—**"ज्या"** (१२)

६—सौरसंवत्सराग्निरसोपेता देवमाता अदितिः (ब्रा० त्रि० रूपा)—**"काश्यपी"** (१३)

७—भूपिण्डगर्भिता, निवासगतिसाधिका, त्रिवृत् पृथिवी (ब्रा० पृ० लो० रूपा)—**"क्षितिः"** (१४)

८—पिण्ड–त्रिवृत्–पञ्च० एकविं० समष्टिरूपा सर्वप्रजाधिष्ठात्री पृथिवी—**"सर्वंसहा"** (१५)

९—भूपिण्ड–अग्नि–वायु–सूर्य्य-वसु-युक्ता देवगोप्त्री पृथिवी—**"वसुमती"** (१६)

१०—वस्वग्नेराधारभूता पिण्डपृथवी—**"वसुधा"** (१७)

११—वस्वग्नेरावपनभूता त्रिवृता पृथिवी **"वसुंधरा"** (१८)

१२—वराहवायुनिबन्धना ब्रा० त्रि० रूपा—त्रैलोक्यपृथिवी—**"उर्वी"** (१९)

१३—अन्तर्वेदि–बहिर्वेदि--पर्वतमालाधिष्ठाता भूपिण्डः—**"गोत्रा"** (२०)

——*——

५७१–स्तोमलक्षण षड्विध अवान्तर पार्थिव विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अब पूर्व प्रदर्शित भूमि–रसा–विश्वम्भरा–स्थिरा इन चार विवर्त्तों में विश्वम्भरा–वैष्णवी आपोमयी पृथिवी, एवं स्थिरा ऐन्द्री वाङ्मयी पृथिवी, इन दोनों पृथिवियों के २१–२७–३३–२४–४४–४८, स्तोम-लक्षण ६ विवर्त्त शेष रहे। क्रमप्राप्त इनकी भी मीमांसा कर डालिए।

५७२–विश्वम्भरा वैष्णवी पृथिवी के त्रैलोक्य-विस्तार का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

विश्वम्भरा वैष्णवी पृथिवी के २१–२७–३३, ये तीन रूप बतलाए गए हैं। एकविंशस्तोमावच्छिन्न वेन (ज्योतिर्मयी आपः—"ज्योतिर्जरायूरजसो विमाने, इममपां सङ्गमे' (यजुः) प्रदेश ही इस पृथिवी का पृथिवीलोक है, एवं दिक्सोममय (आपोमय) त्रयस्त्रिंश-स्तोमावच्छिन्न प्रदेश ही इस पृथिवी का द्युलोक है।

५७३–मेध-मेद-और मेध्यभावों का तात्त्विक-स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तन्निबन्धन-'मेदिनी' शब्द का स्वरूप-समन्वय —

वामनविष्णु के त्रिविक्रम से ही २१ विंशपर्य्यन्त वैष्णवी पृथिवी का अवाधार पर प्रथन हुआ है। अतएव इस एक० स्तोमलक्षण प्रदेश को "पृथिवी" नाम से व्यवहृत किया जायगा। त्रिणव भास्वरसोम ही अग्निमयी इस पृथिवी का भी जीवन है, एवं पार्थिव प्रजा का भी। जीवनरक्षा सोमाहुति पर ही निर्भर है। पृथवी के अग्नि की रक्षा भास्वर-चान्द्रसोम से होरही है, हमारे पार्थिव आग्नेय शरीर की रक्षा उसी चान्द्र-सोम के प्रवर्ग्य भाग से आप्यायित होने वाले ओषधिसोम (अन्नसोम) से होरही है। इसी रक्षाभाव के कारण त्रिणवस्तोममयी अन्तरिक्षस्थानीया वैष्णवी पृथिवी के इस दूसरे रूप को "**अवनि**" ('**अव' रक्षणे**) कहा जाता है। "**मेदो वै मेधः**" (शत० ३।८।४।६।) के अनुसार मेद ही मेध है। संगमनभाव का ही नाम मेद–किंवा मेध है। इसी मेधवृत्ति से पानी मेध्य कहलाता है—"**मेध्या वा आपः**"। अधोऽवस्थित लोकों का संगमन इसी मेध्य त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न दिक्सोममय आपः से होरहा है। अतएव तदवच्छिन्ना (वैष्णवी पृथिवी के इस तीसरे) रूप को अवश्य ही "**मेधिनी**", किंवा "**मेदिनी**" कहा जासकता है। इसप्रकार वैष्णवी पृथिवी के २१-२७-३३ इन तीन विवर्तों के क्रमशः **पृथिवी-अवनि-मेदिनी** ये तीन वाचक बन जाते हैं।

५७४–'कु'-'क्षमा'-'मही'-शब्दत्रयी का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अब स्थिरा ऐन्द्री पृथिवी के २४–४४–४८, ये तीन विवर्त हमारे सामने आते हैं। चतुर्विंश-स्तोमावच्छिन्न प्रदेश को हमने व्यञ्जनवाङ्मय बतलाया है, यही शब्दवाक् है। इसी आधार पर चतुर्विंश-इस प्रदेश को "कु" (कुशब्दे) कहा जासकता है। इसका वर्णवाङ्मय चतुश्चत्वारिंश प्रदेश अपने त्रिष्टुप् भाव के कारण अधोऽवस्थित सम्पूर्ण वाक्प्रपञ्च का भारवाही बनता हुआ (**'अनुष्टुभमनु चचूर्य्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा'**) "क्षमा" (**'क्षमु'–सहने**) बन रहा है। एवं तीसरा वितानलक्षण स्वरवाङ्मय अष्टाचत्वारिंश प्रदेश अपने वैतानिक–महिमाभाव से—"**मही**" नाम धारण किए हुए है। इसप्रकार ऐन्द्री पृथिवी के २४–४४–४८ इन तीन विवर्तों के क्रमशः **कु–क्षमा–मही**, ये तीन शब्द वाचक बन रहे हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

*–विश्वम्भरा वैष्णवी, एवं स्थिरा ऐन्द्री पृथिवी के अवान्तर विवर्त—

---

* क्या ही उत्तम हो, यदि कोई विद्वान् अमरकोश की एक इसीप्रकार की वैज्ञानिक व्याख्या कर इन शब्दनिहित अपूर्व तत्त्वों की रक्षा करे। काम अवश्य महारम्भ है, किन्तु साथ ही आवश्यकतम भी।

१–विश्वम्भरा वैष्णवी–वेन, भास्वर-दिक्-सोममयी पृथिवी

१—एकविंशस्तो०—वेनमयी प्रथनशीला वैष्णवी पृथिवी—"पृथिवी" (२१)

२—त्रिणवस्तो०——भास्वरसोममयी-रक्षासाधनभू० वै अन्त० "अवनिः" (२२)

३—त्रयस्त्रिंश०—दिक्सोममयी—मेध्यभावोपेता द्युः—"मेदिनी" (२३)

—— * ——

२–स्थिरा ऐन्द्री–व्यञ्जन–वर्ण–स्वर–मयी पृथिवी—

१—चतुर्विंश० व्यञ्जनमयी शब्दायमा० ऐन्द्री पृथिवी०—"कुः" (२४)

२—चतुश्च० वर्णमयी—सहनशीलमैन्द्रं—अन्तरि०—"क्ष्मा" (२५)

३—अष्टा० स्वरमयी—महिमशालिनी—द्यौः——"मही" (२६)

—— * ——

५७५–प्रसङ्गोपात्त अन्य रहस्यपूर्ण श्रुतिसिद्ध पार्थिव-नामविवर्त्तोंका तात्त्विक-स्वरूप-संस्मरण—

प्रसङ्गोपात्त यह और जान लीजिए कि, वैदिक–सिद्धान्तानुसार पिण्डपृथिवी (भिन्न भिन्न भावों की अपेक्षा से) भूः–भूमिः–पूषा–गोत्रा–क्षोणि–क्षामा–निर्ऋति–ग्मा–ज्मा-इत्यादि नामों से भी प्रसिद्ध है। ब्राह्मी सम्वत्सरपृथिवी उख्यत्रिलोकी, सम्वत्सर गायत्री, पृथिवी, पूषा, पुष्करपर्ण, सुपर्ण, इला, उर्वी, अदिति, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं। वैष्णवी आपोमयी पृथिवी गौः, सागराम्बरा, सरस्वती, अवनि, इरा, त्रिष्टुप् इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। एवं ऐन्द्री वाङ्मयी पृथिवी "मही", "जगती", वषट्कार, देवपात्र, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। इनके नामों का मौलिक रहस्य बुद्धियोगी विद्वानों के बुद्धिवैभव पर छोड़ते हुए इस प्रकरण के मुख्य उपास्यरूप प्रक्रान्त पार्थिव विराट् प्रजापति-प्रकरण को उपरत किया जाता है।

उपासकविराट्—

५७६–उपास्यविराट् के अभिन्न सखा उपासकविराट् (मानव) के समतुलनात्मक-समान–धर्म्मों क स्वरूप-निदर्शन—

पूर्वोक्त उपास्य विराट् की उपासना करने वाला उपासक भी कोई विराट् ही होना चाहिए, और उसकी उपासना, एवं उपासना का आयोजन भी कोई विराट् ही होना चाहिए। उपास्य, उपासक, उपासना, उपासना के साधन, सभी विराट् हों, तभी आनन्द है। अच्छा, तो सबसे पहिले उपासक की विराट् विभूति का ही विचार कीजिए। उपास्य विराट् प्रजापति के गर्भ में प्रतिष्ठित अष्टविध देवयोनिसर्ग, पञ्चविध तिर्यग्योनिसर्ग, इन

तेरह ससंज्ञ जीवों में से मनुष्य नाम का तिर्य्यक्सर्ग ही उपासक है। इस मनुष्य में आत्मा, शरीर, ये दो संस्थाएँ हैं। शरीर पाञ्चभौतिक है, पञ्चपर्वा है, आत्मा त्रिपर्वा है, इसी तीन-पाँच की विभूति से युक्त ईश्वरप्रजापति का नेदिष्ठ बनता हुआ यह भी तीन पाँच करने लगता है।

५७७-उपासक-विराट् के आत्मानुबन्धी-अत्यन्त रहस्यपूर्ण अष्टादशविध-आत्ममहिमाभाव-

पञ्चपर्वा शरीर का स्वरूप प्रत्यक्ष है। आत्मा के तीन पर्व **परमात्मा-अन्तरात्मा-भूतात्मा** भेद से इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इनमें परमात्मा त्रिपर्वा है। अन्तरात्मा पञ्चपर्वा है, भूतात्मा द्विपर्वा है। सम्भूय १० पर्व होजाते हैं। यही आध्यात्मिक विराट् प्रजापति है। यदि अन्तरात्मा के अवान्तर पर्वों का विचार किया जाता है, तो यह संख्या १८ पर विश्राम करती है। निर्गुण-अव्यय-गर्भित पञ्चकल अव्ययात्मा, पञ्चकल अक्षरात्मा, पञ्चकल क्षरात्मा तीन की समष्टि परमात्मा है। यही आध्यात्मिक **षोडशीप्रजापति** है। शान्तात्मा, यज्ञात्मा, विज्ञानात्मा, महानात्मा, प्राणात्मा, इन पाँच पर्वों की समष्टि अन्तरात्मा है, यही आध्यात्मिक **यज्ञप्रजापति** है। इस आध्यात्मिक यज्ञप्रजापति का शान्तात्मा नामक प्रथम आत्मपर्व अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा, वेदात्मा, चिदात्मा, भेद से चार भागों में विभक्त है। तीसरा विज्ञानात्मा विज्ञानात्मा, देवात्मा, भेद से दो भागों में विभक्त है। चौथा महानात्मा आकृतिमहान्, प्रकृतिमहान्, अहंकृति महान् भेद से तीन भागों में विभक्त है। इसप्रकार पञ्चपर्वा अन्तरात्मा (यज्ञप्रजापति) इन अवान्तर पर्वों से ५ के के स्थान में दशपर्वा बन जाता है। तीसरे भूतात्मा के **बाह्यात्मा-अन्तरात्मा**, ये दो प्रधानपर्व हैं। बाह्यात्मा एकविध है। अन्तरात्मा के **हंसात्मा-कर्म्मात्मा**, ये दो विवर्त्त हैं। हंसात्मा एकविध है, कर्म्मात्मा के वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ ये तीन विवर्त्त हैं। सम्भूय भूतात्मा के पाँच पर्व होजाते हैं। यही आध्यात्मिक विराट् प्रजापति है।

५७८-त्र्यक्षरा-गायत्री से आत्मपर्वनिष्पत्ति, एवं पञ्चपर्वा-गायत्री से शरीरपर्वों की स्वरूप-निष्पत्ति—

परमात्मा, अन्तरात्मा, भूतात्मा, ये तीन आत्मपर्व, पञ्चपर्वा पाञ्चभौतिक शरीर, यह पहिली दृष्टि है। इस दृष्टि में अष्टाक्षर गायत्रीछन्द की प्रधानता है। यही आध्यात्मिक-गायत्री है। गायत्री ही पञ्चाक्षरों से शरीर बनी हुई है, एवं गायत्री ही त्र्यक्षरों से आत्मा बनी हुई है।

त्रिकलो विराट्
१–परमात्मा
२–अन्तरात्मा
३–भूतात्मा
–त्र्यक्षरा आत्मगायत्री (आत्मा)

(गायत्रीछन्दा विराट्)
–अष्टाक्षरा आध्यात्मिकी
"गायत्री"
"गायत्री वा इदं सर्वम्"

भूमिः प्रतिष्ठा
१–आकाशः
२–वायुः
३–तेजः
४–जलम्
५–मृत्
–पञ्चाक्षरा शरीरगायत्री (शरीरम्)

५७९–दशधा-त्रिधा-एकधा-विभक्त-विराट् प्रजापति का विभिन्न-दृष्टि से तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

त्रिपर्वा परमात्मा, पञ्चपर्वा अन्तरात्मा, द्विपर्वा भूतात्मा, यह दूसरी आत्मदृष्टि है। इस दृष्टि में केवल आत्मसम्बन्ध से दशाक्षर विराट् छन्द का भोग होरहा है। दशपर्वस्थानीय दशाक्षर के सम्बन्ध से ही इस पर्वात्मा को "विराट्" कहा जासकता है। तीनों विवर्त्त उस एक ही भूतात्मा के विकास हैं, इस दृष्टि से यह विराट् एककल है। त्रिपर्वदृष्टि से वही विराट् त्रिकल भी कहा जासकता है, एवं दशपर्वदृष्टि से उसे दशकल भी माना जासकता है—"**दशधा–एकधा–त्रिधा**"। एककल, त्रिकल, किंवा दशकल आत्मपर्वों की समष्टिरूप इस विराट् प्रजापति की प्रतिष्ठाभूमि वही पञ्चपर्वा पाञ्चभौतिक शरीर है। "**पद्भ्यांभूमिं प्रतिष्ठितः**" के अनुसार वह आत्मलक्षण विराट् भूमिरूप इस शरीरपिण्ड में हीं प्रतिष्ठित है। यही विराट्छन्दा विराट् प्रजापति की दूसरी दृष्टि है, जैसाकि परिलेख स्पष्ट है—

१–अव्ययात्मा
२–अक्षरात्मा
३–आत्मक्षरात्मा
} –त्रिकलः सहस्रभावेश्वरः- षोडशीप्रजापतिः } त्रिपर्वा परमात्मा (३)

१–शान्तात्मा (स्वा०)
२–यज्ञात्मा (पा०)
३–विज्ञानात्मा (सौ०)
४–महानात्मा (चा०)
५–प्राणात्मा (पा०)
} –पञ्चकलो बल्शेश्वरः– यज्ञप्रजापतिः } पञ्चपर्वा अन्तरात्मा(५)

१–बाह्यात्मा
२–अन्तरात्मा
} –द्विकलः पार्थिवो विराट् प्रजापतिः } द्विपर्वा भूतात्मा (२)

} दशकलो वैराजो विराट्-प्रजापतिः

* पाञ्चभौतिकं शरीरम् }– – – – – – – – – – – – – { भूमिं प्रतिष्ठितः

५८०–त्रयोविंशतिपर्वात्मक बिराट् प्रजापति का अन्य दृष्टि से स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

अन्तरात्मा के अन्तिम पर्वरूप प्राणात्मपर्व का भूतात्मा के अन्तरात्मावयवभूत कर्म्मात्मपर्व में अन्तर्भाव होजाता है । इस दृष्टि से पञ्चपर्वा के स्थान में अन्तरात्मा के चार ही पर्व शेष रहजाते हैं । इन चारों के अवान्तर पर्वों के संग्रह से यही आगे जाकर दशपर्वा बन जाता है । इसप्रकार त्रिपर्वा परमात्मा, दशपर्वा अन्तरात्मा, पञ्चपर्वा भूतात्मा की समष्टि अष्टादशपर्वात्मिका तीसरी आत्मदृष्टि होजाती है—**"अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म"** । पाँचकला शरीर की, सम्भूय-आत्मा–शरीर की २३ कलाएँ होजातीं हैं । यही कलासमष्टि ऊन गायत्री (२३ अक्षर की निचृद्गायत्री *) है । किंवा गायत्र विराट् है । यही निचृद्गायत्रीछन्दा विराट्प्रजापति की तीसरी दृष्टि है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है ।

---

* न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति, न द्वाभ्याम् ।

१-१-अव्ययात्मा
२-२-अक्षरात्मा
३-३-आत्मक्षरात्मा
} त्रिपर्वा **परमात्मा** (३)

४-१-अन्तर्यामी
५-२-सूत्रात्मा
६-३-वेदात्मा
७-४-चिदात्मा
} चतुष्पर्वा **शान्तात्मा** (१)

८-५-यज्ञात्मा] **यज्ञात्मा** (२)

९-६-विज्ञानात्मा
१०-७-देवात्मा
} द्विपर्वा **विज्ञानात्मा** (३)

११-८-आकृतिमहान्
१२-९-प्रकृतिमहान्
१३-१०-अहङ्कृतिमहान्
} त्रिपर्वा **महानात्मा** (४)

(१ से १३ तक) दशपर्वा — **अन्तरात्मा** (१०)

१४-१-बाह्यात्मा } बाह्यात्मा

१५-२-हंसात्मा } प्रेतात्मा

१६-३-प्राज्ञ-आत्मा
१७-४-तैजसात्मा
१८-५-वैश्वानरात्मा
} त्रिपर्वा कर्मात्मा

(१५ से १८ तक) अन्तरात्मा

(१४ से १८ तक) पञ्चपर्वा **भूतात्मा** (५)

अलातोपेक्षादश —— आत्मविभूतिः —— अष्टादशात्मानो वा

१९-१-आकाशः
२०-२-वायुः
२१-३-तेजः
२२-४-जलम्
२३-५-मृत्
} — पञ्चपर्वात्मकं पञ्चात्मकं **शरीरम्**

२३ कलोपेता निचृद्गायत्री—न्यूनगायत्री। "न्यूनाद्धै प्रजाः प्रजायन्ते" इत्यादिः। स एव निचृद्गायत्रीच्छन्दोविराट्—

प्रजापतिः—— २३ समष्टिरूपः—— "**त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत्**" (श्रीमद्भागवत)

५८१–विराडुपासना के द्वारा उपासक की उपास्यरूप में, एवं उपास्य की उपासक के रूप में परिणति का रहस्यात्मक दिग्दर्शन—

विराट् के उक्त आध्यमिक विस्तार–क्रम को थोड़ी देर के लिए छोड़कर त्र्यक्षरमूर्ति त्रिवर्वा आत्म-विवर्त्त की मीमांसा कीजिए। कहा जाचुका है कि आध्यात्मिक परमात्मा-अन्तरात्मा ही क्रमशः षोडशीप्र० यज्ञप्र० एवं विराट् प्रजापति है। यह आध्यात्मिक भूतात्मलक्षण विराट् प्रजापति ही उस आधिदैविक पार्थिव-लक्षण विराट् प्रजापति का उपासक बनता है। इस उपासना से उपासक उपास्य बन जाता है, एवं उपास्य को उपासक बनना पड़ता है।

५८२–क्षुद्रविराट्-मूर्त्ति मानवीय कर्म्मात्मा की मोहनिद्रात्मिका आवरणमूला सुषुप्ति, एवं तन्निबन्धन मृत्युभाव का समन्वय—

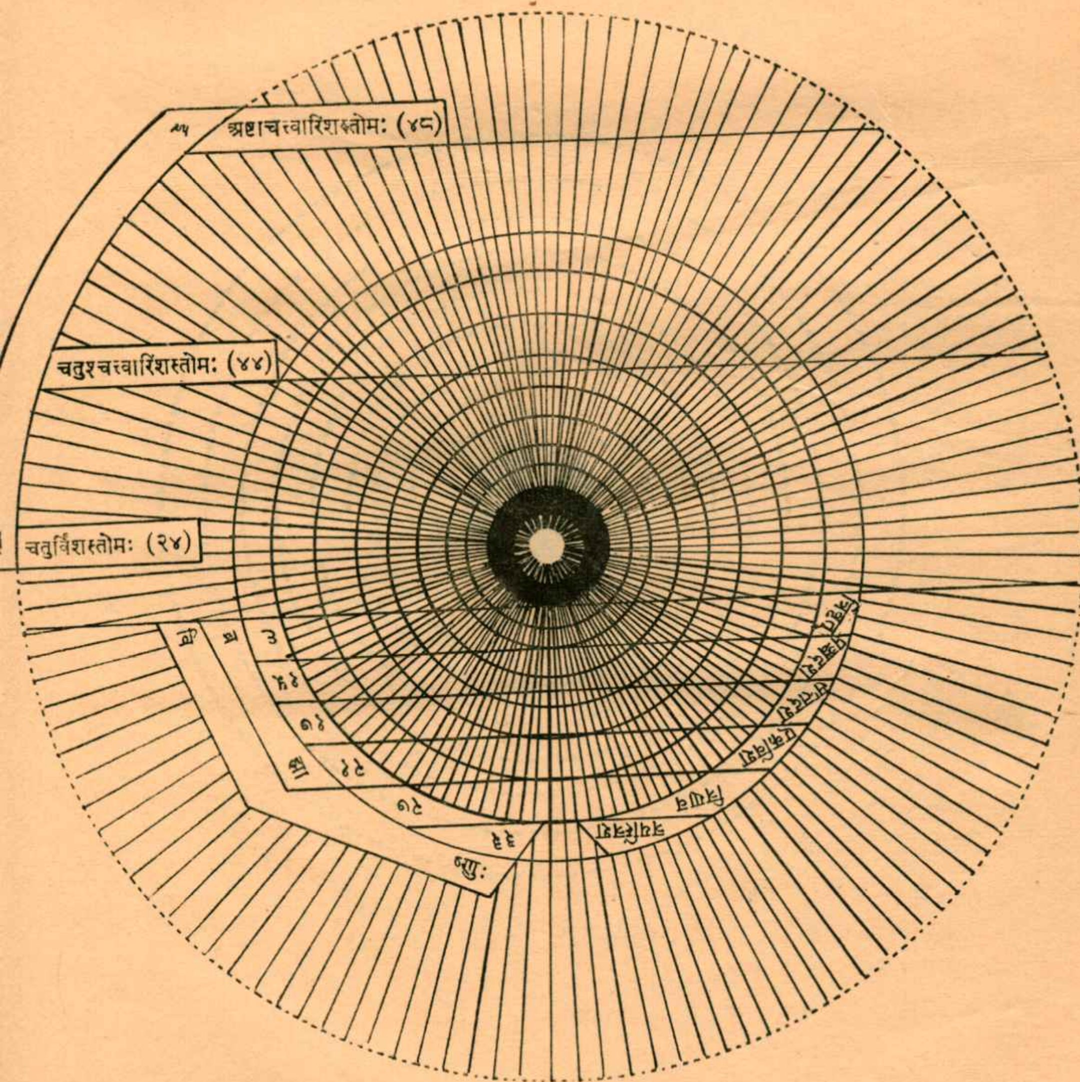
पूर्व में पार्थिव आधिदैविक जिस विराट् प्रजापति का जीवात्मा के साथ सख्यभाव बतलाया गया है, वह जीवात्मा उक्त तीन आध्यात्मिक आत्माओं में से पञ्चपर्वा भूतात्मा का त्रिपर्वा **कर्म्मात्मा** ही है, जिसके कि पूर्व के अष्टादशात्म–परिलेख में वैश्वानर–तैजस-प्राज्ञ ये तीन पर्व बतलाए हैं। आधिदैविक विराट् के सर्वज्ञ-पर्व का अंश प्राज्ञभाग है, हिरण्यगर्भ का अंश तैजस है, विराट् का अंश वैश्वानर है। भूपिण्ड का अंश पाञ्च-भौतिक शरीरपिण्ड है। आधिदैविक अंशीविराट् प्रजापति को यद्यपि यज्ञ-षोडशी की अपेक्षा हमनें अचेतन कहा है, परन्तु इस अंशात्मक आध्यात्मिक विराट् प्रजापति की अपेक्षा उसे चेतन कहेंगे, एवं इसे अचेतन कहेंगे। वही विराट् इस आपोमय शरीरपिण्ड में आकर मनोयुक्त इन्द्रियवर्ग–द्वारा अचेतन भौतिक विषय संस्कारों से आवृत होकर अपने उस व्यापक स्वरूप को खो बैठता है, यही उस जीव का यह मर्त्यभाव है। वह यहाँ आकर जीवरूप में परिणत होता हुआ, अपने स्वाभाविक विकास से वञ्चित होता हुआ, मर्त्य संस्कारों से परिच्छिन्न, एवं आवृत बनता हुआ मृत्युभाव का, किंवा जन्म मृत्यु, सुख–दुखः, पुण्य–पापादि द्वन्द्वभावों का अनुगामी बन जाता है। यही इस की सुषुप्ति है, निद्रावस्था है।

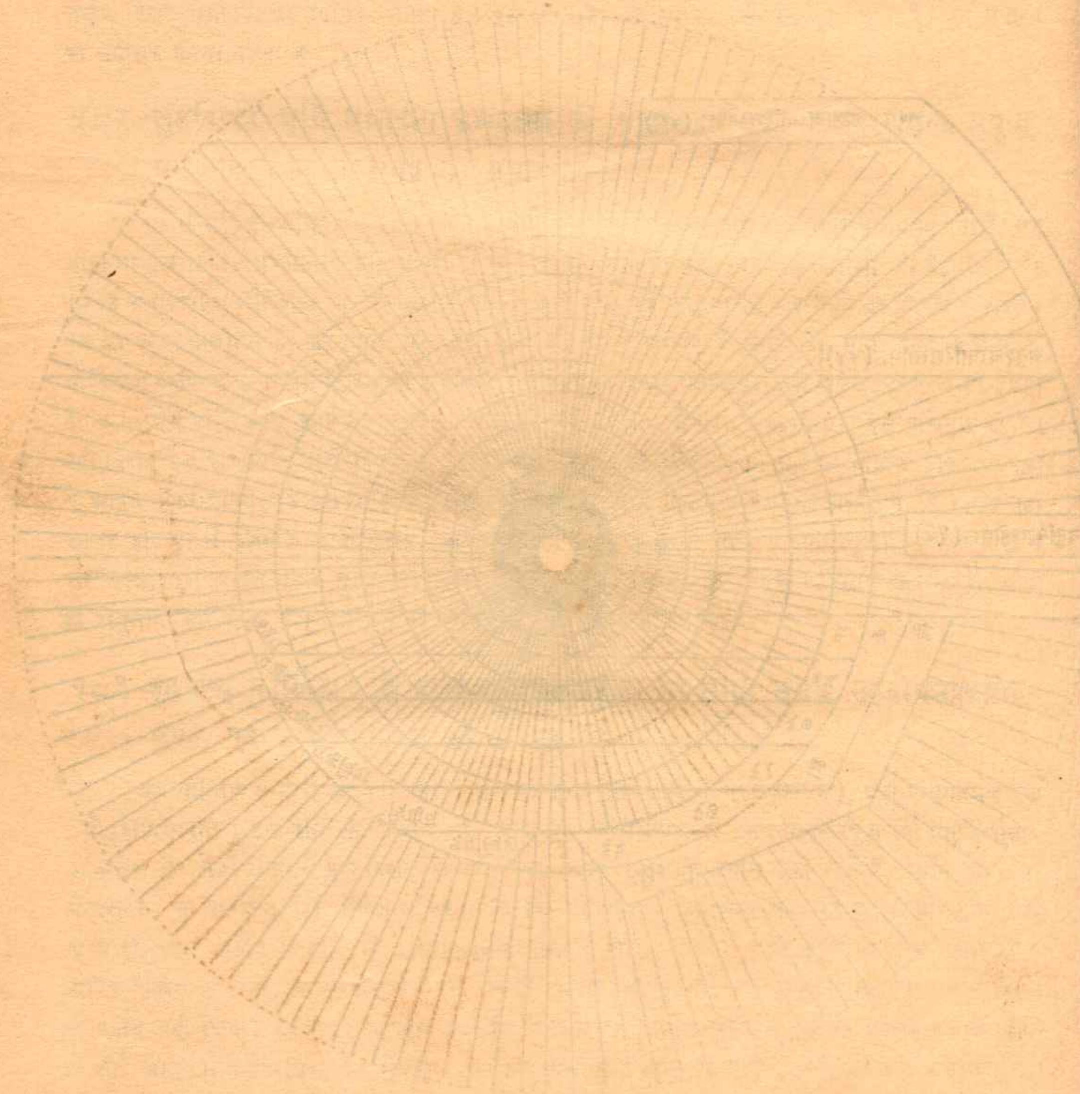
५८३–हृदयस्थ महाविराट् के द्वारा कर्म्मात्मविराट् को समये समये उद्बोधनप्रदानानुग्रह, एवं कर्म्मात्मविराट् की तत्प्रत्युपेक्षा—

आध्यात्मिक सभी प्राणदेवता हृत्स्थ क्षेत्रज्ञलक्षण अन्तरात्मा (यज्ञप्रजापति), एवं प्रत्यगात्मलक्षण (षोडशीप्रजापति) इन दोनों के सहयोग से आपोमय शरीरपिण्ड में विषयसंस्कारपुञ्ज में प्रसुप्त भूता-त्मालक्षण वै० तै० प्राज्ञमूर्त्ति इस विराट् को जगाने का यद्यपि यथाशक्ति प्रयास करते रहते हैं, समय समय पर अन्तरात्मा की यह प्रतिध्वनि निकला करती है कि–"देखो तुम अनुचित कर रहे हो, सोचो तुम किधर जारहे हो, जिन भौतिक विषयों में आसक्तिपूर्वक तुम (विराट्–जीव) प्रवृत होरहे हो, वे तुह्मारे स्वा-भाविक विकास के अवरोधक हैं, इन से बचने में ही तुह्मारा अभ्युदय है"। परन्तु विषयलिप्त प्रसुप्त विराट् को प्रबोध नहीं होता। वह विषयात्यन्तिक आकर्षण के प्रभाव से समय समय पर मिलने वाली इस चेतावनी का कोई आदर न कर अधिकाधिक मृत्युपाश का ही अनुगमन करता रहता है। दूसरे शब्दों में इसे चेत नहीं होता, नहीं होता।

अभिप्लवपृष्ठ्य-समष्टिः–

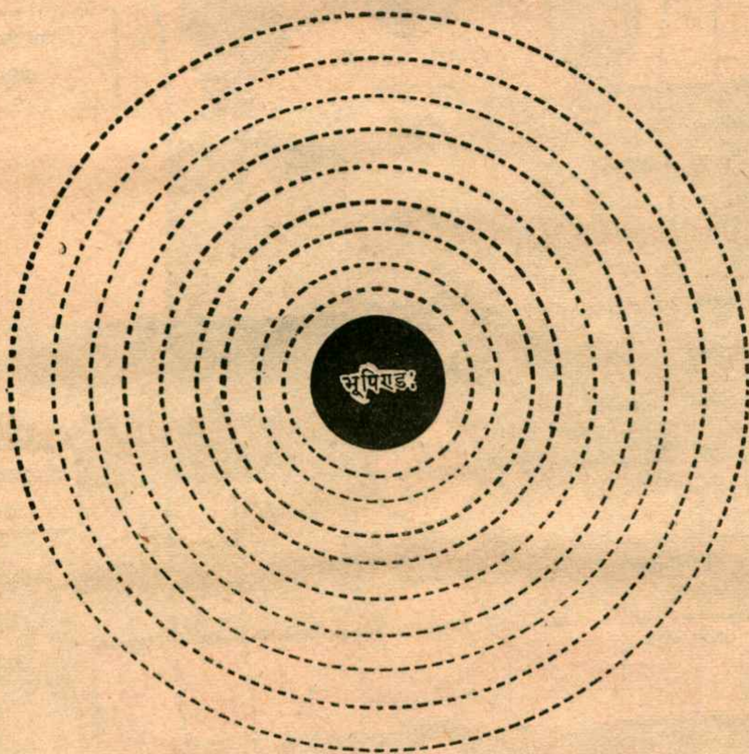
तदिदं सर्वम्

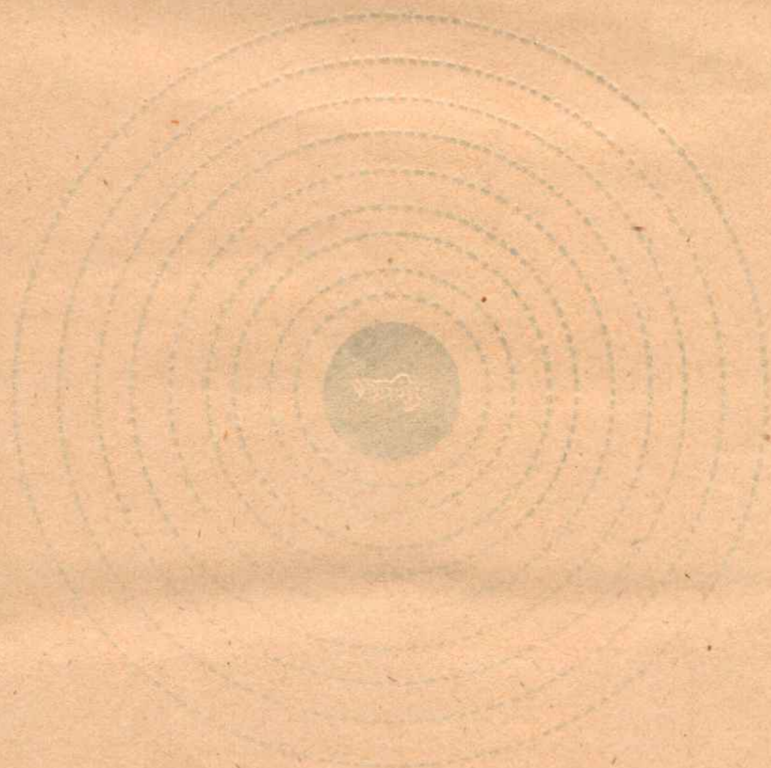


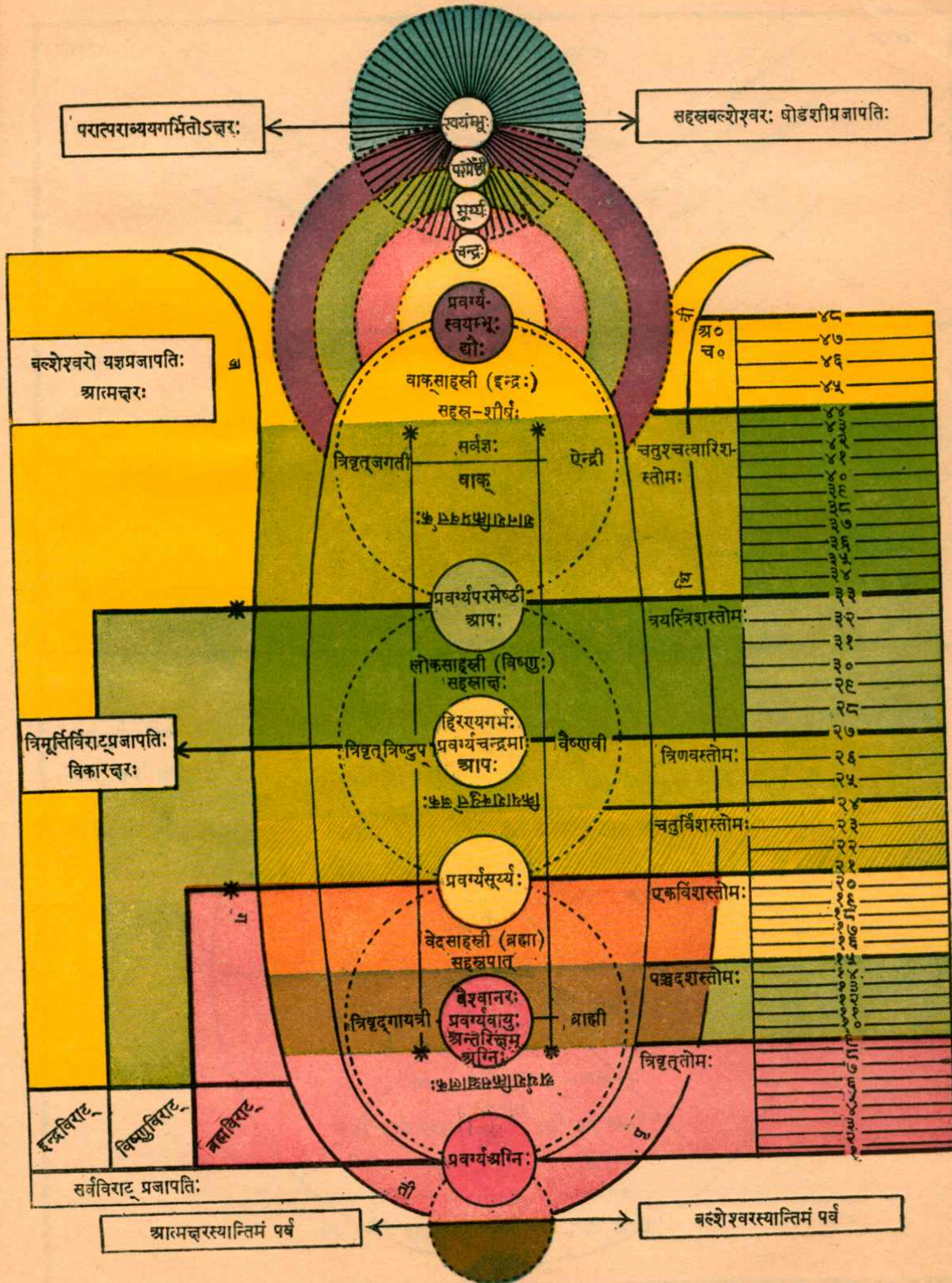


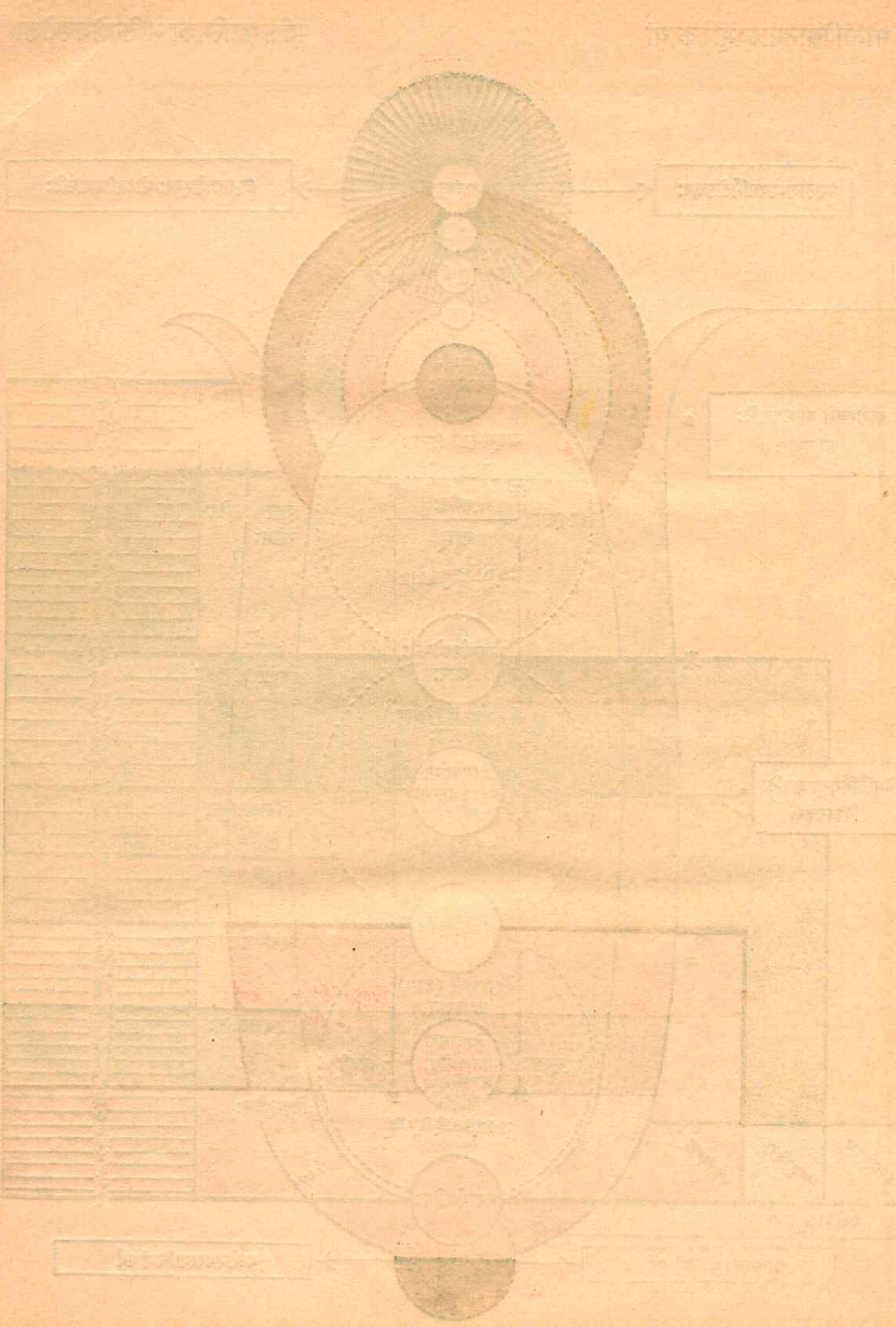
पृष्ठ्यस्तोमाः--

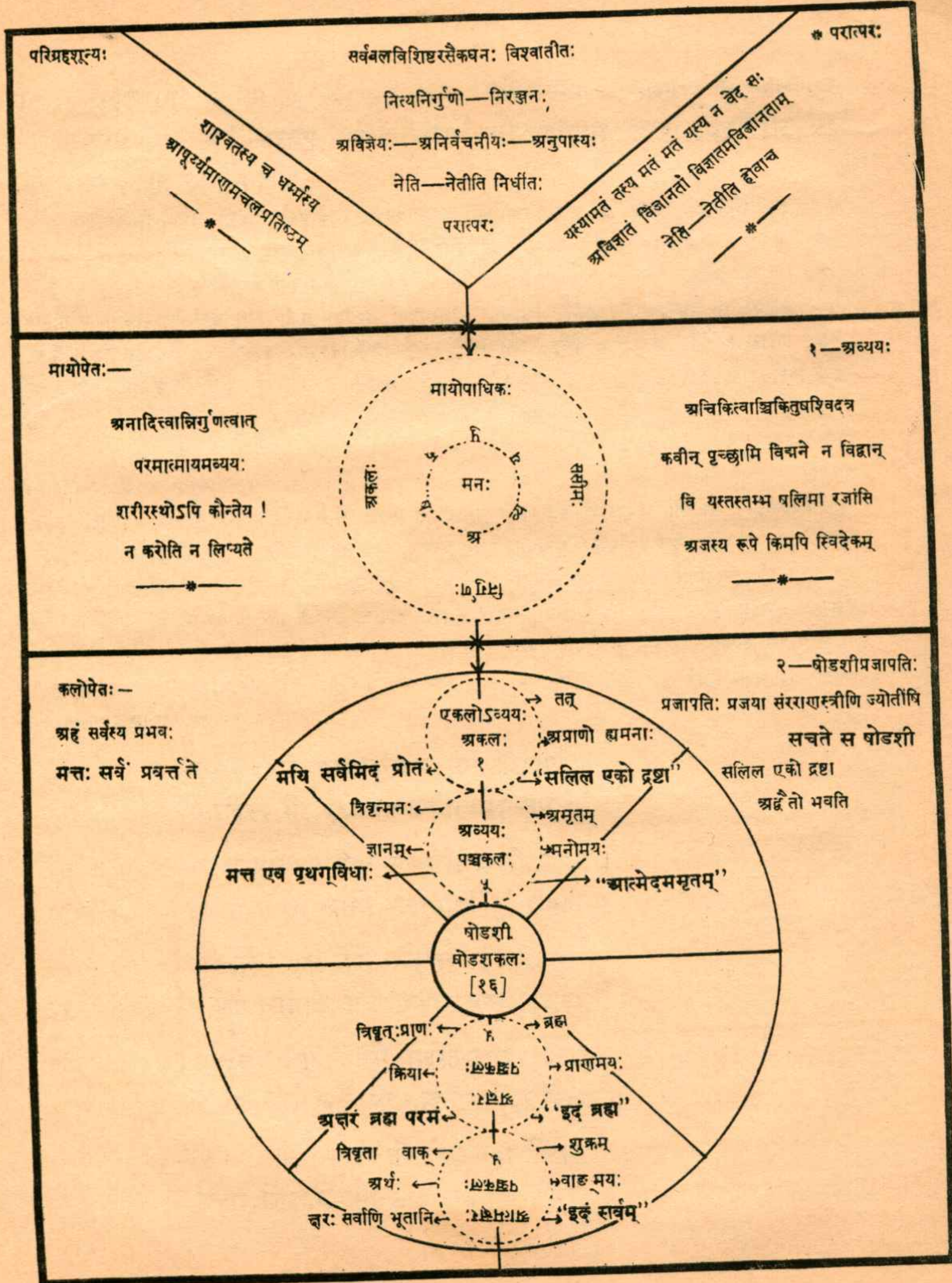
भूत प्रतिष्ठारूपाः
(ब्राह्माः-वैष्णवाश्च)






परात्पराव्ययगर्भितोऽक्षरः
स्वयंभूः
सहस्रवल्शेश्वरः षोडशीप्रजापतिः
परमेष्ठी
सूर्यः
चन्द्रः
बल्शेश्वरो यज्ञप्रजापतिः
आत्मक्षरः
प्रवर्ग्य-स्वयम्भूः द्यौः
वाक्साहस्री (इन्द्रः)
सहस्र-शीर्षः
सर्वज्ञः
त्रिवृत्जगती
ऐन्द्री
वाक्
चतुश्चत्वारिंश-स्तोमः
प्रवर्ग्यपरमेष्ठी आपः
त्रयस्त्रिंशस्तोमः
लोकसाहस्री (विष्णुः)
सहस्राक्षः
त्रिमूर्त्तिर्विराट्प्रजापतिः
विकारक्षरः
हिरण्यगर्भः प्रवर्ग्यचन्द्रमा आपः
त्रिवृत्त्रिष्टुप्
वैष्णवी
त्रिणवस्तोमः
चतुर्विंशस्तोमः
प्रवर्ग्यसूर्य्यः
एकविंशस्तोमः
वेदसाहस्री (ब्रह्मा)
सहस्रपात्
पञ्चदशस्तोमः
वैश्वानरः प्रवर्ग्यवायुः अन्तरिक्षम् अग्निः
त्रिवृद्गायत्री
ब्राह्मी
त्रिवृत्स्तोमः
इन्द्रविराट्
विष्णुविराट्
ब्रह्मविराट्
प्रवर्ग्यअग्निः
सर्वविराट् प्रजापतिः
आत्मक्षरस्यान्तिमं पर्व
बल्शेश्वरस्यान्तिमं पर्व




परिग्रहशून्य:
सर्वबलविशिष्टरसैकघन: विश्वातीत:
नित्यनिर्गुणो—निरञ्जन:
अविज्ञेय:—अनिर्वचनीय:—अनुपास्य:
नेति—नेतीति निर्धीत:
परात्पर:
* परात्पर:
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य
आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठम्
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद स:
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्
नेति—नेतीति होवाच
मायोपेत:—
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्
परमात्मायमव्यय:
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय !
न करोति न लिप्यते
मायोपाधिक:
मन:
१—अव्यय:
अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र
कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्
वि यस्तस्तम्भ षलिमा रजांसि
अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्
कलोपेत: —
अहं सर्वस्य प्रभव:
मत्त: सर्वं प्रवर्त्तते
२—षोडशीप्रजापति:
प्रजापति: प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि
सचते स षोडशी
सलिल एको द्रष्टा
अद्वैतो भवति
एकलोऽव्यय:
अकल:
१
तत्
अप्राणो ह्यमना:
मयि सर्वमिदं प्रोतं
"सलिल एको द्रष्टा"
त्रिवृन्मन:
अमृतम्
अव्यय:
पञ्चकल:
५
ज्ञानम्
मनोमय:
मत्त एव पृथग्विधा:
"आत्मेदममृतम्"
षोडशी
षोडशकल:
[१६]
त्रिवृत्:प्राण:
ब्रह्म
क्रिया
प्राणमय:
अक्षरं ब्रह्म परमं
"इदं ब्रह्म"
त्रिवृता वाक्
शुक्रम्
अर्थ:
वाङ्मय:
क्षर: सर्वाणि भूतानि
"इदं सर्वम्"

५८४–'क्षेत्रज्ञयोग' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, तन्निबन्धन गीताशास्त्र का रहस्यपूर्ण 'बुद्धियोग', एवं तद्रूप 'क्षेत्रज्ञविराट्' की उपासना से ही क्षुद्रविराट् का सम्भावित उद्बोधन—

यह अपनी निद्रा छोड़ता कब है, अथवा उस मोहनिद्रा से इसका पीछा कब, कैसे छूट सकता है ?, इसका उत्तर वही गीताप्रतिपादित बुद्धियोग है, जिसे कि पुराणने "क्षेत्रज्ञोपासना" कहा है । कहा गया है कि, भूतात्मलक्षण विराट्प्रजापति का पिता पञ्चपर्वा अन्तरात्मलक्षण हृदयस्थ यज्ञप्रजापति है । यज्ञ-प्रजापति के शान्त-यज्ञ--विज्ञानादि पाँचों पर्वों में विज्ञानात्मा मध्यस्थ बनता हुआ पाँचों का संग्राहक बना हुआ है । जैसे पञ्चपर्वा आधिदैविक यज्ञप्रजापतिमण्डल में मध्यस्थ सूर्य्य अपने केन्द्रभाव के कारण सर्व--संग्राहक बना हुआ है, एवमेव सूर्यांशरूप मध्यस्थ विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही यहाँ भी सर्वेसर्वा बनरहा है । अतएव इसके ग्रहण से अन्तरात्मा का ग्रहण चरितार्थ होजाता है । यही विज्ञानात्मा (अक्षरमूर्ति) "क्षेत्रज्ञ" नाम से प्रसिद्ध है । विराट् जबतक मन के चङ्गुल में फँसकर इन्द्रियों का दास बना रहता है, तबतक इस का उत्थान (निद्रा परित्याग) सम्भव नहीं । जब यह अपने मन को अन्तर्मुख बनाकर उसका क्षेत्रज्ञ (बुद्धि) लक्षण अन्तरात्मा के साथ योग करता है, तभी क्षेत्रज्ञयुक्त परमात्मज्योति का (अव्ययज्योति का) इस पर अनुग्रह होता है । इसी अनुग्रह से इस का उत्थान होता है । निष्कर्ष यही हुआ कि, महाविराट् का अंशरूप आपोमय शरीरपिण्ड में प्रसुप्त जीव नामक यह क्षुद्रविराट् अपनी प्रसुप्ति को दूर करने के लिए यदि क्षेत्रज्ञ का आश्रय लेलेता है, तो इसका उत्थान अवश्यभावी है । **"यदा पश्यः पश्यते रुक्म वर्णम्"** । रुक्मवर्ण (सूर्यांशरूप) क्षेत्रज्ञयोग [बुद्धियोग] ही इसकी जागृति का अनन्य साधन है । यही बुद्धियोगलक्षणा वास्तविकी विराडुपासना है । उपासक विराट् के प्रसुप्त–प्रबुद्ध इन्हीं दोनों भावों का स्पष्टी-करण करता हुआ पुराणशास्त्र कहता है–

१–हिरण्मयादण्डकोशादुत्थाय सलिलेशयात् ।
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम् ॥

२–एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवास्योत्थापनेऽशकन् ।
पुनराविविशुः खानि तमुत्थापयितुं क्रमात् ॥

३–वह्निर्वाचा मुखं भेजे नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
घ्राणेन नासिके वायुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥

४–अक्षिणी चक्षुषादित्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥

५–त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
रेतसा शिश्नमापस्तु नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥

६-गुदं मृत्युरपानेन नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥
७-विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
नाडीर्नद्यो लोहितेन नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥
८-क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥
९-बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥
१०-चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा ।
विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत ॥
११-यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रियमनोधियः ।
प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुमोजसा ॥
१२-तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया ।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत् ॥

—श्रीमद्भागवते ३ स्कन्धे, २६ अध्याये

——※——

५८५-क्षेत्रज्ञयोगात्मिका विराडुपासना, एवं विकारक्षरोपासना का समतुलनात्मक-समन्वय—

क्षेत्रज्ञयोग ही विराडुपासना है। क्षेत्रज्ञयोगरूपा यह उपासना भी विराट् है, उपासना के साधनभूत मनः संयमादिलक्षण इन्द्रियधारणात्मक योग भी विराट है, उपास्य पार्थिव प्रजापति भी विराट् हैं, एवं उपासक शारीरिक आत्मा की विराट् है। यह उपासक, यह उपास्य, यह उपासना, एवं यह उपासना-साधन, इन चारों की समाष्टि का प्रकृत प्रकरण की विराडुपासना से कोई सम्बन्ध नहीं है। योगात्मिका उपासना का तो कर्म्मयोग-लक्षण यज्ञप्रजापति की उपासनाओं में हीं अन्तर्भाव मानना पड़ेगा, जैसाकि पूर्व के **पुराणयुगानुगत-उपासनामार्ग**-प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है। अब प्रश्न हमारे सामने यह बच जाता है कि, "प्रकृत प्रकरण की विराडुपासना का क्या स्वरूप है, एवं इस उपासना का क्या फल है?" । प्रश्न का समाधान प्रकरण के आरम्भ में हीं किया जाचुका है। वहाँ कहा गया कि—"जो स्वरूप आत्मक्षरात्मक सविकार यज्ञप्रजापति की उपासना है, प्रायः वही स्वरूप इस विकारक्षरोपासना, किंवा विराडुपासना का है। केवल कामभाव में अन्तर है" ।

५८६-'अधिकार' भाव-निबन्धना उपासना के तारतम्य का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

पाठकों को स्मरण होगा कि विराडुपासना को हमने आधिकारिक अचेतन जीवोपासना कहा है, एवं यज्ञप्रजापत्युपासना को आधिकारिक चेतनजीवोपासना (अवतारोपासना) कहा है । साथ ही पूर्व प्रकरण का उपसंहार करते हुए यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि द्विजबन्धु–लक्षण द्विजातिवर्ग, एवं स्त्री-शूद्रवर्ग के अभ्युदय के लिए ही अवतारोपासना का विधान हुआ है । आगमशास्त्रोक्त उपासनामार्ग का अधिकार द्विजाति को है । एवं स्त्री-शूद्रवर्ग को उभयविध अवतारोपासना का अधिकार है ।

५८७–यज्ञोपासनात्मिका विराडुपासना का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं तत्प्रतिकृतिमूलक यज्ञवितानरहस्य—

यदि सकामभाव है, तो वही उपासना विराडुपासना बन जाती है । सकामभाव में अचेतन विराट् की तत्तत्-पर्वविभूतियाँ प्राप्त होतीं हैं । इस सकाममूला विराडुपासना को हम **यज्ञोपासना, तिद्ध्युपासना, देवोपासना** भेद से तीन भागां में विभक्त मान सकते हैं । तीनों क्रमश- पारस्परिक अपेक्षा से उत्तम–मध्यम–प्रथम मार्ग माने जायँगे । पहिले यज्ञोपासना को ही लीजिए । इसका अधिकारी–द्विजातिवर्ग रहेगा । जो ब्राह्मण, जो क्षत्रिय, किंवा जो वैश्य यथावत् शास्त्राध्ययन कर ब्राह्मणपद्धति का आश्रय लेना हुआ व्यक्ति-पुष्टि के लिए पार्थिव वैभव, एवं स्वर्ग–सुख की कामना के लिए (कामात्मनः स्वर्गपराः) काम्ययज्ञ पर्व में प्रवृत्त होगा, उसकी यह कामनामयी यज्ञोपासना उत्तमश्रेणि की विराडुपासना कहलाएगी । उत्तम इसे इसलिए कहा जायगा कि, इसनें विराट् का पूर्णरूप से समावेश रहेगा । इस वैधयज्ञमण्डल में गार्हपत्य–दक्षिणाग्नि–आहवनीय, ये तीन अग्नि रहेंगे । ये तीनों अग्नि विराट् के वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ–इन तीन पर्वों की ही प्रतिकृति हैं ।

५८८–गार्हपत्य-धिष्ण्य-आहवनीय-रूप-त्रेताग्नि-वितान-स्वरूप-दिग्दर्शन—

यज्ञरहस्यवेत्ताओं को यह विदित है कि, वैधयज्ञवेदि के **हविर्वेदि, सोमवेदि** भेद से दो विभाग माने गए हैं । हविर्वेदि का मण्डप स्वतन्त्र होता है, एवं सोमवेदि का मण्डप स्वतन्त्र होता है । हविर्वेदि के पश्चिम भाग में वर्त्तुल गार्हपत्यकुण्ड बनाया जाता है, पूर्वभाग में चतुष्कोण आहवनीय, एवं दक्षिणभाग में अर्द्धचन्द्राकार दक्षिणकुण्ड बनाया जाता है । इसे याज्ञिकपरिभाषा में **"नूतन गार्हपत्य"** कहा जाता है, एवं हविर्वेदि का पश्चिमभागस्थ गार्हपत्य **"पुराण गार्हपत्य"** कहा जाता है ।

५८९–हविर्वेदि एवं सोमवेदि, से समन्विता यज्ञवेदि, तथा तत्स्वरूपवितान-समन्वय—

हविर्वेदि के आहनीयरूप, किन्तु सोमवेदि के नूतनगार्हपत्यरूप अग्निकुण्ड के आगे (पूर्व भाग में) **सदोमण्डप** रहता है । इस सदोमण्डप के मध्य में ६ अग्नि कुण्ड, एवं उत्तरदक्षिण में मार्जालीय, एवं आग्नीध्रीय ये दो अग्निकुण्ड, सम्भूय आठ (८) अग्निकुण्ड रहते हैं । इन आठों की समष्टि ही **"धिष्ण्य-अग्नि"** है । इसके आगे हविर्द्धानमण्डप है । इसमें शकटों पर सोमवल्ली रक्खी रहती है । इसके आगे उत्तरा-वेदि है । उत्तरावेदि के मध्य में चतुष्कोण आहवनीय है । यहीं सोमाहुति होती है । उत्तरावेदि के अन्त में यूप है । और हविर्वेदिगर्भित सोमवेदि का यही संक्षिप्त स्वरूप है ।

५६०–स्वर्गप्राप्त्युपायनिबन्धना यज्ञविराडुपासना का कामनामय फलसमन्वय—

हविर्वेदि भूपिण्ड की प्रकृतिकृति है, सोमवेदि २१ स्तोमावच्छिन्ना विराट् ब्राह्मी पृथिवी की प्रतिकृति है। सोमवेदि का गार्हपत्य (सत्याग्नियुक्त) मण्डल त्रिवृत् स्थानीय पृथिवीलोक है, यही वैश्वानर–मण्डल है। एवं आहवनीयमण्डल एकविंश स्थानीय द्युलोक है, यही सर्वज्ञ मण्डल है। इसप्रकार यह वैध सोमयज्ञवितान उस विराट् प्रजापति की प्रतिकृति बना हुआ है। इसका यजन [सोमयज्ञ] ही विराट् का यजन है। यही यजन यज्ञात्मिका विराडुपासना है। स्वर्ग–कामना से की गई यह विराडुपासना स्वर्ग–प्राप्तिरूप अशाश्वत पुण्यफल की प्राप्ति का ही कारण बनती है।

५६१–आदित्यात्मक स्वर्गमण्डल, तन्निबन्धन कामभाव, तत्पूरक-यज्ञकाण्ड, एवं तदनुप्राणिता विराडुपासना, तथा विराडुपासना का प्रथम सोपान—

आदित्यमण्डल को ही स्वर्गलोक कहा जाता है, एवं यह आदित्य–मण्डल **"एकविंशो वा इत आदित्यः"** के अनुसार भूपिण्ड से २१ वें अहर्गण पर है। इसे ही याज्ञिक परिभाषा में नाचिकेत स्वर्ग, कहा जाता है। कठ ने इसी को **"स्वर्ग्याग्नि"** कहा है। यज्ञ के द्वारा मानुष भूतात्मलक्षण विराट् में उस दिव्य विराट् प्राण का आधान किया जाता है। इस आधान संस्कार से संस्कृत यह विराट् आयुर्भोगानतर आकर्षण वश वहाँ (स्वर्ग में) प्रतिष्ठित होजाता है। जबतक इस जीव विराट् में उस यज्ञविराट् का पुण्यरूप संस्कार प्रतिष्ठित रहता है, तबतक यह स्वर्ग सुख भोगता है। संस्कारविनष्टि पर पुनः इसे इसी मर्त्य भौम–धरातल पर जन्म लेना पड़ता है–**"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति"**। यही विराडुपासना का कामनामय यज्ञरूप पहिला प्रकार है।

५६२–आगमिक-ज्ञानानुगता, सिद्धिकामान्विता पर्वविराडुपासना का स्वरूप-समन्वय, एवं विराडुपासना का द्वितीय-सोपान—

जो द्विजाति वेदाध्ययनविरह से यज्ञ करने में असमर्थ हैं, केवल जिन्हें साधारण आगमिक-ज्ञान है, वे द्विजबन्धु कहलाते हैं। आगमोक्त देवोपासना का कामभाव से अनुष्ठान कर इसके बल कर तत्तत् सिद्धियाँ प्राप्त करना हीं इनका परम पुरुषार्थ रह जाता है। यज्ञोपासना में विराट् का सर्वात्मना ग्रहण था, परन्तु इस आगमिक–उपासना में सूर्य–गणपति–शिव–आदि विराट् के एक–एक अवयव की उपासना है। अतएव इसे हम उस की उपेक्षा नीची श्रेणि में मान सकते हैं। साथ ही यज्ञात्मिका विराडुपासना से विराट् मस्तकरूप २१ विंश स्थान मिलता है, परन्तु सिद्धिरूपा इस विराट् पर्वोपासना से विराट् गर्भ में प्रतिष्ठित तत्तद्देवतालोक ही प्राप्त होते हैं। जबतक सिद्धिसंस्कार है, तबतक तत्तल्लोक–स्थिति है। संस्काराभाव में पुनः वही जन्म–मृत्यु–प्रवाह।

५६३–अवैधोपासनात्मिका विराडुपासना से अनुप्राणिता अवतारोपासना, तदधिकारी–वर्ग, एवं विराडुपासना का तृतीय सोपान—

तीसरा स्त्री–शूद्रवर्ग है। यज्ञात्मिका उपासना का इन्हें अधिकार नहीं, आगमात्मिका उपासना की जटिल पद्धति का यथावत् अनुष्ठान करने की योग्यता नहीं। फलतः ये अविधिपूर्वक सूर्य को अर्घ्यप्रदान

करते हैं। अवतारपुरुषों की लीला का सकामभाव से अनुगमन करना, इत्यादि मार्ग ही इनके लिए शेष बच जाते हैं। एवं इस अवैध विराट् पर्वोपासना से भी आंशिक रूप से पर्वसंस्कार इन में प्रतिष्ठित होजाता है। क्योंकि इस में विधि का अभाव है, अतएव हमने इसे अन्तिम स्थान दिया है। अवश्य ही कामभाव के कारण तीनों हीं मार्ग अवर हैं, परन्तु पुण्यजनक होने से इन्हें भी शास्त्र में संग्रहीत कर लिया गया है।

५६४–विराडुपासना-सोपानत्रयी के आपेक्षिक तारतम्य का स्वरूप-समन्वय—

उक्त तीनों हीं विराडुपासना मार्ग (समष्टिरूप नैगमिक विराडुपासनामार्ग, पर्वरूप आगमिक वैध विराट्पर्वोपासनामार्ग, एवं पर्वरूप अवैध विराडुपासनामार्ग) तीनों हीं यदि निष्कामभावमूलक हैं, तब तो इस उपासनत्रयी को यज्ञप्रजापत्युपासना कहा जायगा, यदि काममूलक हैं, तो इसे विराट्प्रजापत्युपासना कहा जायगा। दोनों उपासनाओं में यही अन्तर है। साथ ही यह भी विवेक कर लेना चाहिए कि–वहाँ की स्त्री–शूद्र वर्ग–सम्बन्धिनी उपासना का विशेष झुकाव आधिकारिक चेतनजीवों (नरावतारों) की ओर है, एवं यहाँ की उपासना का विशेष झुकाव आधिकारिक अचेतनजीवों की ओर है। चन्द्रदर्शन करके भोजन करना, सूर्य्यदर्शन करना, कार्त्तिक स्नान करना, इत्यादि अचेतनजीवोपासना में हीं अन्तर्भूत माने गए हैं। क्योंकि दोनों में पौराणिक भाव का समावेश है, अतएव यज्ञप्रजापत्युपासनावत् इस विराट् प्रजापत्युपासना को भी प्रकारान्तर से पौराणिक [नैगमिक--आगमिक--पौराणिक] उपासना मार्ग ही कह सकते हैं, परन्तु इसी विराट् के आधार पर आगे जाकर तत्त्वद्रष्टा दार्शनिकों की तत्त्वभक्ति का विकास हुआ है, अतएव हमने इसे **"दर्शनयुगकालीन उपासना"** मार्ग कहना अधिक समीचन समझा है, जैसाकि प्रकरणारम्भ में हीं स्पष्ट कर दिया है।

५६५–दार्शनिक-विद्वानों की स्वतन्त्रा दर्शनतत्त्वभक्ति, तन्निबन्धना तत्त्वोपासना, एवं तद्द्वारा ही निःश्रेयसाधिगम-संस्थापन-प्रयास—

दार्शनिकों का तत्त्ववाद, किंवा तत्त्वभक्ति एक स्वतन्त्र ही मार्ग है। यद्यपि ये लोकाशास्त्रसिद्ध यज्ञादि कर्म्मों का भी अनुष्ठान करते थे, परन्तु इन की प्रधान उपासना तत्त्वान्वेषण ही थी। और फिर यह भी एक माना हुआ सिद्धान्त है कि, जो व्यक्ति तत्त्वान्वेषण की ओर अपना मस्तिष्क झुका देता है, वह शास्त्रीय विधि-निषेधों के यथावत् अनुगमन करने में असमर्थ होजाता है। तत्त्वान्वेषण ही उसके जीवन की प्रधान उपासना बन जाती है। वह तत्त्वान्वेषण को ही, तत्त्वपरिज्ञान को ही उसके प्रचार द्वारा लोकाभ्युदयरूप परमार्थ में ही निःश्रेयसभाव के दर्शन करने लगता है।

५६६–गोतम-कपिल-कणादादि दार्शनिकों की तत्त्वोपासना का संस्मरण—

गोतम, कपिल, कणाद, पतञ्जलि आदि का तत्त्वान्वेषण, उसके आधार पर सुसम्पन्न, न्याय, सांख्य, वैशेषिक, व्याकरण आदि ग्रन्थ ही इस तत्त्वभक्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं। वैय्याकरण शब्दतत्व परिज्ञान को ही मुक्ति का साधक मानते हैं-**"इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः"**। यही क्यों, महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने तो एक शब्द के सम्यक् प्रयोग से ही स्वर्गफलावाप्ति मानी है (देखिए महाभाष्य)।

५९७-दार्शनिकों की तत्त्वोपासनाभिनिवेशवृत्ति से अनुप्राणित- 'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'-सूत्र—

इसीप्रकार कणाद ने भी--"धर्म्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्म्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्" [वै० दर्शन १।१।४।] इत्यादिरूप से स्पष्टशब्दों में तत्त्वज्ञान को ही निःश्रेयसभाव प्राप्ति का कारण माना है। इसीप्रकार कपिल ने भी-'अथातस्तत्त्वे समासः" [१।१।....] कहते हुए तत्त्व को ही मुख्य माना है। तत्त्वसमास-सांख्य के अतिरिक्त सांख्यप्रवचनदर्शन का चतुर्विंशतितत्त्वगण भी प्रसिद्ध ही है। यहाँ भी प्रकृतितत्त्व, एवं पुरुषतत्त्व-विवेक को ही आत्मनिःश्रेयस का चरम साधक माना गया है। "तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" कहते हुए महामुनि गोतम ने भी तत्त्वभक्ति ही प्रकट की है।

५९८ तत्त्वोपासनामूलक तात्त्विक-विराट् के विभिन्न तत्त्वों का संस्मरण, एवं भगवान् व्यास के द्वारा तत्समर्थन—

इन तत्त्वदर्शकों के रूप-रस-गुण--शब्द--स्पर्श--गन्ध--पृथिवी--जल--तेज--वायु--आकाश--काल-- दिक्-- संख्या--गुरुत्व--द्रवत्व--परिमाण--पृथक्त्व आदि आदि जितने भी तत्त्व हैं, उन सब का अन्तर्भाव विराट्-प्रजापति में होजाता है। विज्ञानदृष्टि से भी तत्त्ववाद आत्मा के विकारान्तरप्रपञ्च पर ही परिसमाप्त है, एवं यही विकारसंघ विराटप्रजापति का स्वरूप-समर्पक बना हुआ है। दूसरे शब्दों में-सांख्योक्त २३ तत्त्वों की समष्टि ही विराट् प्रजापति है, जैसाकि पूर्व के पौराणिक विराट् प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। विराट् पुरुष की इसी विभूति का उल्लेख करते हुए व्यासदेव कहते हैं--

१—स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद्दृश्यमेकराट् ।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ॥
२—सोऽप्यंशगुणकालात्मा भगवद्दृष्टिगोचरः ।
आत्मानं व्याकरोदात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षया ॥
३—महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणादहंतत्त्वव्यजायत ।
कार्य्यकारणकर्त्रात्मा भूतेन्द्रियमनोमयः ॥
४—वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ।
अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत् ॥
वैकारिकाश्च ये देवा अथ भिव्यञ्जनं यतः ।
५—तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्म्ममयानि च ।
तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः ॥
६—कालमायांशयोगेन भगवद्वीक्षितं नभः ।
नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्म्ममेऽनिलम् ॥[२]

७—अनिलोऽभि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः ।
ससज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ॥
८—अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत् परवीक्षितम् ।
आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः ॥
९—ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद्ब्रह्मवीक्षितम् ।
महीं गन्धगुणामाधात् कालमायांशयोगतः ॥
१०—भूतानां नभ आदीनां यद्यद्भव्यावरावरम् ।
तेषां परानुसंसर्गा यथासंख्यं गुणान्विदुः ॥
११—इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः ।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः ॥
१२—कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिरुरुक्रमः ।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत् ॥
१३—हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान् ।
आण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥
१४—एष ह्यशेष सत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः ।
आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते ॥
१५—साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा ।
विराट्प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च ॥
१६—स्मरन् विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः ।
विराजमतपत् स्वेन तेजसैषां विवृत्तये ॥

—श्री० भा० ३।५-६।

५६६-भारतवर्षीय तत्त्वोपासकवर्ग, एवं उस की 'तत्त्वोपासना' त्मिका विराडुपासना का स्वरूप-समन्वय—

अवश्य ही भारतवर्ष में एक ऐसा भी उपासक वर्ग था, जिसका एकमात्र कर्त्तव्य था तत्त्वान्वेषण, तत्त्वप्रचार, एवं उसके द्वारा लोकाभ्युदय । क्योंकि यच्चयावत् विकारतत्त्वों का पार्थिवविराट् प्रजापति के शरीर में हीं अन्तर्भाव है, अतएव इन तत्त्वोपासक दार्शनिकों को, एवं तदनुयायिनी दर्शनसम्प्रदाय को भी हम अवश्य ही "विराडुपासक" कह सकते हैं । इसप्रकार पूर्व के तीन मार्गों के समन्वय से प्रकृत विराडुपासनामार्ग के अवान्तर चार मार्ग होजाते हैं । इन चारों की श्रेष्ठता का विचार करने पर हम इस निष्कर्ष

पर पहुँचते हैं कि, तत्त्वात्मिका विराडुपासना मे यद्यपि पर्वविराट ही उपास्य बनता है, परन्तु इस उपासना में लोकसंग्रहात्मक लोकाभ्युदय प्रतिष्ठित है । अतः इसे हम चारों में सर्वश्रेष्ठ कहसकते हैं । दूसरी में वैय्यक्तिक अभ्युदय है, अतएव समष्टिविराट से सम्बन्ध रखती हुई भी यह यज्ञात्मिका काममयी विराडुपासना तत्त्वोपासना की अपेक्षा नीची श्रेणि में प्रतिष्ठित है । तीसरी सिद्धिमूला काममयी आगमसम्मता विराट्पर्वोपासना में व्यक्तितुष्टि समान है, विराट का अंश ग्रहीत है । अतः यह तीसरा मार्ग दूसरे मार्ग से भी नीची श्रेणि में प्रतिष्ठित है । चौथी शान्तिमूला काममयी अवैध उपासना में, और आगमोपासना में पर्व–काम–व्यक्ति–तुष्टि की दृष्टि से तो समानता है, परन्तु अवैधभाव के कारण यह तीसरे मार्ग से भी नीचे के धरातल में हीं प्रतिष्ठित मानी जायगी ।

६०० - विराडुपासनानुगत-चतुर्विध-उपासनामार्ग, एवं 'दार्शनिक-युगानुगता-उपासना' का स्वरूप-विराम—

इन चारों मार्गों को तत्त्वोपासना-यज्ञोपासना[1], आगमोपासना-अवैधोपासना[2] भेद से दो श्रेणियों में भी विभक्त किया जासकता है । प्रथमविभाग परकर्म्ममार्ग कहलाएगा, एवं दूसरा विभाग अवर-ज्ञानमार्ग कहलाए । इसप्रकार इतर उपासना मार्गों की भाँति इस विराडुपासनामार्ग में भी कर्म्म-ज्ञान का भोग सुसंगत बन जाता है, जैसाकि निम्नलिखित परिलेख से स्पष्ट है—

१–तत्त्वात्मिका—उपासना—तत्त्वद्रष्टार:-अधिकारिणो दार्शनिका:

२–यज्ञकर्म्मात्मिका-उपासना---पुण्यपापविवेकिनो द्विजातयः शास्त्रज्ञा: कामपरायणाः--याज्ञिका:

३–सिद्धिरूपा---उपासना—आगमशास्त्रानुगता द्विजबन्धवो अधिकारिण:

४–अवैधा---—उपासना—स्त्रीशूद्रवर्ग:

——**——

१–तत्त्वोपासना—लोकसंग्रहमूला–दार्शनिकी	—कर्म्मयोग:--पर:	—विराडुपासना—चतुष्टयी
२–यज्ञोपासना-—व्यक्तितुष्टिमूला नैगमिका (वैदिकी)		
३–सिद्ध्युपासना--- ,, आगमिका (आगममयी)	—ज्ञानयोग:--अवर:	
४–अवैधोपासना--- ,, स्वतन्त्रा (पुराणमयी)		

——**——

इति–"युगधर्म्मानुगता–विराडुपासना"- नामके चतुर्थ–प्रकरणे

"दर्शनयुगानुगता–वैकारिकोपासना"

नामक

चतुर्थ–अवान्तर–प्रकरण–उपरत

४

श्रीः

इति–"युगधर्म्मानुगता–विविधोपासना" नामके चतुर्थ–प्रकरणे

"दर्शनयुगानुगता–वैकारिकोपासना"

नामक

चतुर्थ–अवान्तर–प्रकरण–उपरत

४



(५)-वर्त्तमानयुगानुगता-भूत-भौतिकी-उपासना से अनुप्राणित-पारिभाषिक-परिलेख—

"आवरणोपासना"-(भूतोपासना--भूतभौतिकी)

भूतानुगतं-सेवनात्मकं-भौतिकं-स्थूलकर्म्म-एव-उपासना

भूतात्मिका-आवरणशुक्रमयी

भौतिकी-भूतदेवोपासना-प्रतिमानोपासना-आत्मपचनात्मिका

——**——

१—भूतवाक्
२—भूतापः
३—भूताग्निः
}—'भूतक्षरः'–तदिदं–भूतभौतिकविवर्त्तम्–मर्त्यभूतविवर्त्तमेव

(सैषा-आवरणोपासना-भूतोपासना वा-भूतात्मिका)

स एष उपास्यः-सेवनात्मकेन स्थूलकर्म्मणा-अनुकरणीयः

——**——

अनुकरणं--नाम--सेवाभावेन तत्पथानुगमनम्

तदनुसरणं वा

सैषा--आत्मपचनात्मिका--उपासना--कर्म्मैव

पञ्चमी

५

——**——

(सोऽयं-वर्त्तमानयुगः-पञ्चमः-कलियुगात्मकः)

१-भूतशुक्रात्मिका वाक्
२-भूतक्षरः
३-भूतार्थः
४-भूतवाक्
}—तदेत्सर्वं-वागेव-भूताक्षर-एव-
"क्षरः सर्वाणि भूतानि"

——**——

श्रीः

"वर्त्तमानयुगानुगत-भौतिकोपासनामार्ग"

चतुर्थ-प्रकरणान्तर्गत--पञ्चम--अवान्तर--प्रकरण

५

—※—

६०१-वर्त्तमानयुगानुगता उपासना-प्रसङ्ग से अनुप्राणित पञ्चविधयुगानुगत पञ्चविध-उपासनापथों का समष्ट्यात्मक स्वरूप-संस्मरण—

ज्ञानी भक्त से सम्बन्ध रखने वाली निर्गुण अव्ययोपासना, जिज्ञासा-लक्षण जिज्ञासु भक्त से सम्बन्ध
रखने वाली सगुण-षोडशी-प्रजापत्युपासना [अक्षरोपासना, सहस्रवल्शेश्वरलक्षणा सर्वोङ्कारोपासना, पिपासा-
लक्षण जिज्ञासु भक्त से सम्बन्ध रखने वाली सविकार-यज्ञप्रजापत्युपासना [आत्मक्षरोपासना, एकवल्शेश्वर-
लक्षणा उद्गीथोङ्कारोपासना, किंवा प्रणवोङ्कारोपासमा, किंवा पर्वोङ्कारोपासना,] अर्थार्थीभक्त से सम्बन्ध
रखने वाली साञ्जन-विराट् प्रजापत्युपासना, इन चारों उपासनाओं का क्रमशः देवयुगानुगत-उपासनामार्ग,
वेदयुगा० उपा०, पुराणयुगा० उपा०, दर्शनयुगा० उपा०, इन चार प्रकरणों में विस्तार से निरूपण किया
जाचुका है।

६०२-दुःखार्त्त मानव से अनुप्राणिता वर्त्तमानयुगानुगता उपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं आर्त्तमानवानुबन्धी कतिपय-प्रश्न, तथा तत्समाधानोपक्रम—

अब एक उपासकवर्ग बच रहता है, और वह है "आर्त्त", "दुःखी" सांसारिक कलहों से संत्रस्त।
"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" के अनुसार अज्ञानजनित मोह से इन का स्वाभाविक ज्ञान-
प्रकाश अभिभूत रहता है। जब ज्ञान का उदय नहीं, तो ज्ञानजिज्ञासा, ज्ञानपिपासा को कहाँ अवसर। अवश्य
ही ऐसे मुग्धजन आंशिकरूप से अर्थार्थी बने रहते हैं। परन्तु मोहवश ये अभिलषित अर्थसिद्धि-साधक विरा-
डुपासनामार्ग में भी प्रवृत्त नहीं होसकते। परमार्थको गर्भ में रखता हुआ स्वार्थसाधक तत्त्वभक्तिरूप कर्म्ममार्ग,
स्वार्थसाधक, किन्तु समष्टि-विराडुपासनात्मक काममय यज्ञकर्म्म, स्वार्थसाधक किन्तु पर्वविराडुपासनात्मक वैध-
सिद्धिमार्ग, एवं स्वार्थसाधक पर्वविराडुपासनात्मक किंन्तु अवैध शान्तिमार्ग, विराडुपासना से सम्बन्ध रखने वाले
ये चारों हीं मार्ग इस आर्त्त-मुग्ध-अज्ञानी-जन्तु नामधारी व्यक्ति के लिए एकप्रकार से असम्भव से ही बने
हुए हैं। इस के अभ्युदय का क्या उपाय ?, आर्त्त मनुष्य में किन उपायोंसे भक्तिबीज का वपन होसकता है ?,
किन उपायों से उसे इस ओर आकर्षित किया जासकता है ?, प्रकृत प्रकरण इन्हीं कुछ एक प्रश्नों के समाधान
के लिए प्रवृत्त हुआ है।

६०३–समष्टि-व्यष्ट्यात्मिका-विराडुपासना से अनुप्राणित उपासना के चार प्रमुख विवर्त्त–

विराडुपासना के उक्त चारों हीं पर्वों में आधिकारिक अचेतन जीवलक्षण विराट् की ही समष्टि, किंवा व्यष्टिरूप से उपासना होती है। परन्तु आत्मिक से सम्बन्ध रखनेवाली यह सावरण विश्वोपासना आधिकारिक अर्द्धचेतनजीव, आश्वत्थिक अचेतनजीव, आश्वत्थिक अर्द्धचेतन जीव, आश्वत्थिक अचेतन जीव– इन चार विश्वपर्वों से सम्बन्ध रखती है। गीताशास्त्रने इन चारों का ही समर्थन किया है, जैसाकि पूर्व प्रकरणों में स्पष्ट किया जाचुका है।

६०४–विश्वविवर्त्तानुगता उपासना का 'जीववर्ग' से प्रमुख सम्बन्ध, एवं तदनुबन्धी आध्यात्मिक–आधिभौतिक–पर्व—

वेदयुगानुगत उपासनामार्ग का उपबृंहण करते हुए यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, माया-सम्बन्धी अव्यय, कलागुणसम्बन्धी षोडशी, विकारसम्बन्धी यज्ञ, अञ्जन–सम्बधी विराट्, आवरणसम्बन्धी विश्व, इन पाँच आत्मविवर्त्तों में से आरम्भ के चार विवर्त्तों का तो आधिदैविक प्रपञ्च से सम्बन्ध है, एवं पाँचवें विश्व–विवर्त्त का आध्यात्मिक, आधिभौतिक इन दो विवर्त्तों से सम्बन्ध है।

६०५–उपासनानुगत 'विश्व' शब्द का 'जीवात्मक' पारिभाषिक-समन्वय—

पूर्व के विराट् स्वरूप से पाठकों को यह विदित हुआ होगा कि, विराट् में ईश्वरीय प्रपञ्च के शेष सभी पर्वों का समावेश है। स्वयम्भू आदि भूपिण्डान्त वल्शेश्वर का तो यज्ञप्रजापति में अन्तर्भाव था। शेष रहा था ब्राह्मी पृथिवी, वैष्णवी पृथिवी, ऐन्द्री पृथिवीरूप पार्थिवमहिमा-विवर्त्त। इस का विराट् में अन्तर्भाव होचुका। अब "विश्व" नामक कोई स्वतन्त्र उपास्य नहीं बचा, जिसकी उपासना शेष रही हो। इसी आधार पर हमनें आत्मदेवता के इस विश्वपर्वको "जीवपर्व" कहते हुए जीवोपासना को ही "विश्वोपासना" कहा है।

६०६–विराडनुगता देवोपासना, एवं निगम, अनुगम–भेद–भिन्न उपास्य–तत्त्वों का नाम–संस्मरण—

विराडुपासना में भी देवोपासना बतलाई है। परन्तु वह देवोपासना नैगमिक-आगमिक–आधिकारिक अचेतन जीवों से सम्बन्ध रखती है, जोकि जीव स्वतन्त्र जीव न होते हुए विराट्-लक्षण महाजीव के अवयवरूप हैं। रुद्रादित्यवस्वग्नि-इन्द्रवरुणादि सभी प्राणदेवता विराट् के अवयव हैं। यज्ञकर्म्मलक्षणा यज्ञोपासना से विराट् के द्वारा ये सौर यज्ञिय अचेतन प्राणदेवता हीं उपासित होते हैं, एवं ये ही नैगमिक [वैदिक] देवता हैं। गणपति–उच्छिष्टगणपति–दुर्गा–भैरव–पक्षिराज आदि प्राणदेवता आगमिक अचेतन देवता हैं। ये भी उसी विराट् के अवयव हैं। तन्त्रकर्म्मलक्षणा सिद्ध्युपासना से विराट् के द्वारा ये पार्थिव अचेतन प्राणदेवता हीं उपासित होते हैं।

६०७–निगम, और आगम-शब्दों का पारिभाषिक-तत्त्वार्थ-समन्वय, सूर्य्यमूला निगमोपासना, तथा पृथिवी–मूला आगमोपासना के अवान्तर महिमाविवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

निगम–आगम शब्दों की उपनिषत् क्रमशः सूर्य्य, एवं पृथिवी ही हैं। सौरीविद्या निगमविद्या है, पार्थिवीविद्या आगमविद्या है। सौर देवता ही प्रवर्ग्यरूप से पृथिवी में आकर पार्थिव देवता बनते हैं।

सौरतत्त्व स्वयं निर्गत होने से निगम है, पार्थिवतत्त्व निगमात्मक सूर्य्य से आगत होने के कारण आगम है। निगम ही आगम की मूलप्रतिष्ठा है। वह यज्ञविद्या है, यह तन्त्रविद्या है। इष्टि, पशु, सोम, महायज्ञ, अतियज्ञ, शिरोयज्ञ, यज्ञविद्याके ये ६ पर्व हैं। एवं पूर्वाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय, दक्षिणाम्नाय, उर्ध्वाम्नाय, अधराम्नाय ये, ६ तन्त्रविद्या के पर्व हैं। याज्ञिकदेवता सौरयज्ञिय देवता हैं, तान्त्रिकदेवता पार्थिव अयज्ञियदेवता हैं। यज्ञिय देवताओं को आत्मसात् करने का अधिकार केवल भारतवर्षीय वेदशास्त्रनिष्ठ जन्मसिद्ध द्विजातिपुरुषवर्ग को ही है। परन्तु अयज्ञिय-तान्त्रिकदेवताओं की उपासना पृथिवी पर का कोई भी मनुष्य [दीक्षा-ग्रहणानन्तर] कर सकता है। प्रत्येक भाषा में शाबर मन्त्र हैं। वे सभी पार्थिव देवताओं के संग्राहक है। इस तान्त्रिकमार्ग के आगेजाकर यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र-त्राटक-जारण-मारण-मोहन-उच्चाटन-वशीकरण आदि अवान्तर अनेक भेद होजाते हैं। जिन पार्थिव द्रव्यों में ऐसी शक्तियाँ हैं, उन सब का इन में निःसकोच परिग्रह कर लिया गया है। क्योंकि हमारा शरीर पार्थिव है, अतएव पार्थिव देवता से सम्बन्ध रखने वाली तान्त्रिक उपासना सिद्ध भी शीघ्र ही होजाती है, एवं इसका फल भी हमें यहीं उपलब्ध होजाता है। उधर सौर एकविंश स्तोम से सम्बन्ध रखनें वाली याज्ञिक उपासना में क्लेश भी अधिक है-[क्रियाविशेषबहुलां], एवं फल भी इस का अदृष्ट है। अतएव सामान्यजन इस में प्रवृत्त नहीं होते। जिन के वीर्य्य में जन्म से सौर द्विजातिवर्णप्रतिष्ठित होगा, साथ ही शास्त्रीय वर्णधर्म्मानुसार जिनका वर्णोचित संस्कार हुआ होगा, वे ही इस अदृष्टफल मूलिका यज्ञोपासना में प्रवृत्त होंगे, एवं वे ही इस मार्ग के अधिकारी माने जायँगे। साथ ही यह तो प्रत्येक दशा में सिद्ध ही है कि, जो द्विजातिवर्ग इस याज्ञिक सौर देवोपासना में, एवं तान्त्रिक पार्थिव देवोपासना में प्रवृत्त होगा, वह कामभाव के कारण स्वर्गभोग, एवं सिद्धिप्राप्ति का अभिलाषी बनता हुआ अर्थार्थीभक्त ही कहाजायगा।

६०८-निगमागमीय-प्राणदेवताओं के-'अचेतन-जीवत्त्व' के सम्बन्ध में शास्त्रानुगता महती विप्रतिपत्ति का उत्थान—

इस सम्बन्ध में पाठक यह प्रश्न कर सकते हैं कि, जिन रुद्र-वस्वादि सौर-प्राणदेवताओं को, एवं गणपति-पक्षिराज-दुर्गा आदि पार्थिव प्राणदेवताओं को **'आधिकारिक अचेतनजीव'** बतलाया गया है, स्वयं निगम, एवं आगमशास्त्रने बड़े विस्तार के साथ उन्हें चेतन मानते हुए सर्वशक्तिशाली सिद्ध किया है। और फिर आज का कोई भी सनातनधर्म्मी यह कब सहन रक सकता है कि, उसके उपास्य गणपति-दुर्गा आदि वे देवता, जिनके वाहन माने जाते हैं, जिनके शरीरों का ध्यान किया जाता है, जो समय समय पर अपने अनन्य भक्तों को प्रत्यक्षरूप से दर्शन देते रहते हैं, अचेतन हैं ?। फिर लोकशास्त्र-विरुद्ध किस आधार पर इन्हें अचेतन कहने का साहस किया गया।

६०९-चेतन-अचेतन-शब्दों की शास्त्रीया-परिभाषा के माध्यम से विप्रतिपत्ति-निराकरण-प्रयास—

बात ठीक है। परन्तु साहस साहस है। वह शास्त्रका विरोध तो न कर सकेगा, परन्तु लोकनिष्ठा को सुरक्षित रखतेगा हुए अपने साहस को भी सुरक्षित अवश्य ही रक्खेगा। आप तो विराट् के अवयवरूप इन सौर-

पार्थिव देवताओं की कहते हैं। हमनें तो पूर्व–प्रकरण में स्वयं विराट् को भी आधिकारिक अचेतन जीव ही कहा है। चेतन–अचेतन की एक शास्त्रीय–निश्चित–परिभाषा है। एवं निश्चित–परिभाषा के आधार पर ही अचेतन–चेतन का वर्गीकरण होता है। अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। आयुःशास्त्र का **'सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्'** वाक्य ही इस वर्गीकरण के लिए पर्य्याप्त है।

६१०–'सर्वाणीन्द्रियाणि अतीन्द्रियाणि' परिभाषामूलक चेतन-अचेतन-व्यवहार का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

अव्यक्त–महान्–विज्ञान–प्रज्ञान–इन्द्रिययुक्त–भाव ही चेतन कहलाएगा। केवल एक एक पर्व **'सर्वाणीन्द्रियाणि–अतीन्द्रियाणि'** इस सिद्धान्त के अनुसार अनिन्द्रियकोटि में आता हुआ अचेतन ही माना जायगा। यज्ञेश्वरप्रजापति में स्वयम्भू अव्यक्त है, परमेष्ठी महान् है, सूर्य्य विज्ञान (बुद्धि) है, चन्द्रमा प्रज्ञान (मन) है, त्रिमूर्त्ति–विराट् प्राणदेवतात्मक इन्द्रियवर्ग है। अतएव इसे चेतन कहा जायगा। परन्तु स्वयं स्वयम्भू-परमेष्ठी–सूर्य्य आदि पर्व पृथक्त्वेन अनिन्द्रिय बनते हुए अचेतन ही माने जायँगे। यज्ञावच्छिन्न विराट् सेन्द्रिय बनता हुआ जहाँ चेतन कहलाएगा, वहाँ केवल विराट् अनिन्द्रियकोटि में आता हुआ अचेतन कहलाएगा। फिर विराट् के अवयवरूप सौर–पार्थिव देवताओं की अचेतनता का तो कहना ही क्या है।

६११–चेतनभावनिबन्धना अङ्गीदृष्टि, एवं अचेतन-भावनिबन्धना अङ्गदृष्टि, एवं तद्भेद-निबन्धन-चेतन-अचेतन-व्यवस्था-समन्वय—

यह ठीक है कि, पर्व पर्वी से अभिन्न हैं। यह भी सिद्ध विषय है कि–अचेतन अङ्ग की उपासना उसी प्रकार चेतन अङ्गी की उपासना (परम्परया) बन जाती है, जैसे कि आध्यात्मिक पर्वरूप गुरुचरणोपासना गुरूपासना बन जाती है। यह भी ठीक ही है कि, अचेतन अङ्ग तादात्म्यभावापन्न चेतन अङ्गी की शक्तियों के द्वारा अचेतनवत् यथेच्छ विग्रह धारण कर उपासक को वर प्रदान करता है। यह सब कुछ ठीक ठीक मानते हुए भी विशुद्ध अङ्गदृष्टि को जब हम लक्ष्य बनावेंगे, तो उसे हम अचेतन हीं कहेंगे।

६१२–अङ्गोपासनात्मिका देवोपासना का अङ्गत्वेन अचेतनत्व-समन्वय—

आँख–कान–नाक-मुख–हाथ–पैर आदि हमारे पर्व प्रातिस्विकरूप से सर्वथा अचेतन हैं। अङ्गी आत्मा को लेकर ही ये चेतन मानें जाते है। इन अचेतनों की उपासना से चेतन उपासित तो होगया, परन्तु यह पर्वोपासना कहलाएगी अचेतनोपासना ही। जितनीं भी देवोपासनाएँ हैं, वे अङ्गोपासनाएँ हैं। अतएव वे सब विज्ञानदृष्टि से अचेतनोपासना हैं।

६१३- कर्म्म से असंस्पृष्टा ध्यानात्मिका अङ्गी–उपासना का चेतनत्व-समन्वय—

यह एक और भी रहस्य का विषय है कि, अचेतनोपासना में हीं ऐन्द्रियकर्म्म का सम्बन्ध रहता है। दूसरे शब्दों में–कर्म्मात्मिका उपासना अचेतन की ही होसकती है। इस दृष्टि से यज्ञप्रजापति की यज्ञकर्म्मात्मिका उपासना भी अचेतनोपासना ही आठहरती है। कारण स्पष्ट है। इस अवयव-सम्बन्ध से ही तो यहाँ कर्म्म

का प्रयोग सम्भव बन जाता है। एकतः पाणिपाद उपास्य अचेतन उपास्य है, यहीं कर्म्म का सम्बन्ध है। एवं सर्वतः पाणिपाद उपास्य (षोडशी) ही एकमात्र चेतन उपास्य है। यहाँ की उपासना में कर्म्म का समावेश नहीं है। यह उपासना समानप्रत्ययप्रवाहरूपा बनती हुई केवल ध्यानात्मिका है। अङ्गी में कर्म्मप्रवेश सम्भव ही नहीं है।

६१४–लौकिक-उदाहरणधिया गुरूपासना के माध्यम से अङ्गीगुरु, और अङ्गगुरु-की उपासनाद्वयी का चेतन-अचेतनत्व-समन्वय—

उदाहरण के लिए गुरु को ही लीजिए। गुरु की उपासना अचेतन–चेतन–भेद से दो भागों में विभक्त मानी जासकती है। समष्टिरूप गुरु का शरीर (आत्मयुक्त अङ्गी शरीर) चेतनगुरु है, एवं गुरु के हाथ–पैर–मस्तक आदि अवयव अचेतनगुरु है। यदि कोई उपासक शिष्य चेतनगुरु की एकसाथ कर्म्मात्मिका उपासना करना चाहेगा, तो यह सम्भव न होगा। चेतनोपासना का तो भौतिक बहिरंग कर्म्मशून्य आभ्यन्तर ध्यान–कर्म्म से ही सम्बन्ध रहेगा। एककालावच्छेदेन शिष्य चेतनगुरु का (सम्पूर्ण शरीर का) ध्यान अवश्य कर सकेगा, परन्तु कर्म्मप्रयोग में वह असफल ही रहेगा। कर्म्मात्मिका उपासना के लिए इसे चेतनगुरु के (शरीर के) अवयवरूप हस्तपादादि अचेतन अवयवों का ही आश्रय लेना पड़ेगा। अस्तु, इन सब विषयों का विशद वैज्ञानिक विवेचन **भक्तिपरीक्षा–उत्तरखण्ड** में विस्तार से होने वाला है। अभी केवल यही जान–लेना पर्य्याप्त होगाकि, ध्यानात्मिका उपासना ही चेतनोपासना कहलाएगी, एवं कर्म्मात्मिका उपासना के यच्चयावत् विवर्त्त अचेतन उपास्यों से ही सम्बन्ध रक्खेंगे।

६१५–ध्यानात्मिका उपासना की द्वैतभावनिबन्धनता, एवं 'अद्वैतोपास्य, द्वैतोपास्य, द्वैतभूयस्त्वोपास्य-भेदेन उपास्य' तत्त्व के तीन महिमामय विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय—

एक बात और। ध्यानात्मिका उपासना में ध्याता–ध्येय ये दो पर्व हैं। अतएव इसे हम द्वैतोपासना कहेंगे। अभी एक उपासनामार्ग और बच जाता है। वह है ज्ञानात्मक मार्ग। यहाँ सेन्द्रिय चेतन–अनिन्द्रिय अचेतन, दोनों हीं भाव नहीं हैं, दूसरे शब्दों में दोनों हीं–**'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'** हैं। द्वैतभावशून्य यही मूलात्मा निगुर्ण अव्यय है। इस की उपासना अद्वैतरूपा ज्ञानोपासना है। ध्यानरूपा द्वैतोपासना से भी इस का स्थान ऊँचा है। इस दृष्टि से इस उपासनामार्ग के ज्ञानात्मिका अद्वैतलक्षणा निर्गुणाव्ययोपासना, ध्यानात्मिका द्वैतलक्षणा षोडशीप्रजापत्युपासना, कर्म्मात्मिका द्वैतरूपा यज्ञप्रजापत्युपासना के भेद से तीन विवर्त्त होजाते हैं। इन तीनों उपास्यों के स्वरूप निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

न चित-नाचित, उभयं वा	१–अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः, अक्षरात् परतः परः सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः	—निर्गुण अव्ययः (अद्वयः)
(अङ्गी) चेतनः	२–सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥	—षोडशीसहस्रवल्शेश्वरः (द्वैतप्रवर्त्तकः)
(अङ्गानि) अचेतनानि	३–अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ— दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा	यज्ञप्रजापतिः एकवल्शेश्वरः (द्वैतरूपः)

६१६–चेतनाचेतनातीता-आत्मोपासना, चेतनोपासना, अचेतनोपासना–रूपेण उपासना के तीन विभिन्न पथों का योगत्रय-माध्यम से समन्वय—

निर्गुण अव्यय से सम्बन्ध रखने वाली ज्ञानात्मिका मनोमयी उपासना **'उप–आसना'** भाव के कारण उपासनालक्षणा **'उपासना'** कही जायगी (देखिए–उपासना और भक्तिका तारतम्य)। षोडशी चेतनप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली ध्यानात्मिका प्राणमयी उपासना **'भाग'** भाव के कारण भक्तिलक्षणा **'उपासना'** मानी जायगी । एवं अचेतन यज्ञप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली कर्म्मात्मिका वाङ्मयी उपासना **'अर्थ'** भाव के कारण कर्म्मलक्षणा उपासना कहलाएगी । एवं गीतापरिभाषा के अनुसार ये ही तीनों उपासना–मार्ग **ज्ञानयोग (उपासना), भक्तियोग (भक्ति), कर्म्मयोग (कर्म्म)** कहलाएँगे ।

आत्मोपासना	१–अव्ययोपासना (मनोमयी)–**ज्ञानात्मिका**	**उपासना**	(ज्ञानयोगः)	**–योगत्रयी**
चेतनोपासना	२–षो०प्र०उपासना (प्राणमयी)–**ध्यानात्मिका**	**भक्तिः**	(भक्तियोगः)	
अचेतनोपासना	३-यज्ञप्र० उपासना (वाङ्मयी)-**कर्म्मात्मिका**	**कर्म्म**	(कर्म्मयोगः)	

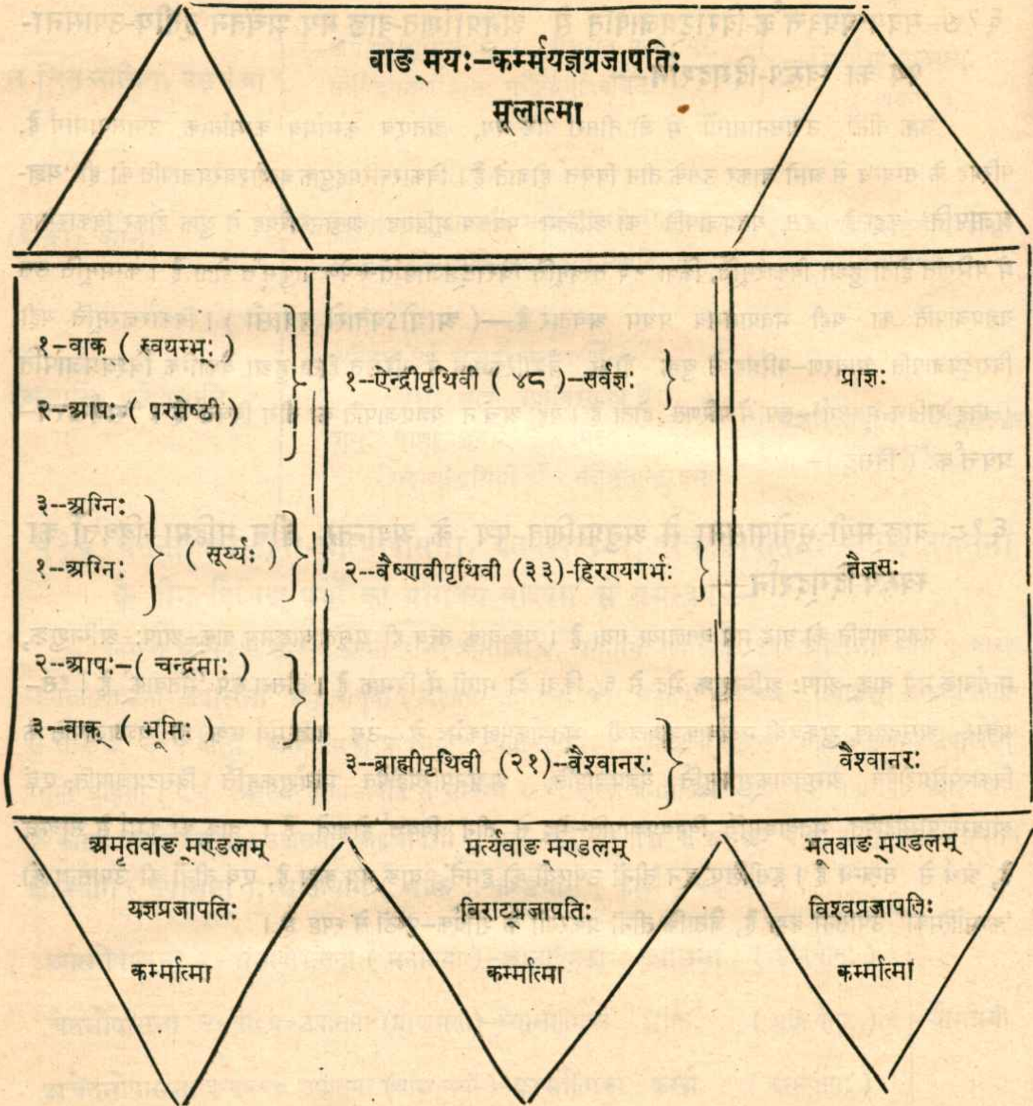
—:॰:—

६१७-सर्वसत्त्वप्रवर्त्तक-विराट्प्रजापति से अनुप्राणित-वाङ्मय-अचेतन-तृतीय-उपासना-पथ का स्वरूप-दिग्दर्शन—

उक्त तीनों उपासनामार्गों में जो तीसरा वाङ्मय, अतएव कर्म्ममय कर्म्मात्मक उपासनामार्ग है, परिग्रह के सम्बन्ध से आगे जाकर उसके तीन विवर्त्त होजाते हैं। विकारपरिग्रहयुक्त बलेशेश्वरप्रजापति को ही 'यज्ञ-प्रजापति' कहा है। इस यज्ञप्रजापति का अन्तिम पर्वरूप भूपिण्ड अञ्जनपरिग्रह से युक्त होकर विकारभाव में परिणत होता हुआ विकारमूर्ति, किंवा २३ तत्त्वमूर्त्ति विराट्प्रजापति-रूपेण प्रादुर्भूत होता है। कर्म्ममूर्त्ति उस यज्ञप्रजापति का यही भूतग्राममय प्रथम अवतार है—(आद्योऽवतारो यत्रासौ)। विकारक्षरमूर्त्ति यही विराट्प्रजापति आवरण-परिग्रह से युक्त होकर वैकारिकभाव में परिणत होता हुआ वैकारिक **विश्वप्रजापति** (चतुर्द्दशविध-भूतसर्ग)-रूप में परिणत होता है। यही अचेतन यज्ञप्रजापति का तीरा विवर्त्त है। **"सर्वसत्त्व-प्रवर्त्तकः** (विराट्)-।

६१८-वाङ्मयी-भूतोपासना से अनुप्राणित पथ के अवान्तर तीन महिमा-विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यज्ञप्रजापति को वाङ्मय बतलाया गया है। यह वाक् तत्त्व ही अमृत वाङ्मय वाक्-आपः-अग्निशुक्र, मर्त्यवाङ्मय वाक्-आपः अग्निशुक्र भेद से ६, किंवा दो भागों में विभक्त है। तीसरा रूप 'भूतवाक्' है। इस-प्रकार अमृतवाक् शुक्रत्रयी मर्त्यवाक्शुक्रत्रयी भूतवाक्पञ्चकभेद से उस वाङ्मय एक ही यज्ञप्रजापति के विकारपरिग्रहोपेत अमृतवाक्शुक्रमूर्त्ति यज्ञप्रजापति, अञ्जनपरिग्रहोपेत मर्त्यशुक्रमूर्त्ति विराट्प्रजापति, एवं आवरणपरिग्रहोपेत भूतवाङ्मूर्त्ति विश्वप्रजापति-भेद से तीन विवर्त्त होजाते हैं। वाक् का कर्म्म से सम्बन्ध है, अर्थ से सम्बन्ध है। इसीलिए इन तीनों उपास्यों को हमने वाङ्मय कहा है, एवं तीनों की उपासना को 'कर्म्मात्मिका' उपासना कहा है, जैसाकि तीनों प्रकरणों के शीर्षक-पृष्ठों से स्पष्ट है।



वाङ्मयः–कर्म्मयज्ञप्रजापतिः
मूलात्मा
१–वाक (स्वयम्भूः)
२–आपः (परमेष्ठी)
१–ऐन्द्रीपृथिवी (४८)–सर्वज्ञः
प्राज्ञः
३–अग्निः
१–अग्निः
(सूर्य्यः)
२–वैष्णवीपृथिवी (३३)-हिरण्यगर्भः
तैजसः
२–आपः–(चन्द्रमाः)
३–वाक् (भूमिः)
३–ब्राह्मीपृथिवी (२१)–वैश्वानरः
वैश्वानरः
अमृतवाङ्मण्डलम्
यज्ञप्रजापतिः
कर्म्मात्मा
मर्त्यवाङ्मण्डलम्
विराट्प्रजापतिः
कर्म्मात्मा
भूतवाङ्मण्डलम्
विश्वप्रजापतिः
कर्म्मात्मा

६१९–यज्ञोपासना, देवोपासना, भूतोपासना-भेद से यज्ञप्रजापति-निबन्धना विरा–डुपासना के तीन विभिन्न पथ, एवं तीनों के त्रिविध उपास्य-तत्त्व—

इसप्रकार वाग्भेदोपहित-परिग्रह-भेद से अचेतन यज्ञप्रजापति के तीन विवर्त्त होजाते हैं। सम्भूय उपासनामार्ग भी तीन के स्थान में पाँच भागों में विभक्त होजाता है। ये ही **देव-वेद-पुराण-दर्शन-वर्त्तमान-युगानुगत पाँच** उपासनमार्ग हैं। पाँच से अतिरिक्त और कोई छठा मार्ग नहीं होसकता। इन पाँचों मार्गों को हम क्रमशः **१-आत्मोपासना, २-ईश्वरोपासना, ३--यज्ञोपासना, ४--देवोपासना, ५--भूतोपासना,** इन नामों से भी व्यवहृत कर सकते हैं। आगे जाकर इनके जो अवान्तर अनेक भेद होजाते हैं, उन का तत्तत् प्रकरणों में स्पष्टीकरण किया ही जाचुका है। विवाद इस समय यज्ञोपासना–देवोपासना–भूतोपासना--इन तीन विवर्त्तों के सम्बन्ध में है। निष्कामयज्ञ–कर्म्मोपासना के अतिरिक्त यज्ञेश्वरप्रजापति के तीन विवर्त्तों से सम्बन्ध रखने वाली आधिकारिक चेतन–जीवोपासना (अवतारोपासना), आधिकारिक अचेतन जीवोपासना (प्राणदेवोपासना), आधिकारिक अर्द्धचेतनजीवोपासना, आश्वत्थिक चेतन जीवोपासना, आश्वत्थिक अर्द्धचेतन जीवोपासना, आश्वत्थिक अचेतन जीवोपासना, इन विवर्त्तों में सांकर्य्य प्रतीत होता है, जिसे अपनी व्यवच्छेदबुद्धि से निकाल लेना ही उचित है।

६२०–'आधिकारिक अचेतन जीव' नामक उपास्य तत्त्व का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

अवतारपुरुषों का एकमात्र यज्ञप्रजापतिलक्षण विष्णु से ही सम्बन्ध है। विष्णुयज्ञ के अंशावतार, किंवा पूर्णावतार मानवतनुधारी योगमायावच्छिन्न पार्थिव जीव— **"आधिकारिक चेतनजीव"** कहलाते हैं। क्योंकि ये यज्ञेश्वररूप हैं, अतएव इनकी उपासना का हम यज्ञप्रजापत्युपासना में हीं अन्तर्भाव मानेगे। यद्यपि यज्ञप्रजापति स्वयं अचेतन है, परन्तु इस के नरावतार इन्द्रियभाव के कारण चेतन बन जाते हैं। अतएव इन यज्ञावतारों को-"आधिकारिक चेतन जीव" कहना सुसंगत बन जाता है।

६२१–उपासनानुबन्धी सूक्ष्मतम-पारिभाषिक-तथ्यों के माध्यम से साङ्कर्य्य का निराकरण-प्रयास, एवं व्यवच्छेदमूला व्यवस्थिता-पारिभाषिकी दृष्टि—

विराट्प्रजापति, विराट्प्रजापति के अवयवरूप सौरदिव्य नैगमिक रुद्रवसवग्न्यादि प्राणदेवता, वि० प्र० के ही अवयरूप पार्थिव आगमिक गणपति, पक्षिराज आदि प्राणदेवता, ये तीनों वर्ग विराट्प्रजापति से सम्बन्ध रखते हैं। क्योंकि विराट्प्रजापति स्वयं अचेतन है, इस के इतर दोनों विवर्त्त भी अचेतन ही माने जायँगे। अवतारवत् इन का नरशरीर नहीं है। अपितु अङ्गरूपसे ये तीनों हीं उस अचेतन यज्ञप्रजापति-धरातलपर प्रतिष्ठित हैं। अतएव इन्हें हम आधिकारिक अचेतन जीव ही कहेंगे। इन तीन पर्वों के आधार पर-विराडुपासना के प्रधान तीन पर्व होजाते हैं। काम्ययज्ञकर्म्मरूप यज्ञात्मक उपासनामार्ग की प्रतिष्ठा समष्टिरूप स्वयं विराट्पुरुष है। इस विराडुपासनारूप यज्ञोपासना से ही तदन्तर्गर्भिता प्राणदेवोपासना भी गतार्थ बन जाती है। तत्त्वभक्तिरूप तत्त्वान्वेषणात्मक उपासनामार्ग की प्रतिष्ठा सौर पार्थिव प्राणदेवता हैं। एवं शिव–सूर्य्य-गणपति-दुर्गा-प्राणाराधनलक्षण सिद्धयुपायभूता तान्त्रिकोपासना की प्रतिष्ठा पार्थिव अचेतन प्राणदेवता हैं। इसीलिए इस त्रिविध आधिकारिक-अचेतन जीवोपासना का हम अचेतन विराट्प्रापति में अन्तर्भाव

मान सकते हैं। स्त्री-शूद्रों के सम्बन्ध में लीलासंस्मरणरूपादि जिन अवतारोपासनादि का पूर्व के दोनों उपासनामार्गों में यत्रतत्र साङ्कर्य्य हुआ है, यज्ञप्रजापति के त्रित्व से ही सम्बद्ध मान कर वह साङ्कर्य्य हटा लेना चाहिए।

६२२–क्रमप्राप्त-उपासनापथानुबन्धी चार विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अब हमारे सामने आधिकारिक अर्द्धचेतनोपासना, आश्वत्थिक चेतन जीवोपासना, आश्वत्थिक अर्द्धचेतनजीवोपासना, आश्वत्थिक अचेतनजीवोपासना, ये चार उपासनामार्ग शेष रहजाते हैं। इन चारों का किस उपास्यदेवता में अन्तर्भाव ?, इस का उत्तर यज्ञप्रजापति के आवरणात्मक कर्म्मरूप भूतवाङ्मय विश्वप्रजापति–विवर्त्त पर ही निर्भर है। इसी के स्पष्टीकरण के लिए इस प्रकारण का उपक्रम हुआ है।

६२३–लोकदृष्ट्या उपासना का स्वरूप-लक्षण-समन्वय, एवं तल्लक्षण की सनातनता—

सबसे पहिले तो उपास्य के स्वरूप का ही विचार कीजिए। "जिस वस्तु से हम कुछ बल प्राप्त कर सकें, जिस पदार्थ के संसर्ग से हमारे आत्मा में कोई अतिशय उत्पन्न होजाय, वह वस्तु जड़ हो, अथवा चेतन, हमारा उपास्य है" यह है उपास्यदेवता का व्यापक लक्षण। सम्भव है एक अदूरदर्शी अवैज्ञानिक यथाजात बालिश उपास्य के उक्त लक्षण का मर्म्म न समझ सके। परन्तु भारतीय महर्षियों की दृष्टि में तो उपास्य का उक्त लक्षण ही सर्वेसर्वा बन रहा है। सिद्धान्तरूप से ही नहीं, अपितु व्यवहाररूप से भी। देवयुग-सत्ययुगादि श्रेष्ठ युगों में हीं प्रचलित नहीं, अपितु आज के इस महाभयावह युग में भी भारतवर्ष की उस ग्रामीण-सभ्यता में उपास्यदेवता का उक्त लक्षण ही व्यवहार में प्रचलित रहा है, जो सभ्यता देव की विशेष अनुकम्पा से आजतक पश्चिमी सभ्यता के संसर्ग से बची हुई है।

६२४–उपयोगानुगत यच्चयावत् भूत-भौतिक-जड़-चेतन-पदार्थों की 'उपास्यरूपता' के सम्बन्ध में भारतीय महर्षियों की अद्वैतमूला ब्रह्मदृष्टि, और तन्निबन्धन सत्ता-ब्रह्म-प्रवाह-संरक्षण—

प्रतिदिन व्यवहार में आने वाला अन्न भी हम दकियानूसी भारतीयों की दृष्टि में "भगवान" माना जाता है। हम भोजन के अवसर पर उसे **'अन्नभगवान्'** मानते हुए ही अपना अहरहर्यज्ञ सम्पन्न करते हैं [**अन्नं ब्रह्मेत्युपासीत**]। मार्ग में चलते हुए यदि कहीं चतुष्पथ [चौराहा] आजाता है, तो उसे रुद्रदेवतामय मानते हुए आदरपूर्वक उस की सीमा से बाहिर होकर निकलना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं–[**एतद्वै-जान्धितमं प्रज्ञातं स्थानं, यच्चतुष्पथम्**" '–शत०२।६।२।७।]। तात्पर्य–इस भौतिक विश्व में चर-अचर-चेतन-अचेतन, ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं, जहाँ हम ब्रह्म की व्यापकसता का अनुभव न करते हों। अपनी योग्यतानुसार यत्रतत्र सर्वत्र भगवद्भावना को व्यावहारिकरूप देते रहना हीं हम ग्रामीणों का शाश्वत सम्प्रदाय है। साथ ही यह भी निश्चित बात है कि, संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं, जिस से हमारा उपकार न होता हो। दूसरे शब्दों में एक विशेष प्रकार से हम उन को उपकारक न बनालेते हों। प्रकारवैशिष्ट्य से जीवन नाशक विष [सँखिया] भी अमृत बनता देखा गया है, अमृत बन जाता है। फिर यों तो बुद्धिदोष से तो जीवनीय अन्न भी विष बन जाता है। जब योग्यतानुबन्धी प्रकारविशेषों से तत्तदवस्थाविशेषों में सभी पदार्थ हमारे

उपकारक बन जाते हैं, सभी से हम अपने आत्मामें अतिशय उत्पन्न कर सकते हैं, तो अवश्य ही पूर्वलक्षणानुसार पदार्थमात्र को हम "उपास्य" कह सकते हैं।

६२५–सुप्रसिद्ध–'कलम-दवात-पूजन' नामक लौकिक उदाहरण के माध्यम से भारतीय-उपासना-तत्त्व का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

इतनी दूर जाने की क्या आवश्यकता है। सर्वव्यापक इस उपास्यदेव के दर्शन के लिए भारतीय कुछ एक त्यौंहार ही पर्य्याप्त सिद्ध होंगे। वर्ष में एक बार 'दावातपूजनोत्सव' मनाया जाता है। जयपुरप्रान्त में तो यह उत्सव राजा-प्रजा सर्वत्र बड़े आवेग के साथ मनाया जाता था। राज्य में छुट्टी रहती थी। कलम-दावात् एवं कलमदान आदि की भगवत्प्रतिमा की भाँति धूप-दीप-नैवेद्यादि से पूजन होता था, जो आज के धर्म्मनिरपेक्षयुग में अत्र परिसमाप्तप्राय है। कारण स्पष्ट है। कलम दावात जड़ पदार्थ हैं, यह सार्वजनीन-प्रत्यय है। परन्तु इसके साथ ही यह भी सर्वसम्मत है कि, मनुष्य के राजनैतिक, सामाजिक, एवं आध्यात्मिक विकास का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इन जड साधनों की चिरकालिक उपासना [व्यवहार] से मनुष्य योग्यता के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित होता देखा गया है। प्रश्न यह शेष रह जाता है कि, यदि हम एक दिन इस का पूजन न करेंगे, तो क्या यह काम न देंगी ?। देंगी, और अवश्य देंगी। क्या दावातपूजन के नाम से भी अपरिचित पश्चिमी देश, अथवा सभ्यताभिमानी आजकल के शिक्षक भारतीय लेखनकला में पारङ्गत नहीं होते ?। हुए हैं, होते रहेंगे। फिर इस जड़पूजन के आडम्बर का क्या महत्त्व ?।

६२६–दिग्भ्रान्तों के आपातरमणीय 'सुन्दर' प्रश्नों के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन-निवेदन—

प्रश्न वास्तव में सुन्दर है। और ऐसे ऐसे असंख्य प्रश्नों की इसी बाह्यसुन्दरताने हमारी मौलिकता का सर्वनाश भी किया है। पद पद पर देवभावना का अनुभव करने वाले दिव्यभावमय भारतीय इसी सुन्दरता के प्रलोभन में पड़ कर आज अपने उन शाश्वत दिव्यसंस्कारों को जलाञ्जलि समर्पित कर चुके हैं, जिन संस्कारों की विद्यमानता में सुविधाजनक असंख्य भौतिक आविष्कारों के न रहने पर भी वे पूर्ण शान्त थे, पूर्ण सुखी थे।

६२७–भारतीय बालबन्धु के जन्मानुगत 'उपास्य' तत्त्वानुबन्धी दिव्यसंस्कारों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

जन्म से ही हमें यह शिक्षा मिलती थी कि–देखो ! भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं। विश्व का प्रत्येक पदार्थ भगवान् की विभूति है, उसकी प्रतिमा है। तुह्मारा सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन इसी भावना को मूलमें रखते हुए आगे बढ़ना चाहिए। यही मानस संकल्प तुह्में बलप्रदान करेगा, और इसी उपासनात्मक बल से तुह्मारा अभ्युदय होगा। कहना न होगा कि, पद पद पर 'मनोविज्ञान' की घोषणा करने वाले, किन्तु व्यवहारत: इससे सर्वथा पराङ्मुख उन प्रश्नकर्त्ताओं की अपेक्षा भारतीय आस्तिक वर्गने इस मनोविज्ञान को विशेष महत्त्व दिया। चटशाला में जाकर देखिए। काष्ठपट्ट पर लिखने वाला एक अबोध शिशु भी अक्षर लिखने के पीछे उन्हें मिटाकर अपने मस्तक पर लगा लेता है। उससे यदि आप यह पूछें कि, तुमने ऐसा

क्यों किया, ? ईश्वर-आत्मा आदि के रहस्यात्मक स्वरूपों से सर्वथा वञ्चित रहता हुआ वह अबोध शिशु भी "यह गणेश जी का प्रसाद है, विद्यामाता है" यह उत्तर देता हुआ आपकी आस्तिकता के गर्व को चूर्णित करदेगा।

६२८-परमार्थदृष्ट्या भगवत्सत्ता की सर्वव्यापकता, एवं तन्निबन्धना पदार्थमात्रानुबन्धिनी--उपास्यरूपता का स्वरूप--समन्वय—

परमार्थ में तो इस व्यापक-भगवद्भावना का विरोध हो ही नहीं सकता। कौनसा ऐसा पदार्थ है, चाहे फिर दावात हो, कलम हो, पत्थर हो, और कुछ हो, जिसमें ज्ञानघन श्वोवसीयस् अव्ययदेवता प्रतिष्ठित न हो। और इस परमार्थचैतन्यवाद की दृष्टि से तो सर्वत्र वही वह है। परन्तु अस्मत्-सदृश सामान्य अधिकारियों को भी क्रमशः इस व्यापक चैतन्यवाद का बोध होता जाय, इसी लोकाशिक्षण-भावना से प्रेरित होकर उक्त जड़पूजनात्मक तत्तदुत्सवों का आविष्कार हुआ है। पूजन-न करने पर भी दावात से लाभ उठाया जासकेगा, परन्तु पूजन करने से जो दिव्यभाव आत्मा में प्रतिष्ठित होते हैं, उस लाभ के सामने एक दो प्रश्न तो क्या, सम्मिलिता प्रश्नसाहस्री की सुन्दरता भी कोई महत्त्व नहीं रखती। अस्तु, जाने दीजिए इस विषयान्तर को। प्रकृत विषय पर आइए। दुनिया क्या समझती है, क्या कर रही है, किधर जारही है?, यदि आप इसी उधेड़बुन में लगे रहेंगे, तो आप भी लक्ष्यच्युत होजायँगे। आपको, और हमें तो क्यों, क्या, कैसे, के नारकीय पथ की उपेक्षा कर ऋषियों के द्वारा अनन्तकाल की सत्यपरीक्षाओं से परीक्षित आदेशानुगमन को ही प्रधान लक्ष्य बनाए रखना चाहिए।

६२९-आधिकारिक--अचेतन--उपास्य--जीवों के तात्त्विक--स्वरूप का दिग्दर्शन, एवं तत्र व्याससूत्र का संस्मरण—

आधिकारिक जीव, आश्वत्थिक जीव, भेद से जीव-विवर्त्त दो भागों में विभक्त माना गया है। आधिकारिक जीव का सामान्य नाम "अवतारजीव" है, एवं आश्वत्थिक जीव का सामान्य नाम "कर्म्म-जीव" है। अवतारजीव कर्म्म करते हैं, कर्म्मजीवों से कहीं अधिक कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहते हैं। परन्तु वे कर्म्म पर आरूढ रहते हैं। वे कर्म्म के नहीं हैं, कर्म्म उनका है। कर्म्म उन पर कोई प्रभाव स्थापित नहीं करसकता। फलतः वे कर्म्मजनित संस्कारानुबन्धी द्वन्द्वभावों के [द्वन्द्वभावों में रहते हुए भी] पाशबन्धन से विमुक्त रहते हैं। अधिकृतकर्म्म पर आरूढ वे आधिकारिक जीव विश्वतन्त्र की अव्यवस्थाओं को दूर करते रहते हैं। तन्त्रायी विश्वेश्वर की इच्छा से अधिकार प्राप्त कर के आते हैं, और अधिकृतकर्म्म की समाप्ति पर तत्रैव विलीन होजाते हैं—"यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" (व्याससूत्र)।

६३०-'नित्य', तथा-'सामयिक' भेद से 'आधिकारिक-चेतन-जीवोपास्य' के दो विभिन्न विवर्त्त, एवं 'नित्य-आधिकारिक-चेतनोपास्यजीव' वर्ग का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

ये आधिकारिक जीव (जिन्हें कि अब हम अवतार शब्द से सम्बोधित करेंगे) नित्य, सामयिक भेद से दो प्रकार के हैं। सृष्टि के आरम्भ से अन्ततक (प्रलयतक) स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहने वाले अवतारजीव नित्य कहलाएँगे, एवं सृष्टिकाल में विशेष आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए विशेष समयों में

आविर्भूत होने वाले अवतारजीव **"सामयिक"** कहलावेंगे । आगे जाकर प्रत्येक के चेतन--अर्द्धचेतन--अचेतन-भेद से तीन तीन अवान्तर भेद होजाते हैं । पहिले क्रमप्राप्त नित्य त्रिविध अवतारजीवों की ही मीमांसा कीजिए । अष्टविध देवताओं में एक **"अभिमानी * देवता"** नाम का स्वतन्त्र देववर्ग है । यही अभिमानी देवता उपासना का मूल धरातल बनता है । आप देवताओं के जितनें भी नाम सुनते हैं, उन सब के अभिमानी, भौतिक, दो दो रूप हैं । भौतिकरूप अचेतन हैं, अभिमानीरूप चेतन हैं । अपने इन्हीं अभिमानी रूपों से तत्तद्देवता उपासकों पर अनुग्रह किया करते हैं । सूर्य्य--चन्द्रमा--विराट्--यज्ञ--इन्द्र--ब्रह्मा-वरुण--अग्नि-रुद्र--इन सब भौतिक तत्त्वों के अपने अपने स्वतन्त्र अभिमानी देवता हैं । इन्हीं के लिए--**"अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्"** यह कहा जाता है । ये चेतनदेवता नित्य हैं, सृष्ट्यारम्भ में अधिकृत कर्म्म को लेकर इनका आविर्भाव हुआ है, एवं प्रलयोपक्रम में इन का तिरोभाव होगा । अतएव इन्हें--**"नित्य आधिकारिक चेतन जीव"** कहा जासकता है ।

६३१-'आधिकारिक-नित्य-अचेतन-उपास्यजीव' वर्ग का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं चेतन-अचेतन-अवतारोपास्यों का स्वरूप-संस्मरण—

यज्ञप्रजापति, विराट्प्रजापति, तत्पर्वरूप ३३ यज्ञियदेवता, आदि आदि भौतिक प्राणदेवतावर्ग अचेतन जीव माने जायँगे । ये अचेतन जीव अपने अभिमानी-लक्षण चेतन जीवों से नित्य युक्त रहते हैं । परन्तु उपासना, कर्म्म भेद से इन की दो स्थिति होजाती है । उपासना में चेतन जीव साध्य रहते हैं, अचेतन जीव साधन रहते हैं । सूर्य्यादि प्राणदेवताओं को लक्ष्य बना कर ही अभिमानी देवताओं से शक्तिलाभ किया जाता है । यज्ञकर्म्म में अचेतन जीव प्रधान बने रहते हैं । प्रत्यक्षदृष्ट अग्नि आदि द्रव्य ही प्रधान माने जाते हैं, परन्तु गौणदृष्टि से चेतनजीवों पर भी लक्ष्य अवश्य है । इधर विशुद्ध भौतिक विज्ञानकाण्ड में चेतन अभिमानी जीवों की सर्वथा उपेक्षा है । केवल अचेतन अग्नि--वायु--इन्द्र (विद्युत्) आदि पदार्थों का ही वर्त्तमान भौतिक वैज्ञानिक कर्म्म में समावेश है । चिदंश से वञ्चित, अतएव आत्यन्तिक जड़ भौतिक विज्ञान जहाँ विश्व को अधिकाधिक जड़ बनाता जारहा है, वहाँ चिदंशानुगृहीत यज्ञविज्ञानात्मक यज्ञकर्म्म किसी समय शान्तिसंवाहक बना हुआ था, यह तो सर्वविदित है ही । तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि-चेतन अभिमानी यज्ञावयवरूप कूर्म्म--वामन--वराहादि, विराट्--विराडवयवरूप--तत्त्वात्मक रुद्रवस्वादि पदार्थात्मक देववर्ग ही **"आधिकारिक अचेतन नित्य जीव"** कहलाएँगें । पूर्व के नित्य चेतन जीवों को (अभिमानी देवताओं को) यहाँ **चेतन अवतार** कहा जायगा, वहाँ इन तत्त्वलक्षण अचेतन जीवों को **अचेतन अवतार** माना जायगा ।

---

* इन आठों देवताओं का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथ-भाष्य प्रथमखण्ड में निकल चुका है । विशेष जिज्ञासा रखने वालों को वही प्रकरण देखना चाहिए । यहाँ विस्तारभय से इस प्रकरण को छोड़ दिया जाता है ।

६३२–'आधिकारिक-अर्द्धचेतन-उपास्य-जीव' वर्ग का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

तीसरा विभाग आधिकारिक नित्य अर्द्धचेतन जीवों का है। कौषीतकि उपनिषत्–की **पर्य्यङ्कविद्या** में जिन वृक्षादि का निरूपण हुआ है, वे नित्य अर्द्धचेतन आधिकारिक जीव माने जायँगे। ब्रह्मलोक * में रहने वालीं अप्सराओं की अधिदेवता, द्वारपाल आदि का चेतन जीवों में अन्तर्भाव माना जायगा। स्वर्गीय मालाएँ, विरजानदी, आसन्दी, पर्य्यंङ्क, इन सब उपकरणों का अचेतन जीवों में अन्तर्भाव माना जायगा, एवं वैदिक तिल्यवृक्ष, पौराणिक मन्दार--पारिजात--आदि स्वर्गीय वृक्ष नित्य अर्द्धचेतन जीव माने जायँगे। ब्रह्मादि-लोक शाश्वत हैं। उन की सृष्टि की अथ से इति पर्य्यन्त सत्ता रहेगी। अतएव इन स्वर्गीय वृक्षात्मक अर्द्ध-चेतन जीवों को हम अवश्य ही "**आधिकारिक अर्द्धचेतन नित्य**" जीव कहेंगे।

६३३–आधिदैविक-अर्द्धचेतन-उपास्य जीवों के विभिन्न पारिभाषिक-वर्गों का स्वरूप-समन्वय—

ओषधि वनस्पति–वर्ग को ही अर्द्धचेतन जीव माना गया है। मनुष्यकृत वैधयज्ञ में **सोमवल्ली, उदुम्बरवृक्ष, पलाश, श्रीपर्णी, कार्ष्मर्य्य, अश्वत्थ** आदि जो ओषधि वनस्पतियाँ काम में लीं जातीं हैं, इन सब का मूल आधिदैविक तत्तत् ईश्वरीय अङ्गों में मूलरूप से प्रतिष्ठित है। सोमवल्ली का मूलरूप तृतीय द्यु लक्षण परमेष्ठी में हैं। (**तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्**)। पार्थिव गायत्री के द्वारा ही वह '**पर्ण**' भूपृष्ठ पर पार्थिव सोमवल्ली रूप में परिणत होता है। वहीं उदुम्बर का मूल है। वहीं अश्वत्थ है— "**अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता। गोभाज इत्किलासथ यत् सनवथ पूरुषम्**" इत्यादि अथर्वमन्त्रने इसी स्वर्गीय नित्यवृक्ष की महिमा का बखान किया है। पलाशवृक्ष का मूल स्वायम्भुव ब्रह्म-लोक माना गया है–"**पालाशो वै ब्रह्म**"। इन सब मूलरूपों को, जो कि ईश्वरीय–विभूतिमण्डल में सदा प्रतिष्ठित रहते हैं, नित्य अर्द्धचेतन जीव माना जायगा। नित्य शब्द से प्रकृत में ईश्वरीय आधिदैविक मण्डल ही अभिप्रेत है। एवं सामयिक शब्द उन पदार्थतत्त्वों का वाचक है, जो समय समय पर भूपृष्ठ पर आते, एवं जाते रहते हैं।

६३४-नित्य-चेतन-उपास्य-जीवों के विविध स्वरूपों का स्वरूप-संस्मरण—

अभिमानी यज्ञप्रजापति, यज्ञप्रजापति के अवयवरूप कूर्म्म--वामन, वराहादि नित्यावतार, विराट्प्रजापति, विराट्प्रजापति के अवयवरूप दिव्य [सौर] अग्नीन्द्ररुद्रवस्वादि देवता, पार्थिव (महिमायुक्त पार्थिव) शिव--शक्ति--गणपति--पक्षीराज आदि देवता, इन सब का ईश्वरीय आधिदैविक मण्डल से सम्बन्ध है, अतएव इन्हें हम अवश्य ही नित्य चेतन जीव कह सकते हैं।

६३५-चेतन-अर्द्धचेतन-अचेतन-भेद-निबन्धन-त्रिविध उपास्यों का पारिभाषिक-समन्वय–

भौतिक पिण्डात्मक पञ्चपर्वा (आंशिकरूप से प्रत्यक्षदृष्ट) यज्ञप्रजापति, यज्ञप्रजापति के अवयवरूप, (आंशिक रूप से प्रत्यक्षदृष्ट) वामन--वराह--कूर्म्मादि, आंशिक रूप से प्रत्यक्षदृष्ट, दृश्यजगत् का आलम्बन-

---

* इस विषय का संक्षिप्त विवेचन श्राद्धविज्ञानान्तर्गत आत्मगत्युपनिषत् में, एवं विशद विवेचन कौषीतकि–ब्राह्मणोपनिषद्विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

रूप पार्थिव विराट्प्रजापति, विराट्प्रजापति के अवयवरूप, आंशिकरूप से प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक पदार्थ लक्षण इन्द्राग्नि–वाय्वादित्य दिव्यदेवता, अग्नि--उषा--गायत्री आदि पार्थिव देवता (पदार्थ), इन सब का भी ईश्वरीय आधिदैविक मण्डल से ही सम्बन्ध है। अतएव इन्हें भी हम अवश्य ही नित्य अचेतन जीव कह सकते हैं। एवमेव इसी दिव्यमण्डल से सम्बन्ध रखने वाले उक्तलक्षण मूलात्मक तत्तल्लोकावस्थित दिव्य ओषधि--वनस्पतिवर्ग को भी नित्य आधिकारिक अर्द्धचेतन जीव ही माना जायगा।

६३६-नित्य–आधिकारिक–अवताररूप–चेतनजीववर्गः (नित्यावतारपरिलेखाः)—

नित्यावतारत्रयी —

१–अभिमानीदेवता [यज्ञप्रजापतिः, विराट् प्र० तदवयवाश्च]—नित्यचेतनजीववर्गः

२-तत्त्वदेवता [यज्ञः, विराट्, अवयवाश्च]——————नित्य अचेतन-जीववर्गः

३-मूलदेवता [दिव्यलोकस्थौषधिवनस्पतयः]——————नित्य अर्द्धचेतन-जीववर्गः

——*——

६३७-[१]–यज्ञप्रजापतिः–(चेतनो नित्यः)। (एकबल्शेश्वरः)।

——*——

यज्ञप्रजापतिः—पञ्चपर्वा —

१–स्वायम्भुवः—ब्रह्मा–ऋषिप्राणप्रवर्त्तकः प्राणमयः [वाङ्मूर्त्तिः] अभिमानी चेतनः

२–पारमेष्ठ्यः—विष्णुः–पितृप्राणप्रवर्त्तकः–आपोमयः [अब्मूर्त्तिः] अभिमानी चेतनः

३–सौरः————इन्द्रः—देवप्राणप्रवर्त्तकः–वाङ्मयः [अग्निमूर्त्तिः] अभिमानी चेतनः

४–चान्द्रः——सोमः—गन्धर्वप्राणप्रवर्त्तकः–अन्नमयः [अब्मूर्त्तिः] अभिमानी चेतनः

५–भौमः——-अग्निः–असुरप्राणप्रवर्त्तकः अन्नादमयः [वाङ्मूर्त्तिः] अभिमानी चेतनः

विष्णु-इन्द्र-सोम-अग्निगर्भितः, ब्रह्मणः संयती, विष्णोः क्रन्दसी, इन्द्रस्य रुद्रस्य वा इन्द्राग्निसोममयी रोदसी, इत्येतेषां भूर्भुवः स्वरात्मकानां महाव्याहृतिरूपाणां त्रयाणां लोकानां समष्टया सप्तवितस्तिकायात्मकः सर्वहुतयज्ञमूर्त्तिः, वाक्–आपः–अग्निः, अग्निः–आपः–वाक् इत्येतेषां षट्–शुक्राणामावासभूमिः, एकबल्शेश्वरः, · सहस्रबल्शेश्वरस्य षोडशीप्रजापतेरवयवरूपः, नित्यावतारः सर्वावतारप्रवर्त्तकः समहिमः स्वायम्भुवो ब्रह्मा वेदमूर्त्तिः–"यज्ञप्रजापतिः"। (संयती–प्रधानो द्युस्थानीयो ब्रह्मा)।

 (२)-विराट् प्रजापतिः (चेतनो नित्यः)—(पार्थिवेश्वरः) ।

१	१-स्वरेन्द्रः (४८) द्यौः—जगती २-वर्णेन्द्रः (४४) अन्त०-त्रिष्टुप् ३-व्यञ्जनेन्द्रः (२४) पृथि०-गायत्री	ऐन्द्री पृथिवी द्यौः जगती इन्द्रः वाक्	सर्वज्ञइन्द्रः-अभि-चेतनः
२	१-दिक्सोमोविष्णुः (३३) द्यौः-ज० २-भा०सोमोविष्णुः (२७) अन्त०-त्रि० ३-वेनः-विष्णुः (२१) पृ०-गा०	वैष्णवीपृथिवी अन्तरिक्षम् त्रिष्टुप् विष्णुः (आपः)	हिरण्यगर्भवायुः-अभि०चेतनः
३	१-आदित्यः (२१) द्युलोकः ज० २-वायुः (१५) अन्त० लोकः त्रि० ३-अग्निः (६) पृथि० लोकः गा०	ब्राह्मीपृथिवी पृथिवी गायत्री ब्रह्म । (अग्निः)	वैश्वानराग्निः-अभि०चेतनः
४	१-परिणाहः-इन्द्रः-भूलोकः ज० २-विष्कम्भः-विष्णुः-भुवर्लोकः त्रि० ३-हृदयम्—ब्रह्मा—स्वर्लोकः गा०	ब्रा० वै० रो० भूमिः भूमिः (नित्यपिण्डः)	गायत्राग्निः-अ०चेतनः

(वि रा ट् प्र जा प तिः)

त्रैलोक्यत्रिलोकीरूपायां (रोदसीत्रिलोकीरूपायां वा) पृथिव्यन्तरिक्षद्यु रात्मिकायां महापृथिव्यां सहस्रशीर्ष-सहस्राक्ष-सहस्रपादूरूपेण प्रतिष्ठितः, पद्भ्यां च भूमौ प्रतिष्ठितः, वाक्साहस्री-(वषट्कार) प्रवर्त्तक-सर्वज्ञेन्द्र,-लोकसाहस्री-प्रवर्त्तक- हिरण्यगर्भविष्णु,-वेदसाहस्री-प्रवर्त्तक-वैश्वानरब्रह्ममूर्त्तिः, वागापोऽग्निमयः, इन्द्र-वायु-अग्नि-प्रधानः, पार्थिवेश्वरः, यज्ञप्रजापत्यवयवरूप-भूपिण्डविवर्त्तभावात्मकः, यज्ञप्रजापतेः प्रथमावतारः, सर्वसत्त्वप्रवर्त्तकः, सर्वभूतान्तरात्मेति निगदितः, पारमेष्ठ्यो विष्णुः, लोकमूर्त्तिः-"विराट्प्रजापतिः" (क्रन्दसीप्रधानः-अन्तरिक्ष-स्थानीयो विष्णुः) ।

—*—

६३९-(३)–कूर्म्मप्रजापतिः-(चेतनो नित्यः)-(अवयवावतारी–दिव्यः)।

१–स्वरेन्द्रो मघवा–(४८–स्तोमात्मकेद्यु लोके प्रतिष्ठित:-वाङ्मयः)–अभिमानी चेतनः	कूर्म्मप्रजापतिः
२–वर्णेन्द्रो मरुत्वान्–(४४-स्तोमात्मकेऽन्तरिक्षेप्रति०––आपोमयः)–अभिमानी चेतनः	
३–व्यञ्जनेन्द्रो वासवः–(२४–स्तोमात्के पृथि० प्रतिष्ठित:-अग्निमयः)-अभिमानी चेतनः	

कूर्म्मत्रिलोकिप्रवर्त्तकः, वेदे––"**कश्यप-पश्यक कूर्म्म–आदित्ये**" ति प्रसिद्धः, पुराण–समये "**कश्यपप्रजापतिः--दक्षजामाते**"----ति प्रथितः, पार्थिवदध्ना (घनरसेन)–आन्तरीक्ष्य–घृतेन [तरलरसेन]–दिव्यमधुना (विरलरसेन) अभ्यक्तः (अभिषिक्तः), द्वादश-त्रयोदश-वा–दक्षकन्याभिः कृतमिथुनः, द्वादशधा विभक्तः काश्यपीसृष्टिप्रवर्त्तकः, रसत्रयमूर्त्तिः, त्रिदिव्येन्द्रकृतरूपः, विराट्प्रजापतेः शिरःस्थानीये ४८–४४–२४ स्तोमात्मके–द्यु--अन्तरिक्ष–पृथिवीरूपे, स्वर–वर्ण–व्यञ्जनमये त्रैलोक्यात्मके--ऐन्द्रपार्थिवलोके वाङ्मये द्युस्थानीये प्रतिष्ठितः, यज्ञप्रजापत्यवयव-भूतायां रोदसीत्रिलोक्या द्युलोके (सूर्य्ये) अन्तर्गर्भितायां--ऐन्द्री--त्रिलोक्यां प्रतिष्ठितत्त्वात्--यज्ञ-प्रजापतेरवयवः, विराट्प्रजापत्यवयवभूते--ऐन्द्र--लोके प्रतिष्ठितत्त्वात् विराट्प्रजापतेश्चावयवः–"**कूर्म्मप्रजापतिः**" (अवयवावतारो--"दिव्यः")।

६४०(४)वराहप्रजापतिः-(चेतनो नित्यः)-(अवयवावतारः-आन्तरीक्ष्यः)।

१-दिक्सोमः----आदिवराहः (-३-स्तोमात्मकेद्यु लोके प्रतिष्ठितः-वाङ्मयः) अभिमानीचेतनः	वराहप्र-जापतिः
२--भास्वरसोमः-ब्रह्मवराहः (२७-स्तोमात्मकेऽन्तरिक्षेप्रति०---आपोमयः) अभिमानीचेतनः	
३--वेनः——यज्ञवराहः (२१-स्तोमात्मके पृथि० प्रति०—-अग्निमयः) अभिमानीचेतनः	

"एमूष[1]-ब्रह्म[2]--श्वेत[3]--यज्ञ[4]--आदिवराह[5]" इत्येतैः पञ्चरूपैः--भूमिः[1]-चन्द्रमाः[2]-सूर्य्यः[3]-परमेष्ठी[4]-स्वयम्भूः" इत्येतेषां पिण्डभावानां (संवरण--व्याप्ति--भावाभ्यां) स्वरूपसम्पादको रक्षकः, वेदे---"वराह-वायु-पशूनां मन्यु-मातरिश्वा" इत्येवं प्रथितः, पुराणसमये च--"वराहप्रजापतिः-पृथिवीपतिः-भूम्युद्धारकः" इत्युपवर्णितः, अनेजदेजल्लक्षणे द्विब्रह्मणि (यजुःपुरुषे) तेजः-स्नेहलक्षणस्य भृग्वङ्गिरोमयस्य रेतोरूपस्य षड्ब्रह्मणः (अपां) आधाता, त्र्यन्तरिक्षविष्णुकृतरूपः, विराट्प्रजापतेर्हृदयस्थानीये ३३--२७--२१ स्तोमात्मके, द्यु--अन्तरिक्ष--पृथिवीरूपे--दिक्सोम--भास्वरसोम--वेन (तेजोमय्य आपः) मये त्रैलोक्यात्मके, वैष्णवपार्थिव-लोके आपोमये अन्तरिक्षस्थानीये प्रतिष्ठितः, यज्ञप्रजापत्यवयवभूतायां रोदसीत्रिलोक्या-अन्तरिक्षलोके अन्तर्गर्भितायां वैष्णवीत्रिलोक्यां प्रतिष्ठितत्त्वात्-यज्ञप्रजापतेरवयवः, विराट्प्रजापत्यवयवभूते--वैष्णवलोके प्रतिष्ठितत्त्वात्--विराट्प्रजापतेश्चावयः-----"वराहप्रजापतिः" (अवयवावतारः--आन्तरीक्ष्यः)।

६४१ [५]-वामनप्रजापतिः [चेतनो नित्यः]-[अवयावतारः-पार्थिवः]-

१-आदित्यः-दिव्यवामनः [२१-स्तोमात्मकेद्यु लोके प्रतिष्ठितः-वाङ्मयः]-अभिमानी-चेतनः	
२-वायुः—-आन्त०वामनः[१५-स्तोमात्मकेऽन्तरिक्षे प्रतिष्ठितः-आपोमयः] अभिमानी-चेतनः	-वामनप्रजापतिः
३-अग्निः-—पा० वामनः [९-स्तोमात्मके पृथि० लो०प्रति-अग्नियमः] अभिमानी-चेतनः	

गायत्री-छन्दसा त्रिवृत्स्थानीयं पृथिवीलोकमेकेनपदा, त्रैष्टुभेन छन्दसा पञ्चदशस्थानीय-मन्तरिक्षलोकं द्वितीयेन पदा, एवं जागतेन छन्दसा एकविंशस्थानीयं द्यु लोकं तृतीयेन पदा-आक्रम्य त्रिभिर्विक्रमैस्त्रैलोक्ये (उख्यत्रैलोक्ये)व्याप्तः-भूगर्भे च प्रादेशमिते स्थाने व्याप्तः सन् वामनो विष्णुः, वेदे-**उरुक्रमः-वामनः-म्लानविष्णुः-त्रिविक्रमः**"इत्येवंरूपेण स्तुतः, पुराणसमये च "**वामनावतारः-यज्ञपतिः-बलिवञ्चकः-"त्रिविक्रमावतारः"** इत्येवंरूपेणोपवर्णितः, **गङ्गा-तुलसी-लक्ष्मी-सरस्वती-पृथिवी**-इत्येताभिर्मिथुनीकृतरूपः पञ्चपत्नीकः, नाचिकेतस्वर्गाधिपतिः यज्ञसाक्षी, यज्ञविरष्ठसन्धाता, बैकुण्ठनाथः, द्विभुजः, श्याममूर्तिः, मेघवर्णः, उपासकसमये च "**शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम्**" इत्येवंरूपेण नुतः, संवत्सरे ८-४ इति क्रमेण शयानः प्रबुद्धश्च, त्रिपृथिव्यग्निकृतरूपः, विराट्प्रजापतेश्चरणस्थानीये-२१-१५-९ स्तोमात्मके द्यु-अन्त०-पृथिविरूपे, आदित्य-वायु-अग्निमये त्रैलोक्यात्मके ब्राह्मपार्थिवलोकेऽग्निमये पृथिवी-स्थानीये प्रतिष्ठितः, यज्ञ-प्रजापत्यवयवभूतायां रोदसी त्रिलोक्याः-पृथिविलोकेऽन्तगर्भितायां ब्राह्मी-त्रैलोक्यां प्रतिष्ठितत्त्वात् यज्ञ-प्रजापतेरवयवः, विराट्प्रजापत्यवयवभूते ब्राह्मलोके प्रतिष्ठितत्त्वात् विराट्प्रजापतेश्चावयवः—"**वामनप्रजापतिः**" (अवयवातारः-पार्थिवः)।

६४२–हरेः–पञ्चावताराः—

१–यज्ञप्रजापतिः–––एकबल्शेश्वरः–––पूर्णावतारः	हरेः पञ्चावताराः
२–विराट्प्रजापतिः—पार्थिवेश्वरः——अंशावतारः	
३–कूर्म्मप्रजापतिः—महीश्वरः———अवयवावतारो दिव्यः	
४–वराहप्रजापतिः—सागराम्बरेश्वरः—— ,, आन्तरीक्ष्यः	
५–वामनप्रजापतिः––उर्व्वीश्वरः— ,, पार्थिवः	

६४३--यज्ञप्रजापतिरूप-ब्रह्मावतार-समर्थकानि वचनानि [१]—

१—ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥

—ऋक्सं० ६।९६।६।

२—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्व्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥

—मुण्डकोपनिषत् १।१।१।

३—ब्रह्म वै स्वयम्भूः–तपोऽतप्यत । तदैक्षत–न वै तपस्यानन्त्यमस्ति । हन्त ! भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि–इति । तत्सर्वेषु भूतेषु–आत्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि (हुत्वा)–सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं–स्वाराज्यं––आधिपत्यं––पर्य्यैत् ।

—शतपथब्राह्मण १३।७।१।१।

——**——

६४४--विराट्प्रजापति-[अवतार]-समर्थकानि-वचनानि [२]—

१—तस्मात्–विराट्–अजायत, विराजो अधिपूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥

—ऋक्सं० १०।९०।५।

२—आदित्य उकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औ--हौ--इकारः-प्रजापतिर्हिङ्कारः-
प्राणः--स्वरः--अन्नं,--या वाक्--(सा) 'विराट्'।

—छान्दोग्योपनिषत् १।१३।२।

३-पुरुषो ह नारायणोऽकामयत--अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि, अहमेवेदं सर्वं स्याम्-इति। स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं--यज्ञक्रतुमपश्यत्। तेन सर्वमभवत्। चत्वारिंशदक्षरा विराट्। तद्विराजमभिसम्पद्यते। ततो विराडजायत। विराजो अधिपूरुषः।

—शतपथब्राह्मण १३।६।१।१,२,।

——**——

६४५--कूर्म्मप्रजापति-[अवतार]-समर्थकानि-वचनानि [३]—

१—कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।
स्वयम्भूः-कश्यपः कालात्, तपः कालादजायत॥

—अथर्वसं० १६।५३।१०।

२—स यत्-कूर्म्मो नाम-एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत-अकरोत्-तत्। यदकरोत्-तस्मात् कूर्म्मः। कश्यपो वै कूर्म्मः। तस्मादाहुः-सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः-इति।

—शत० ७।५।१।५।

३—तां-पृथिवीं-संक्लिश्याप्सु-प्राविध्यत् तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत्-स कूर्म्मोऽभवत्।

—शत० ६।१।१।१२।

४—स यः स कूर्म्मः, असौ स आदित्यः।

—शत० ६।५।१।६।

——**——

६४६-वराहप्रजापति [अवतार]-समर्थकानि-वचनानि [४]—

१—प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति।
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा "वराहो" अभ्येति रेभन्॥

—ऋक्सं० ६।६७।७

२—अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो 'मातरिश्वा' दधाति ॥
—ईशोपनिषत् ४

३—तां-प्रादेशमात्रीं पृथिवीं-एमूष इति वराह उज्जघान । सोऽस्याः-पृथिव्याः-पतिः प्रजापतिः ।
—शत० १४।१।२।११।

४-स-प्रजापतिः--वै वराहो रूपं कृत्वा उपन्यमज्जत् ।
—तै० ब्रा० १।१।३।६।

——**——

६४७-वामनप्रजापति--[अवतार]--समर्थकानि--वचनानि [५]—

१—इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् । समूलमस्य पांसुरे ॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । अतो धर्म्माणि धारयन् ॥
—ऋक्सं० १।२२।१७,१८,।

२—ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति, अपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥
—कठोपनिषत् ५।३।

३—वामनो ह विष्णुरास । ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्य्यगृह्णन् ।
— शत०१।२।५।५,६,।

——**——

६४८-'अवतार' शब्द का विष्णुदेवतानुगतत्त्व, एवं विष्णु के पारिभाषिक-अवतारधर्म्म का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय —

सम्भवत: पाठकों को यह स्मरण होगा कि, हमने अवतार का सम्बन्ध विष्णु से बतलाया था । ब्रह्मा, एवं इन्द्रात्मक शिव को तटस्थ माना था । बात वास्तव में ऐसी ही है, जैसा कि पाठक मूलभाष्य के **"यदा यदा हि धर्म्मस्य०"** इत्यादि प्रकरण में देखेंगे । अभी इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि—अवतार का मुख्य हेतु **"धर्म्मग्लानि"** का उपशम ही है । एवं धर्म्मतत्त्व के प्रधान अध्यक्ष विष्णुदेवता ही माने गए हैं । धर्म्म एक सत्य नियति है, (शत०१४।४।२।२६।) । सत्यनियति की प्रथम विकासभूमि **"अप्तत्त्व"** है (शत०७।४।१।६।) । अप्तत्त्व ही सोमतत्त्व है, यही विष्णु है । सोमसम्बन्ध से जहाँ आपोमय परमेष्ठीमण्डल वैष्णव कहलाता है, वहाँ सोम ही की घनावस्थारूप अप्तत्त्व के सम्बन्ध से इसे वारुण कहा जाता है । अपरिपक्व

पारमेष्ठ्य तत्त्व वरुण है, अतप्ततनु में इसी की प्रधानता रहती है। परिपक्व वही पारमेष्ठ्य तत्त्व विष्णु है। तप्ततनु में इसी का साम्राज्य रहता है। अतप्त आपोमय वरुण का तप्त–परिपक्व–सोम भाग ही भर्ग है, यही भर्ग यज्ञरूप विष्णु है। यही वारुण मण्डल से प्रवृत्त होकर दशधर्म्मरूप में परिणत हुआ है। दूसरे शब्दों में-आपोमय-भर्गात्मक वारुण धर्म्म ही सोममय विष्णुरूप से प्रवृत्त–होकर १० रूपों में परिणत होता है। **"दशकं धर्म्मलक्षणम्"** इस दशविध स्मार्त्त धर्म्म का मौलिक रहस्य भर्ग के ये ही १० रूप हैं। **"ददौ च दश धर्म्माय"** के पौराणिक आख्यान का भी यही मौलिक रहस्य है। क्योंकि धर्म्म की प्रतिष्ठा विष्णु है, अतः तद्ग्लानि के उपशम में इसी को पूर्णरूप से, अथवा अंशरूप से, अथवा अवयवरूप से आवश्यकतानुसार अवतार लेना पड़ता है। पूर्वोक्त पाँचों अवतार इसी विष्णु के नित्यावतार हैं।

६४९–दशावतारों से विभिन्न भगवान् वासुदेव-कृष्ण के पूर्णावतारतत्त्व का रहस्यात्मक-समन्वय —

(१) स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन पाँचों पर्वों की समष्टि में पूर्णभाव का समावेश है। सहस्रवल्शेश्वर षोडशी–प्रजापति की पूर्णता का, किंवा सर्वेश्वरता का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं पाँचों पर्वों को है। क्योंकि यज्ञप्रजापति में पाँचों का संग्रह है, अतः इसे अवश्य ही **"नित्य आधिकारिक–चेतन पूर्णावतार"** कहा जास ता है। एकवल्शात्मक एक ब्रह्माण्ड ही इस का व्याप्तिस्थान है। ये ही पूर्णावतार गोलोकवासी ब्रजविहारी, गोसवयज्ञधिष्ठाता अर्जुनमित्र [इन्द्रमित्र], औपनिषद ज्ञानप्रवर्त्तक गोविन्द भगवान् हैं, जैसाकि **कृष्णतत्त्वनिरूपणकाण्ड** में विस्तार से निरूपित है। इसी यज्ञेश्वर पूर्णावतार विष्णु की स्तुति करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥

—ऋक्सं० १।२२।१९।

६५०–'पार्थिवेश्वर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

(२) इस यज्ञेश्वर प्रजापति के अन्तिम पर्वात्मक भूपर्व से विराट्-कूर्म्म-वराह-वामन, इन चार अवतारों का विकास हुआ है। भूपिण्ड, ब्राह्मी पृथिवी, वैष्णवी पृथिवी–ऐन्द्री पृथिवी, इन चारों की समष्टिरूप पार्थिव विवर्त्त ही विराट् की आवासभूमि है। अतएव इसे हम **"पार्थिवेश्वर"** कह सकते हैं। यही **"नित्य आधिकारिक चेतन अंशावतार"** कहा जाता है।

६५१–'महीश्वर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

(३) विराट्प्रजापति का शिरःस्थानीय ४८ स्तोमात्मक पार्थिव विवर्त्त **"मही"** नाम से प्रसिद्ध है। विराडवयभूत कूर्म्मप्रजापति का व्याप्तिस्थान यह मही नामक पार्थिव विवर्त्त ही है। अतएव इसे **'महीश्वर'**

कहा जासकता है । क्योंकि मही नामक पार्थिव विवर्त्त [ऐन्द्री पृथिवी] द्युलोक स्थानीय है । अतएव इसे "नित्यआधिकारिक चेतन दिव्य अवयवावतार" कहा जायगा ।

६५२–'सागराम्बरेश्वर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

[४] विराट्प्रजापति का हृदयस्थानीय ३३ स्तोमात्मक पार्थिव त्रिवर्त्त **"सागराम्बरा"** नाम से प्रसिद्ध है । विराडवयवभूत वराहप्रजापति का व्याप्ति स्थान-सागराम्बरा नामक यही पार्थिव विवर्त्त है । अतएव इसे **सागराम्बरेश्वर** कहा जायगा । क्योंकि सागराम्बरा नामक पार्थिव विवर्त्त (वैष्णवी पृथिवी) अन्तरिक्ष–स्थानीय है । अतएव तत्सम्बन्धी वराहावतार को–**"नित्य आधिकारिक चेतन आन्तरिक्ष्य अवयवावतार"** कहा जायगा ।

६५३–'उर्व्वीश्वर-अवतार' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

[५] विराट्प्रजापति का हृदय-स्थानीय २१ स्तोमात्मक पार्थिव विवर्त्त **"उर्व्वी"** नाम से प्रसिद्ध है । विराडवयभूत वामनप्रजापति का व्याप्तिस्थान उर्व्वी नामक पार्थिव विवर्त्त ही है । अतएव इसे **उर्व्वीश्वर** कहा जायगा । क्योंकि उर्व्वी नामक पार्थिव विवर्त्त [ब्राह्मीपृथिवी] पृथिवी–स्थानीय है । अतएव तत्र व्याप्त वामनावतार **"नित्य आधिकारिक चेतन पार्थिव अवयवावतार"** कहा जायगा ।

६५४–विराट्प्रजापति के अवयवावतारों का स्वरूप-संस्मरण—

अवयव और अंश में कुछ अन्तर है, यह भी जान लेना चाहिए । अंश का प्रवर्ग्य से सम्बन्ध है, एवं अवयव का ब्रह्मौदन से सम्बन्ध है । उदाहरण के लिए यों समझिए कि, पुत्र पिता का अंश है, एवं पिता के हस्त-शिरः-पादादि पिता के अवयव हैं । विराट्प्रजापति प्रवर्ग्यरूप से एक स्वतन्त्र संस्था बन जाती है । अतएव इसे यज्ञप्रजापतिसुत कहा जाता है । अतएव इसे हम **"अंशावतार"** कहते हैं । उधर कूर्म्म–वराह–वामन–प्रजापति विराट्संस्था के गर्भ में ब्रह्मौदनरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव इन्हें अवयवावतार कहा जाता है । अंशावतार यज्ञ का अवतार है । तीनों अवयवावतार विराट् के अवतार हैं ।

६५५–चेतन-अचेतन-भेदनिबन्धन-अवतारों का स्वरूप-समन्वय—

अभिमानी–दृष्टि से ये ही पाँचों चेतन अवतार हैं, भूतदृष्टि से शरीररूप पाँचों की भौतिक संख्याएँ अचेतनावतार हैं । एवं ओषधि–वनस्पति के मौलिक नित्यरूप ही अर्द्धचेतनावतार हैं । इसप्रकार इन नित्य–आधिकारिक जीवों के तीन विवर्त्त होजाते हैं । इसके अनन्तर सामयिक आधिकारिक जीववर्ग हमारे सामने आता है । इसके भी ये ही तीन विवर्त्त हैं । दो शब्दों में इनके स्वरूप की भी मीमांसा कर लीजिए ।

६५६–सामयिक-अवतारों का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

सामयिक आधिकारिक जीव वे जीव माने जायँगे, जो समय समय पर विशेष परिस्थितियों में विशेषरूप धारण कर अवतीर्ण हुआ करते हैं, एवं अधिकृत कर्म्म की समाप्ति पर लीलासंवरण कर लिया करते हैं । इन साम-

यिक आधिकारिक जीवों के भी चेतन, अचेतन, अर्द्धचेतन भेद से तीन विवर्त्त हैं। तीनों में से क्रमप्राप्त पहिले चेतनवर्ग को ही लीजिए।

६५७-गोसवयज्ञाधिष्ठाता पारमेष्ठ्य-विष्णु के अवतारों का नाम-संस्मरण—

[१] जिन नित्यचेतन अवतारों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उन पाँचों हीं नित्यावतारों के सामयिक अवतार भी हुए हैं। समुद्रमन्थन के अवसर पर कूर्म्मावतार [कूर्म्माकृतिरूप] हुआ है। जलप्रलयावसर पर भूपिण्ड की रक्षा के लिए शूकरावतार हुआ है। बलिगर्वहरण के लिए वामन अवतार हुआ है। आगे-जाकर पूर्वोक्त नित्यावतारों के १० अवान्तर विवर्त्त होजाते हैं, जोकि "दशावतार" नाम से प्रसिद्ध हैं। ये १० सों हीं अवतार उस पूर्णावतार--लक्षण यज्ञप्रजापति--नामक गोसवयज्ञाधिष्ठाता विष्णु [कृष्ण] के ही अवतार हैं।

६५८-सामयिक-दशविध अवतारों का नामस्मरण, एवं 'सामयिक-आधिकारिक-अचेतनोपास्य-अवतार-जीवों का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

सामयिक अवतारों में मीन, कूर्म्म, वराह, वामन, बलराम, परशुराम, राम, बुद्ध, कल्की, नृसिंह, ये १० अवतार प्रसिद्ध हैं। यह एक रहस्य का विषय है कि, इन १० सों अवतारों में सुप्रसिद्ध कृष्णावतार का नाम नहीं है। कारण इस का यही है कि, दसों अवतार उस कृष्णमूर्त्ति यज्ञप्रजापति पूर्णावतार के ही अंशावतार हैं। एवं वासुदेव कृष्ण इस पूर्णावतार की ही प्रतिकृति हैं। नित्यावतारों में जो महत्त्व उस यज्ञप्रजापति का है, सामयिक अवतारों में वासुदेव कृष्ण का वही स्थान है। दोनों अभिन्न हैं। पूर्णावतारलक्षण यज्ञप्रजापति के स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी, ये पाँच पर्व हैं। इधर वासुदेव कृष्ण नामक सामयिक अवतार-पुरुष में भी ये पाँचों धर्म्म प्रतिष्ठित हैं, जिन की कि विस्तृत मीमांसा **मानुषोत्तमकृष्णरहस्य** में की जाचुकी है। यही कारण है कि-अन्य अवतार जहाँ अंशावतार कहलाए हैं, वहाँ कृष्णावतार **"कृष्णस्तु भगवान स्वयम्"** के अनुसार पूर्णावतार कहलाए हैं। अतएव परमभागवत श्रीजयदेव ने दसों अवतारों को कृष्णाकृति-रूप ही रूप ही बतलाया है। **'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'** कहते हुए स्वयं गीताचार्य्यने भी वासुदेवकृष्ण की सर्वलक्षणा पूर्णावतारता ही सिद्ध की है। वक्तव्यांश यही है कि-**'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि'** के अनुसार समय समय पर विशेषरूप धारण कर धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए जन्म धारण करने वाले राम-कृष्णदि-मानुषावतार, मीन-कूर्म्मादि जलीय अवतार, नृसिंह-पक्षीराज आदि अर्द्धमानुषावतार हुआ करते हैं। ये ही **"सामयिक चेतन आधिकारिक जीव"** कहलाए हैं।

६५९-भागीरथी, शालग्रामशिला, आदि के सामयिक-अवतारों का का स्वरूप-संस्मरण-

(२) दूसरा विभाग सामयिक अचेतन आधिकारिक जीवों का है। गङ्गा, यमुना, सरस्वती, सरयू, आदि दिव्यनदियाँ, शालग्रामशिला आदि अचेतन आधिकारिक जीव माने जायँगे। गङ्गावतार भगीरथ के प्रयास से सगरपुत्रों के उद्धार के लिए हुआ था। पुराण के मतानुसार कलि के ५ सहर्ष वर्ष पर्य्यन्त गङ्गातत्त्व भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित रहा। सम्वत् १९५९ में यह तत्त्व लीलासंवरण कर गया। यही इस की सामयिकता है। शालग्रामशिला का माहात्म्य कलिके १० सहस्रवर्षों पर्य्यन्त रहेगा। अतएव यह अचेतनावतार भी सामयिक अवतार ही माना जायगा।

६६०–दिव्योषधि-दिव्यवनस्पति-आदि के सामयिक-अवतारों का स्वरूप-संस्मरण—

(३) तीसरा विभाग सामयिक अर्द्धचेतन आधिकारिक जीवों का है। तुलसी, सोमवल्ली, आदि कतिपय दिव्य ओषधि--वनस्पतिवर्ग सामयिक अर्द्धचेतन अवतार माने जायँगे। "त्रेतायां बहुधा सन्ततानि" के अनुसार त्रेतायुग में प्रचलित, परीक्षित से परीक्षित पर्य्यन्त (शत० ब्रा०) संचरित यज्ञ की सिद्धि के लिए ही उस नित्य अर्द्धचेतनरूप सोम का अवतार हुआ था। यज्ञविद्याविलुप्ति के साथ साथ इस सामयिक सोमवल्ली का भी लीलासंवरण होगया। इसी आधार पर इसे हमने सामयिक अर्द्धचेतन अवतार कहा है।

६६१–आधिकारिक उपास्य-तत्त्व के विभिन्न ६ वर्गों का तात्त्विक स्वरूप-निदर्शन—

इसप्रकार आधिकारिक, आश्वत्थिक, इन दो जीववर्गों में से पहिले आधिकारिक जीववर्ग के नित्य–सामयिक भेद से दो भेद होते हैं, प्रत्येक के आगे जाकर तीन तीन विभाग होजाते हैं। सम्भूय आधिकारिक वर्ग के ६ विभाग होजाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

नित्यावताराः:
- १–१–नित्याः, आधिकारिकाः, चेतनजीवाः [यज्ञः, विराट्, कूर्म्मः, वराहः, वामनः, अभिमानिनः]
- २–२–नित्याः, आधिकारिकाः, अचेतनजीवाः [यज्ञः, विराट्, कूर्म्मः, वराहः, वामनः, भौतिकाः]
- ३–३–नित्याः, आधिकारिकाः, अर्द्धचेतनजीवाः [अश्वत्थः, सोमः--इत्यादयो भौतिकाः] ।

—*—

सामयिकाः:
- ४–१–सामयिकाः, आधि०, चेतनजीवाः [मीनः, कूर्म्मः, वराहः, वामनः, रामः,–इत्यादयः] ।
- ५–२–सामयिकाः, आधि० अचेतनजीवाः [गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शालग्रामः] ।
- ६–३–सामयिकाः, आधि० अर्द्धचेतनजीवाः [सोमवल्ली, अन्ये च दिव्यवृक्षाः] ।

—*—

६६२–नित्य-आश्वत्थिक-जीवों का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

दूसरा विभाग आश्वत्थिक जीववर्ग का है। कर्म्माश्वत्थजीव ही आश्वत्थिक जीव कहलाता है। इस आश्वत्थिक जीव के भी नित्य–सामयिक भेद से दो विवर्त्त हैं। प्रत्येक के पूर्ववत् तीन तीन विवर्त्त हैं। पहिले नित्यवर्ग को ही लीजिए। चान्द्रमण्डल में रहने वाले सौम्य शरीरधारी, [ईश्वरीय आधिदैविक मण्डल से सम्बन्ध रखने वाले] ब्रह्म–प्रजापति–इन्द्र–पितर–गन्धर्व यक्ष–राक्षस–पिशाच, ये आठ देवयोनियाँ, जन्म–मृत्युचक्र में सदा के लिए प्रवाहित मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि, कीट, आदि पार्थिव जीव, ये सब **"नित्य आश्वत्थिक चेतन जीव"** कहलाएँगे। प्रतिसंचरक्रम में हीं ये मुक्त होंगे।

६६३-विभिन्न-सामयिक आश्वत्थिक-जीवों का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

तमोमय कर्म्मवश जौ-गेहूँ-निम्ब-नारिकेल,-खर्जूर-तालादि रूपों में परिणत ओषधि-वनस्पतिवर्ग 'नित्य आश्वत्थिक अर्द्धचेतन जीव' कहलावेंगे। एवं पार्थिव सामान्य लोष्ठ-लौहादि वर्ग "नित्य आश्वत्थिक अचेतन जीव" माने जायँगे। इन तत्तत्-नित्य देवयोनियों की उपासना से तत्तद् वयोनिरूपों में परिणत ब्रह्मादि देववर्ग, योगभ्रष्ट होने से ज्ञानीयकुल, किंवा सम्भ्रान्तकुल मे उत्पन्न दिव्य मनुष्य, उच्चै:श्रवा आदि दिव्य पशु, पक्षी, दिव्यसर्पादि ये सब सामयिक आश्वत्थिक चेतनजीव कहलावेंगे। भेरुण्डपक्षी नामक दिव्य पक्षी आज कहाँ है। ऐरावत का आज नाम भी नहीं सुना जाता। उच्चै:श्रवा आज केवल लिपि की वस्तु रह गया है। मेमाथ नामक दिव्य गज की कीर्त्ति ही शेष रह गई है। इन्हीं सब कारणों से इन आश्वत्थिक चेतनजीवों को हमनें सामयिक कहा है। अथर्ववेद में उपवर्णित कतिपय 'दिव्य ओषधि-वनस्पतियाँ (जो आज विलुप्त होचुकीं हैं) सामयिक आश्वत्थिक अर्द्धचेतन जीव मानी जायँगी। दिव्यधातु (सुवर्ण-रजत-स्फटिकादि माणिक्यवर्ग) सामयिक आश्वत्थिक अचेतन जीव माने जायँगे।

६६४-नित्य, तथा सामयिक जीवों के सम्बन्ध में उपास्य-अनुपास्य की व्यवस्था—

इन ६ ओं में नित्य चेतन जीवों में से देवयोनिवर्ग ही उपास्य है, नित्य मनुष्यादि चेतनवर्ग, एवं अचेतन अर्द्धचेतनवर्ग अनुपास्य है। सामयिकों में सामयिक के तीनों वर्ग उपास्य हैं। इसप्रकार आधिकारिक जीववर्ग की भाँति इस अश्वत्थिक जीववर्ग के भी ६ ही विभाग होजाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

१-१-नित्या:-आश्वत्थिका: चेतना: (नित्यदेवयोनय:, प्रात्राह्निकजीवाश्च)।

२-२-नित्या:- " अचेतना: (सामान्यलोष्ठलौहादिधातव:)

३-३-नित्या:- " अर्द्धचेतना: (यव-गोधूमादिवर्गा:)

*—

४-१-सामयिका:- " चेतना: (कर्म्मदेवयोनय:, तत्त्वज्ञानिनो मनुष्या:, दिव्यजीवाश्च)।

५-२-सामयिका:- " अचेतना: (स्फटिक-सुवर्ण-रजतादि-दिव्यधातव:)

६-३-सामयिका:- " अर्द्धचेतना: (अथर्ववेदोक्ता:-दिव्यौषधय:-वनस्पतय:)।

——*——

६६५-उपासनाभेदों का स्पष्टीकरण-प्रयास—

पाठकों को स्मरण होगा कि-उपासनामार्गों का उपास्यभेदों से पृथक्करण करते हुए हमने वर्गीकरण किया था। वहाँ का वर्गीकरण अस्पष्ट था। यहाँ उसका स्पष्टीकरण कर लीजिए।

६६६-उपासनानुगता अधिकारमर्य्यादा की व्यवस्था—

नित्यचेतन आधिकारिक यज्ञप्रजापति, नित्यअचेतन यज्ञात्मक विश्व, नित्य अर्द्धचेतन सोमादि के भौतिकरूप अर्द्धचेतन सोमादि कतिपय परिगणिते ओ० वनस्पतियाँ, इन की उपासना का **यज्ञप्रजापति--त्युपासना** से सम्बन्ध है। एवं इसका अधिकार एकमात्र शास्त्रज्ञ द्विजातिवर्ग को ही है।

६६७-उपासनानुबन्धी तथ्यों का वर्गीकरणात्मक समन्वय, एवं पञ्चम-अवान्तर-प्रकरण का उपराम—

नित्य चेतन आधिकारिक विराट्, कूर्म्म, वराह, वामनप्रजापति, नित्यचेतन विराट्-कूर्म्म-वराह-वामनरूप पार्थिव विश्व, नित्यअर्द्धचेतन सोमादि के भौतिकरूप, सामयिक अर्द्धचेतन सोमादि कतिपय परिगणित ओषधि वनस्पतियाँ, इनकी उपासना का विराट्प्रजापत्युपासना से सम्बन्ध है। इसका अधिकार भी शास्त्रज्ञ द्विजातिवर्ग को ही है। सामयिक चेतन दशविध अवतार, सामयिक गङ्गा--शालग्रामादि अचेतन अवतार, सामयिक तुलसी--अश्वत्थादि अर्द्धचेतनावतार, नित्यचेतन आश्वत्थिक अष्टविध देवयोनियाँ, सामयिक चेतन आश्वत्थिक देवयोनियाँ, सामयिक चेतन दिव्य मनुष्य पशु पक्षी-कृमि-कीट, सामयिक अर्द्धचेतन दिव्य-ओषधि वनस्पतियाँ, सामयिक अचेतन दिव्यधातुमय भगवान् की प्रतिमाएँ, इन सबका **विश्वप्रजापत्युपासना** से सम्बन्ध है। एवं यही प्रकृत प्रकरण की **वर्त्तमानयुगसम्बन्धिनी उपासना है**। इसमें देवयोनियों की उपासना का अधिकार तो द्विजबन्धुओं को है। एवं शेष उपासनाएँ स्त्री--शुद्रवर्ग से सम्बन्ध रखती हैं, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। नामस्मरण, संकीर्त्तन, अवतारकथाश्रवण, तीर्थगमन, उपवास, आदि मार्गों का भी इसी विश्वप्रजापत्युपासना में अन्तर्भाव है। **यही कलियुग का सर्वोच्च भक्तिमार्ग है**। इससे भी हम अपना अभ्युदय कर सकते हैं। और यही वर्त्तमानयुगानुगत उपासनामार्ग का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

इति-"युगधर्म्मानुगता-विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"वर्त्तमानयुगानुगता-भूतोपासना"

नामक

पञ्चम-अवान्तर-प्रकरण-उपरत

५

—*—

श्रीः

इति--"युगधर्म्मानुगता--विविधोपासना" नामके चतुर्थप्रकरणे

"वर्त्तमानयुगानुगता-भूतोपासना"

नामक

पञ्चम--अवान्तर-प्रकरण-उपरत

५

श्री:

इति--भक्तियोगपरीक्षायां--पूर्वखण्डे

"युगधर्म्मानुगता-विविध-उपासनाएँ"

नामक

पञ्च-अवान्तर-प्रकरणात्मक—

चतुर्थ—प्रकरण-उपरत

४



श्रीः

अथ–भक्तियोगपरीक्षायां–पूर्वखण्डे

"प्रतिमापूजन, और उपासना"

नामक

 "परिशिष्ट–प्रकरण"

—★—

श्रीः

प्रतिमा, जन, और उपासना

परिशिष्ट--प्रकरण

---*---

१–निर्गुण–सगुण–विकार–अञ्जन–आवरण–परिग्रह–निबन्धना पञ्चविध–उपासनाओं का संकलनात्मक स्वरूप–समन्वय—

युगधर्म्मों की अपेक्षा से, शास्त्रभेद की अपेक्षा से, उपास्य–देवता के भेद की अपेक्षा से, एवं उपासक की योग्यता की अपेक्षा से उपासना के सम्बन्ध में जितने भेद सम्भव हैं, उनका पूर्व के पाँच अवान्तर-प्रकरणों में क्रमशः निरूपण किया जाचुका है। पूर्वप्रतिपादित उन अवान्तर सभी उपासनामार्गों का निर्गुणोपासना, सगुणोपासना, विकारोपासना, अञ्जनोपासना, आवरणोपासना, इन पाँचों उपासनाओं में से किसी एक में हीं अन्तर्भाव है।

२–ज्ञान-ध्यान-कर्म्मफलत्याग-अभ्यास, कर्म्मफलपरिग्रहण-मूला अव्यय-षोडशी-यज्ञ-विराट्-विश्व-भावनिबन्धना उपासना के तात्त्विक पाँच विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय—

पाँचों हीं मार्ग शास्त्रसम्मत हैं, इस में तो कोई सन्देह नहीं, जैसाकि तत्तत्–प्रकरणों में सप्रमाण बतला दिया गया है। साथ ही वहीं यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, प्रत्येक युग में सभी प्रकार के अधि–कारी हुए हैं, एवं सभी युगों में उपास्य के शाश्वत पाँचों रूप नित्यसिद्ध हैं। अतएव सभी युगों में पाँचों हीं मार्ग प्रचलित थे। परन्तु प्रधानता एक एक मार्ग की ही मानी गई। देवयुगमें ज्ञानलक्षणा निर्गुणोपासना प्रधान रही, सत्ययुग में ध्यानलक्षणा सगुणोपासना का प्राधान्य रहा, त्रेतायुग में कर्म्मफलत्यागलक्षणा विकारोपासना का प्रभुत्त्व रहा, द्वापरयुग में अभ्यासलक्षणा अञ्जनोपासना मुख्य रही, एवं कलियुगमें कर्म्म–फल-परिग्रहलक्षणा आवरणोपासना का साम्राज्य रहा। [१] ज्ञान–[२] ध्यान–[३] कर्म्मफलत्याग–[४] अभ्यास–[५] कर्म्मफलपरिग्रह, ये पाँच भाव ही क्रमशः अव्यय, षोडशीप्रजापति (अक्षर), यज्ञप्रजापति (आत्मक्षर), विराट्प्रजापति (विकारक्षर), विश्वप्रजापति (वैकारिक प्रपञ्च), इन पाँच उपा–स्यों के मूलाधार बनें।

३–ज्ञानी-जिज्ञासु-अर्थार्थी, आर्त्त–मानवानुबन्धिनी उपासना के अधिकारी-भेद-भिन्न विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

उक्त पाँचों मार्गों में से विश्वप्रजापति की उपासना का अनुयायी कर्म्मफलेच्छु उपासक "आर्त्तभक्त" कहलाया। विराट्प्रजापति की उपासना का अनुयायी अभ्यासमार्गारूढ उपासक "अर्थार्थीभक्त" कहलाया। यज्ञप्रजापति की उपासना का अनुयायी कर्म्मफलत्यागानुगत उपासक, एवं षोडशीप्रजापति की

उपासना का अनुयायी ध्यानानुगत उपासक, ये दोनों "**जिज्ञासुभक्त**" कहलाए, एवं निर्गुण अव्ययात्मा की उपासना के अनुयायी ज्ञानानुगत उपासक "**ज्ञानीभक्त**" नाम से प्रसिद्ध हुए, जैसाकि, पूर्वप्रकरणों में स्पष्ट किया जाचुका है ।

४–आत्मकामभूता अव्ययोपासना, निष्कामभूता षोडशीप्रजापत्युपासना, इष्टकामभूता यज्ञ-विराडुपासना, एवं कामभूता विश्वोपासना का पारिभाषिक-समन्वय—

ज्ञानीभक्त की अव्ययोपासना **आत्मकामभूता** है, जिज्ञासुभक्त की षोडशी, एवं यज्ञोपासना **निष्कामभूता** है, अर्थार्थीभक्त की विराडुपासना अभ्युदयमूलक **इष्टकामभूता** है, एवं आर्त्तभक्त की विश्वोपासना **कामभूता** है । आत्मकाम, निष्काम, इष्टकाम, काम, ये चार भाव ही चारों भक्तिमार्गों की मूल उपनिषदें बनीं हुई हैं । इन काम–निष्कामादि-भावों के जो अवान्तर भेद होजाते हैं, उनका तत्तत् प्रकरणों में स्पष्टीकरण किया ही जाचुका है ।

५–वैराग्यबुद्धियोगात्मिका अव्ययोपासना, ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मिका षोडशीप्रजापत्युपासना, धर्म्मबुद्धियोगात्मिका विराट्प्रजापत्युपासना, एवं ज्ञानबुद्धियोगात्मिका अव्यक्तोपासना का पारिभाषिक-समन्वय, तथा गीता के माध्यम से उपासना-चतुष्टयी में श्रेणिविभाग-व्यवस्थापन —

गीता की दृष्टि से इन उपासनामार्गों का वर्गीकरण कीजिए । अव्ययानुगत ज्ञानात्मक उपासनामार्ग को राजर्षिविद्यानुगत **वैराग्यबुद्धियोग** (बुद्धियोग) कहा जायगा । षोडशी–अनुगत उपासनामार्ग को राजविद्यानुगत **ऐश्वर्य्यबुद्धियोग (भक्तियोग)** कहा जायगा । यज्ञप्रजापत्यनुगत उपासनामार्ग को यज्ञात्मक प्रवृत्तिमूलक कर्म्ममार्ग (योगनिष्ठा, किंवा कर्म्मात्मिका उपासना) को आर्षविद्यानुगत **धर्म्मबुद्धियोग (कर्म्मयोग)** माना जायगा, एवं इसी यज्ञोपासना का योगात्मक नैष्कर्म्यकर्म्मलक्षण ज्ञानमार्ग (सांख्यनिष्ठा, किंवा अव्यक्तज्ञानात्मिका उपासना) को सिद्धविद्यानुगत **ज्ञानबुद्धियोग (ज्ञानयोग)** कहा जायगा । इसी वर्गीकरण से यह भी सिद्ध होगया कि, गीताप्रतिपादित चतुर्विध बुद्धियोगों का, दूसरे शब्दों में **बुद्धियोग–भक्तियोग–कर्म्मयोग–ज्ञानयोग** इन चार योगों का पूर्वप्रतिपादित ५ मार्गों में से १–२–३–इन तीन मार्गों में हीं अन्तर्भाव होजाता है । इसी आधार पर यह भी कहा जासकता है कि, पाँचों में तीन मार्ग ही विशेषरूप से प्रशस्त हैं । शेष दोनों उपासनामार्ग अवरकोटि में ही प्रतिष्ठित रह जाते हैं । साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, जिसप्रकार बुद्धियोगी भगवान् ने लोकसंग्रह-दृष्टि से लोकप्रचलित ईश्वरभक्ति, कर्म्म, ज्ञान, तीनों का (संशोधनपूर्वक) गीताशास्त्र में संग्रह किया है, उसी लोकदृष्टि के कारण शेष दोनों मार्गों को भी गीता में स्थान दे दिया गया है ।

६–निगमागमप्रकारानुमोदिता–'प्रतिमोपासना' के समन्वय से उपासना के षड्विध-विवर्त्त, एवं उनका व्यवस्थाक्रमानुगत–स्वरूप-समन्वय—

देवताओं के द्वारा विविध सिद्धियाँ प्राप्त करना, भूत-प्रेतादि का यजन करना, प्रतिमापूजन करना, इन सब आगमप्रकारों का, एवं अवतारलीलासंस्मरण, अभिनय, तीर्थ, उपवास, कथाश्रवण, देवदर्शन, नाम–

संकीर्त्तन, आदि लौकिक (पौराणिक) प्रकारों का अनुगमन करना ४-५-वें वर्ग के उपासनामार्ग हैं । इन दोनों मार्गों में कर्म्मफल पर विशेष दृष्टि है । इन दोनों मार्गों से उत्कृष्टा कर्म्मनिष्ठा है, कर्म्म से उत्कृष्टा भक्तिनिष्ठा है, सर्वोत्कृष्टा बुद्धियोगनिष्ठा है । इसप्रकार बुद्धियोग, कर्म्मयोग, ज्ञानयोग, सिद्धयुपासना, अवतार-प्रतिमा-तीर्थोपासना-भेद से उपसना के ६ विवर्त्त होजाते हैं । इन ६ ओं विवर्त्तों का पूर्वप्रतिपादित ५ मार्गों में हीं अन्तर्भाव है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है ।

१-निर्गुण-अव्ययः (१)--बुद्धियोगः-वैराग्यबुद्धियोगः
२-षोडशी (२)——भक्तियोगः-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः
३-यज्ञेश्वरः (३)——कर्म्मयोगः-धर्म्मबुद्धियोगः
४-यज्ञेश्वरः (४)——ज्ञानयोगः-ज्ञानबुद्धियोगः
५-विराट् (५)——इष्टयोगः--मनोयोगः
६-विश्वम् (६)——कामयोगः-सेन्द्रियमनोयोगः



७-गीताशास्त्र की वैराग्यबुद्धियोगात्मिका आत्मकामोपासना का सर्वाधिकारानुगतित्व-निबन्धन सार्वभौमत्त्व, एवं तदपेक्षया गीताशास्त्र के इत्थंभूत 'आत्मभक्ति' तत्त्व की सर्वोपकारकता का रहस्यपूर्ण-समन्वय—

(१)—"काम-निष्काम-इष्टकाम-आदि कामभावों से एकान्ततः पृथक् रहते हुए, अदः, एवं इदं में कोई भेद न समझते हुए भारतवर्ष में रहने वाली वर्णाश्रम-धर्म्मानुयायिनी भारतीय प्रजा (ब्रा० क्ष० वै० शू०) अपने अपने अधिकृत कर्म्मों में यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहे, भारतवर्ष में रहने वाले अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दुराचारी दस्यू, उत्पथाचारी म्लेच्छ, ईसाई, पारसी, मुसलमान, ब्रह्मसमाजी, भारतवर्षेतर देशों में रहने वाले चीनी, जापानी, बर्म्मी युरोपियन, जर्म्मन, अमेरिकन, फ्रान्सीसी, इटालियन, तुर्की, रूसी आदि आदि समस्त भूमण्डल के मनुष्य अपने अपने सामाजिक, दैशिक, राष्ट्रीय, व्यक्तिगत नियमोपनियमों पर दृढ रहते हुए आत्मकामभाव से यावाज्जीवन स्व स्व कर्म्मों में प्रतिष्ठित रहें", यही पहिला वैराग्य-बुद्धियोग मार्ग है । इस प्रणाली से गीता का यह बुद्धियोगधर्म्म **सार्वभौमधर्म्म** बना हुआ है । इसी दृष्टि से गीता भारतीय-वर्णाश्रमानुगता प्रजा के साथ साथ समस्त मानववर्ग का भी अभ्युदय कर रही है । यही गीताज्ञान (बुद्धियोग) की सर्वोपादेयता, एवं सर्वव्यापकता है । इस योग का सब को समानाधिकार है । आत्मभावना-पूर्वक स्वकर्त्तव्य में यावजीवन लगे रहना (फिर चाहे वह कर्त्तव्य दोषयुक्त ही क्यों न हो) ही बुद्धियोग का निष्कर्ष है । हाँ, प्रत्येक दशा में यह तो लक्ष्य में रखना ही होगा कि, वर्णप्रजा का स्वकर्त्तव्य शास्त्रसिद्ध अधिकृत कर्म्म ही होगा । उसे तो इस बुद्धियोगमार्ग में भी शास्त्रनिर्दिष्टमार्ग का ही अनुगमन करना पड़ेगा । इतर व्यक्ति शास्त्रीय मार्ग में अनधिकृत होते हुए अपने अपने देशधर्म्म-कुलधर्म्म-जातिधर्म्म का अनुगमन करते हुए सर्वभूतात्मभावानात्मिका समानात्मभावना से ही मुक्त होसकेंगे ।

८–सार्वभौमसिद्धान्तव्यवस्थापक भी गीताशास्त्र के द्वारा भारतदेशनिबन्धना द्विजाति–प्रजानुबन्धिनी प्रातिस्विकी शास्त्रमूला–'षोडशीप्रजापति' की भक्ति का रहस्यपूर्ण समन्वय—

यही कारण है कि, जहाँ भगवान् इस अनन्ययोग के सम्बन्ध में–'येऽपि स्युः पापयोनयः'—"अपि चेत् सुदुराचारः" कहते हुए उनके शास्त्रविरुद्ध कर्म्मों को भी अनन्यभक्तियोगलक्षण बुद्धियोग–के समावेश से उत्तम मान रहे हैं, वहाँ वर्णप्रजा के सम्बन्ध में–"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते" यही नियन्त्रण लगा रहे हैं। इसी रहस्य के आधार पर बुद्धियोग के सम्बन्ध में वह कहा जासकता है कि, यह मार्ग शास्त्र-निर्णय के द्वारा वर्णप्रजा का अभ्युदय करता हुआ आत्मानन्यता के उपदेश के द्वारा इतर मानव समाज के अभ्युदय का भी उपदेश दे रहा है।

—१—

९–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मिका उपासना से अनुप्राणित सर्वोङ्कारप्रजापति, एवं सप्रणव–अप्र व–भेद–निबन्धना–स्त्री–शूद्रानुगता उपासना का द्वैविध्य—

(२)—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षणा भक्ति का स्वरूप उत्तरखण्ड में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यहाँ प्रकरणसङ्गति के लिए यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, सर्वव्यापक (मायामय सहस्रवल्शात्मक अश्वत्थवृक्ष व्यापक) ईश्वर का सर्वोङ्काररूप से ध्यान करते हुए, ही अपने अधिकृत कर्म्मों का एकमात्र प्रवर्त्तक समझते हुए अधिकारसिद्ध वर्णानुसार स्व–स्व कर्म्मों में यावज्जीवन प्रवृत्त रहना हीं गीता का 'भक्तियोग' है। इस भक्ति का अधिकार एकमात्र वर्णाश्रमधर्म्मानुयायिनी भारतीय–प्रजा को ही है। कारण-ओंकाररूप से वही ईश्वर का साक्षात् करने में समर्थ हुई है। इस सम्बन्ध में भी शूद्रवर्ग के लिए ओंकार का विधान कितनों हीं की दृष्टि में अनुचित है, कितनें हीं साम्प्रदायिक "ओं नमो भगवते वासुदेवाय" "ओं नमो नारायणाय" इत्यादि रूप से शूद्र को भी सप्रणव स्मार्त्त मन्त्र की दीक्षा का विधान करते हैं।

—२—

१०–निष्काम–सकाम–भावापन्नः यज्ञप्रजापतिमूला यज्ञ–विराडुपासना का अन्यतम अधिकारी सावित्री–संस्कार–युक्त भारतीय द्विजाति–मानव, एवं तत्र स्त्री–शूद्र–वर्ग का अनधिकार—

(३)—यावज्जीवन निष्कामभाव से वैदिक यज्ञकर्म्म में लोकाभ्युदयकामना की दृष्टि से) प्रवृत्त रहना हीं गीता का **कर्म्मयोग** है। इसका अधिकार एकमात्र विद्यायुक्त द्विजातिवर्ग को ही है। स्त्री–शूद्र–द्विज–बन्धुओं को इस का सर्वथा अनधिकार है। क्योंकि इन के आत्मा में दिव्यप्राणसंस्कार के ग्राहक धर्म्म का जन्म से ही अभाव है। इसीलिए "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा" यह कहा गया है। भूमोदर्क-लक्षण इस कर्म्मयोगात्मक यज्ञकर्म्म से यज्ञप्रजापति ही उपासित होता है। इन्हीं उपायों से यज्ञरहस्यवेत्ता

कर्मठ द्विजाति अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, दुष्काल, अकाल, राष्ट्रविप्लव आदि का शमन करने में समर्थ होता है ।

—३—

११–ज्ञानबुद्धियोगानुगता–सिद्धयुपासना के सम्बन्ध में अधिकारी–भेद–व्यवस्था का दिग्दर्शन—

(४)—पुत्र वित्त–लोकैषणाओं का परित्याग कर, सन्यासमार्ग का ग्रहण कर आत्मचिन्तन–पूर्वक योगाभ्यास में प्रवृत्त रहते हुए नैष्कर्म्य–कर्म्मलक्षणा ज्ञान क्रिया में निमग्न रहना हीं गीता का "ज्ञानयोग" है। इस का अधिकार भी द्विजातिवर्ग को ही है । इस ज्ञानयोगात्मक योग से भी यज्ञप्रजापति ही उपासित होता है। यही मार्ग केवल आत्मनिःश्रेयस् का कारण बनता हुआ क्षीणोदर्कभाव से सम्बन्ध रखता है।

—४—

१२-पुण्ययोगात्मिका पारिभाषिकी उपासना, तथा इष्टयोगात्मिका पारिभाषिकी उपासना के सम्बन्ध में द्विविध–विभिन्न-अधिकारियों की व्यवस्था का दिग्दर्शन—

(५)—कामनापूर्वक (स्वर्गादि फलों की कामना से) त्रयीकर्म्म को त्रिगुणभावमय बनाकर काम्य–यज्ञ कर्म्मों में प्रवृत्त रहना, एवं आगमोक्त देवोपासना का अनुगमन करते हुए सिद्धिकामना के पीछे अनुधावन करते रहना हीं गीता का पुण्ययोग, किंवा इष्टयोग है । इस योग से विराट् प्रजापति ही उपासित होता है। इसमें काम्य यज्ञकर्म्म का अधिकार तो वेदज्ञ द्विजातिवर्ग को ही है । दूसरे सिद्धिमार्ग का अधिकार द्विजबन्धुओं को भी है।

—५—

१३–कामनानुगता अवताराद्युपासना के सम्बन्ध में अधिकारीभेद-निबन्धना व्यवस्था का स्वरूप समन्वय—

(६) कामनापूर्वक काम्य अवतारोपासनासाधक प्रतिमापूजन, व्रत, तीर्थगमन आदि में प्रवृत्त रहना हीं कामयोग है । स्त्री–शूद्रों को (वैय्यक्तिक प्रतिमापूजन के द्वारा) इस मार्ग का पूर्ण अधिकार है। शास्त्रीय षोडशोपचारलक्षण प्रतिमोपासना में तो स्त्री–शूद्रवर्ग अनधिकृत माने जायँगे । एवं इस प्रतिमोपासना का विराडुपासना में ही अन्तर्भाव माना जायगा ।

—६—

१४-तथाकथित षड्विध उपासनापथों का गीताशास्त्र के द्वारा सङ्केतविधि से समर्थनात्मक समन्वय—

उक्त ६ ओं मार्गों का गीता ने सङ्केतरूप से बड़े ही मार्म्मिक शब्दों में स्पष्टीकरण कर दिया है । पाठकों को विदित है कि, गीता के ९ अध्याय से आरम्भ कर १२ अध्याय की समाप्ति पर्यन्त राजविद्यानुगत ऐश्वर्य्य-

बुद्धियोगलक्षण भक्तियोग का निरूपण हुआ है। (देखिए भा० भू० प्र० ख० विषयविभागप्रकरण पृष्ठ-संख्या १७०)। इन चार अध्यायों में से ६-१०-११ तीन अध्यायों में तो भक्ति के स्वरूप का तात्विक विवेचन हुआ है, एवं १२ वें अध्याय में भक्तिमार्गानुबन्धी ६ मार्गों का सङ्केतविधि से दिग्दर्शन कराया गया है।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ? ॥

—गीता १२।१।

१५-अर्जुन का महत्त्वपूर्ण प्रश्न, एवं भगवान् के द्वारा 'युक्ततमविधि' से समाधानोपक्रम-

अर्जुन का प्रश्न बुद्धियोगलक्षण ज्ञानयोग, एवं सांख्ययोगलक्षण ज्ञानयोग से सम्बन्ध रखता है। बुद्धिलक्षण ज्ञानयोग का "त्वां" से लक्षित अव्यय से सम्बन्ध है। बुद्धियोगी भी योगी हैं, ज्ञानयोगी भी योगी हैं। दोनों हीं एकप्रकार से ज्ञानयोगी हैं। ज्ञानी हैं। इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है ?, दोनों में कौन योग का वास्तविक मर्म्म समझने वाला है ?, यही प्रश्न है। श्रीभगवान् उत्तर देते हैं—अर्जुन !

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परमोपेतास्ते ते युक्ततमा मताः ॥

—गीता १२।२।

१६-ज्ञानी-तपस्वी-भक्त-नामक तीन वर्गों के सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा श्रेणि-विभाग-संस्थापन—

जो व्यक्ति मुझ (अव्यय) में अपने मन को प्रविष्ट कर नित्ययुक्त (अभेदरूप) बन कर मेरी उपासना में रत हैं, साथ ही जो परलक्षणा (अव्ययलक्षणा) श्रद्धा से युक्त हैं, मेरी दृष्टि में (दोनों में वे ही) युक्ततम हैं। उन्होंनें हीं योग का वास्तविक स्वरूप समझा है। दोनों ज्ञानयोगियों में अव्यययुक्त योगी ही योगवित्तम हैं। पाठकों को स्मरण होगा कि, पूर्व में हमने ज्ञानी, तपस्वी, भक्त, इन तीनों की अपेक्षा योगी (बुद्धियोगी) को श्रेष्ठ बतलाया था, एवं योगी की अपेक्षा भी युक्ततम योगी को श्रेष्ठ कहा था।

१७-अत्यन्त रहस्यपूर्ण-श्रेणिविभाग के सम्बन्ध में गीता की मननीया श्लोकद्वयी—

राजर्षिविद्यात्मक वैराग्यबुद्धियोग-प्रकरण के उपसंहार में भी भगवान् ने लोकप्रचलित ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-तीनों योगों की अपेक्षा वैराग्यबुद्धियोग को ही श्रेष्ठ बतलाया है। एवं इस योग के उदासीनवदासीन अव्यय, श्रद्धायुक्त अव्यय के भेद में दो विवर्त्त मानते हुए दोनों में श्रद्धायुक्त अव्यययोगानुयायी योगी को ही योगवित्तम कहा है। और वही निर्णय यहाँ भी दोहराया गया है। देखिए !

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ॥
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
—गीता ६।४६,४४

—:***:—

१८–क्लेशसाध्या इन्द्रियसंयमादि-लक्षणा अव्यक्तोपासना के सम्बन्ध में भगवान् के द्वारा महत्त्वपूर्णा श्लोकत्रयी के रूप से हृदयोद्गार, एवं अव्यक्तोपासनात्मिका ज्ञाननिष्ठा का नीरक्षीर-विवेक—

इसप्रकार यद्यपि राजर्षिविद्यात्मक बुद्धियोग-प्रकरण के उपसंहार में हीं भगवान् ने बुद्धियोग का युक्ततमत्त्व सिद्ध कर दिया था। परन्तु आगे बतलाई गई भी, ज्ञानविद्या, एवं भक्तिविद्या के सम्बन्ध में पुनः अर्जुन को सन्देह हुआ, एवं उसके निराकरण के लिए पुनः भगवान् को वही निर्णय "ते मे युक्ततमा मताः" इत्यादिरूप से दोहराना पड़ा। इसप्रकार बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग की, दूसरे शब्दों में निर्गुण-अव्यय-मूला ज्ञानोपासना की सर्वश्रेष्ठता बतलाकर दूसरे अव्यक्तज्ञानमूलक ज्ञानयोग के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए भगवान् आगे जाकर कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥
—गीता १२।३,४,५

१९–सांख्यनिष्ठात्मिका-अव्ययोपासना के सम्बन्ध में भगवान् की अरुचि—

श्लोकार्थ स्पष्ट है। सर्वव्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, अव्यक्त, ध्रुव, अनिर्देश्य अक्षर से सम्बन्ध रखने वाला सांख्यसम्मत ज्ञानयोग सर्वभूतहितरति–लक्षण लोकसंग्रह को लक्ष्य बनाता हुआ संशोधित बनकर अवश्य ही उपादेय है। परम्परया यह योग भी (अक्षर के द्वारा) मां प्राप्ति (अव्ययप्राप्ति) का कारण तो बन ही जाता है। परन्तु क्लेशसाध्य इन्द्रियसंयमादि लक्षण ज्ञानयोग में सफलता मिलना थोड़ा कठिन ही है। यही इस योग के सम्बन्ध में भगवान् की अरुचि है।

२०–राजविद्यानुगता 'भक्ति' का राजमार्गत्त्व, एवं तत्सम्बन्ध में गीता की महत्त्वपूर्णा श्लोकत्रयी—

ज्ञानसजातीयत्त्वेन पहिले भगवान् ने बुद्धियोगलक्षण ज्ञानयोग, एवं सांख्यलक्षण ज्ञानयोग की तुलना की। भक्ति का षोडशीपुरुष से सम्बन्ध बतलाया गया है। एवं इसी भक्ति

को ध्यानात्मिका भक्ति कहा गया है । अपने सम्पूर्ण कर्म्मों को ईश्वरार्पित करते हुए ईश्वर का (षोडशी का) ध्यान करते हुए कर्त्तव्यकर्म्म में प्रवृत्त रहना हीं भक्तियोग है । यह भक्तियोग ज्ञानयोग की अपेक्षा तो श्रेष्ठ है ही, साथ ही यज्ञकर्म्मात्मक कर्म्मयोग की अपेक्षा भी मृत्युसंसारतारण के लिए यह राजमार्ग है । इसी राजमार्ग का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ ! मय्यावेशित-चेतसाम् ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

—गीता १२।६,७,८

२१–अभ्यासमार्गरूप-विराडुपासनात्मक-चतुर्थ-कर्म्ममय भक्तिमार्ग का स्वरूप-संस्मरण, एवं तत्सम्बन्ध में भगवत्सिद्धान्त-व्यवस्था—

अब चौथा अभ्यासमार्गरूप विराडुपासनात्मक कर्म्ममय भक्तिमार्ग हमारे सामने आया । जो व्यक्ति समष्टिरूप से व्यापक ईश्वर का ध्यान करने में असमर्थ हैं, उन्हें चाहिए कि-वे ईश्वरविभूतिरूप शिव, सूर्य्य, गणपति आदि ईश्वरावयवों में से किसी एक की निष्कामभाव से आराधना करते हुए क्रमशः अवयवी ईश्वर की ओर जाने का अभ्यास करें । इस चिरकालिक अभ्यास से वह उपासक कालान्तर में विराट् के द्वारा अवश्य ही उस व्यापक के ध्यान में समर्थ होता हुआ अव्यय को प्राप्त कर लेगा । आगमसम्मत विराडुपासनालक्षण कर्म्मप्रधान इसी मार्ग का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छ–आप्तुं धनञ्जय ! ॥

—गीता १२।६। ।

२२–आयासरूपा आगमोपासना में भी असमर्थ मानवों के अभ्युदय के लिए गीताशास्त्र के द्वारा रहस्यपूर्ण सुगमतमपथों का संस्थापन, एवं तद्रूपा विश्वोपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन—

मान लीजिए–जो द्विजबन्धु इस अभ्यासरूपा आगमोपासना में भी कठिनता का अनुभव करते हैं, एवं स्त्री–शूद्रादि वर्ग अनधिकारवश इसमें प्रवृत्त नहीं होसकते । उन के अभ्युदय का क्या उपाय ? । उत्तर वही विश्वोपासना । अभ्यास में असमर्थ द्विजबन्धु–शूद्र–स्त्रीवर्ग को भगवान् के निमित्त ही कर्म्म करना चाहिए । मध्यस्थ के लिए अवतारपुरुष, तीर्थ, उपवास, कथाश्रवण, हरिनाम-संकीर्त्तन, आदि ही मुख्य साधन हैं । इसी विश्वोपासना का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्म्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्म्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

—गीता १२।१० ।

२३–यज्ञेश्वरोपासनात्मक उपासनामार्ग का पारिभाषिक-समन्वय—

अब एक मार्ग बाकी बच गया। वह है यज्ञात्मक कर्म्ममार्ग । कर्म्मफल की वासना छोड़ते हुए लोकसंग्रहबुद्धि से शास्त्रीय यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त रहना हीं यज्ञेश्वरोपासनारूप कर्म्ममार्ग है । कर्म्मफलत्यागात्मक कर्म्मयोग के भगवान् ने शास्त्रीय कर्म्ममार्ग [यज्ञमार्ग], एवं लौकिक कर्म्ममार्ग भेद से दो भेद कर दिए। शास्त्रीय कर्म्ममार्ग त्रयीसम्मत यज्ञमार्ग है। इसका अन्तर्भाव तो भगवान् ने षोडशी ईश्वर में होने वाले सर्वकर्म्मसंन्यासलक्षण भक्तियोग में हीं मान लिया। परन्तु इस लौकिक फलत्यागलक्षण कर्म्ममार्ग को स्वतन्त्र कर दिया।

२४–ईश्वरसत्ताविमुख-यथाजात-प्राकृत-मानवों के समुद्धार के लिए गीताशास्त्र के द्वारा ऋजुतम-कर्म्मफलत्यागात्मक-रहस्पूर्ण-पथ का संस्थापन—

मान लीजिए–हम भगवान् को नहीं मानते। ईश्वरसत्ता में हमारा कोई विश्वास नहीं। अथवा जो ईश्वरसत्ता में तो विश्वास करते हैं, परन्तु प्रतिमापूजन, अवतारोपासना, तीर्थगमन, उपवास, नामस्मरण, आदि माध्यमिकों को अपनाने के लिए न जिनके पास समय है, न योग्यता है, अपितु जो सामयिक प्रवाह में पड़ कर परवश सेवावृत्ति में हीं निमग्न हैं। उन के उद्धार का क्या उपाय ?, इसी प्रश्न का समाधान करते हुए आगे जाकर भगवान् कहते हैं—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्म्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥

—गीता १२।११

२५–सर्वास्था-मान्यता- शून्य भी मानवों के समुद्धार से अनुप्राणिता भगवद्भावना—

यदि तुम ईश्वरसत्ता पर विश्वास करते हुए भी तन्निमित्त कर्म्म नहीं कर सकते, तुम कर्म्म को ही अपने लाभ का कारण समझते हो, दूसरे शब्दों में तुम स्वार्थसिद्धि के लिए ही सेवाधर्म्म, व्यापार, वकालत, डाक्टरी, इञ्जिनीयरी, एवं अन्यान्य लौकिक कर्म्मों में अहोरात्र व्यस्त रहते हो, उपवास-तीर्थ-प्रतिमापूजन आदि माध्यमिकों में श्रद्धा-विश्वास रखते हुए भी तुम इनके अनुष्ठान में अपने आप को असमर्थ पाते हो, तब भी कोई क्षति नहीं।

२६–कर्म्मफलत्यागात्मक अपूर्व पथ का पारिभाषिक-समन्वय—

यदि तुम ईश्वर को नहीं मानते, प्रतिमार्चन, तीर्थादि पर तुह्मारा कोई विश्वास नहीं, शास्त्र, गुरु आदि का उपदेश तुह्मारी दृष्टि में सर्वथा निरर्थक है, तब भी कोई हानि नहीं। हम एक उपाय तुह्में ऐसा बतलाते हैं, जिसके अनुगमन से तुम शास्त्रसिद्ध आदेशों में से किसी एक पर भी न चलते हुए, आत्मा–परमात्मा–

धर्म्म–कर्म्म–देवता–ब्राह्मण--गुरु आदि किसी को न मानते हुए भी तुम आत्माभ्युदय कर सकते हो। आत्माभ्युदय भी कैसा !, अभ्यास, ज्ञान, ध्यानादि सब मार्गों से कहीं उत्कृष्ट । वह उपाय है—कर्म्मफलत्याग"।

२७–आस्तिक भारतीय मानव का दम्भपूर्ण आज का जीवनेतिवृत्त, एवं नास्तिक मानवों का दम्भशून्य, अतएव लोकवृत्तसफलतानुबन्धी भौतिक जीवन, और उभय-समतुलन-माध्यम से एक विशेष तथ्य का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

"हम नास्तिक से आस्तिक बन जाएँ, ईश्वर को मानने लगें, वर्णाश्रमधर्म्म का अनुगमन करते हुए बड़े धर्म्मात्मा बन जाएँ, नामसंकीर्त्तन करते करते हमारे नेत्रों से अश्रु धारा प्रवाहित होने लगे, भगवत्-प्रतिमार्चन में घन्टों व्यतीत करते हुए हम परम भागवत बन जाएँ, तीर्थाटन करते करते हम शरीर को स्वच्छ कर डालें, उपवास करते करते शरीर को काँटा बना डालें, यज्ञकर्म्म में अपना जीवन समाप्त करदें" इन में से कोई भी शास्त्र का मुख्य उद्देश्य नहीं है। शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है- आत्ममुक्ति, आत्माभ्युदय, कर्म्मसंस्कारपाश में बद्ध आत्मा का कर्म्मपाश से निकल कर स्वस्वरूप में विकास। यदि हमने उक्त शास्त्रीय प्रकारों का अनुगमन करते हुए आत्ममुक्ति कर ली, कर्म्मलेपबन्धन से छुटकारा पा लिया, तो साधनरूप उक्त सभी प्रकार सफल हैं। यदि अहोरात्र शास्त्रीय प्रकारों का अनुगमन करते हुए भी फलासक्तिवश हम कर्म्मलेपबन्धन से न छूट सके, तो सब प्रकार व्यर्थ हैं। यही नहीं, ऐसे शास्त्रभक्त, ईश्वरभक्त, आस्तिक, पूजक, अर्चक, उपासक, नामस्मरणकर्त्ता, परमभागवत, तीर्थसेवी, व्रती की अपेक्षा तो घोरघोरतम उस शास्त्रविरोधी, अनीश्वरवादी, नास्तिक, पूजानिन्दक, ईश्वर नाम से घृणा करने वाले, तीर्थों के विरोधी, उपवास के कट्टरशत्रु लौकिक मनुष्य का आसन कहीं ऊँचा है, जो इन साधनों को तो बदनाम नहीं करता। वे इन साधनों के नाम पर शास्त्र–ईश्वर–आदि सब को कलङ्कित तो करते ही हैं, साथ ही इस मिथ्याडम्बर में पड़ कर लोकवैभव से भी वञ्चित रहते हैं। इधर एक नास्तिक इन सब साधनों को धोका देने के कलङ्क से तो बचा ही रहता है, साथ ही भौतिक–सम्मुन्नति का पात्र भी बन जाता है, चाहे फिर परिणाम में यह भौतिक वैभव उस के समूल विनाश का ही कारण क्यों न बन जाय।

२८–वर्त्तमान-आस्तिक-शास्त्रभक्त-भारतीय-मानवों के आत्यन्तिक-पतन का स्वरूपेतिवृत्त–

वर्त्तमानयुग के साथ परिस्थिति की तुलना कीजिए। हम भारतवासी बड़े अभिमान के साथ ईश्वर–सत्ता का दम भरते हैं। शास्त्रभक्ति से जमीन आसमान एक कर देते हैं। आए दिन उपवास करते हैं। भगवान् का पूजन करते हैं। देवदर्शन में प्रीति रखते हैं। अहोरात्र शास्त्रचिन्तन करते रहते हैं। श्राद्ध करते हैं, तर्पण करते हैं। यज्ञ करते हैं। भक्तिभाव से गङ्गा–यमुना में गोता लगाते हैं। स्थान स्थान पर दलबन्दी कर हरे राम हरे राम के तुमलनाद से आकाश विदीर्ण करते हैं। हरिकथा श्रवण करते हैं। आचार्य–सन्त महन्तों के चरण पूजते हैं। लाखों रु० दान करते हैं। इसप्रकार आयुका अधिक भाग शास्त्रादेशों में हीं व्यतीत करदेते हैं। परन्तु.......... । स्पष्ट है। पेटभर अन्न भी नहीं मिलता। अभ्युदय–निःश्रेयस् की कथा तो दूर रही, दिन–दिन आत्मप्रकाश खोते जारहे हैं। परतन्त्रता अधिकाधिक निकट आती जारही है। आत्मा के अमरत्त्व की डींग हांकने वाले हम थोड़े से भय से ही पर्दे में जा छुपते हैं। क्या शास्त्रानुगमन का यही लाभ है !।

२९-शास्त्रतटस्थ प्रतीच्य मानवों की भूतोन्नतिमूला भूतजीवनपद्धति के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

उधर उन पश्चिमी देशों को देखिए, जो शास्त्रादि के नाम से भी अपरिचित रहते हुए, केवल मानवीय विज्ञान के आधार पर किस प्रगति से लोकवैभव में आगे बढ़ते जारहे हैं। भारतीय धार्म्मिक समाज कहा करता है, पश्चिमी देशों का बढ़ता हुआ वैभव एकदिन उन का संहार कर डालेगा। ठीक है। हम भी सहमत हैं। परन्तु आप की क्या दशा होरही है ?, पहिले यह तो सोचिए। आप कर्म्म-धर्म्म चिल्लाते हुए कौनसा पुरुषार्थ कर रहे हैं ? । आप तो न इधर के रहे, न उधर के। फिर आपको समालोचना करने का क्या अधिकार है ? ।

३०-शास्त्रीय मार्ग के 'मुख्य' उद्देश्य का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

बिना किसी नच नुच के आप को यह मान हीं लेना चाहिए कि, शास्त्रीय-मार्ग का मुख्य उद्देश्य पूर्वोक्त आचरणों में से एक भी नहीं है। शास्त्र चाहता केवल यही है कि, आप अहोरात्र कर्म्म करते हुए भी कर्म्मलेप के बंधन में न आवें। इस मुख्य सत्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए साधनरूप से शास्त्र ने भक्ति-उपासना-पूजन-तीर्थादि का विधान किया है। उस ओर मन बट जाने से आप का मन फलाशा से मुक्त रहेगा, परिणामतः कर्म्मलेप न होगा, कर्म्म करते हुए भी आप मुक्त होजायँगे, और यही शास्त्र का मुख्य उद्देश्य माना जायगा।

३१-कर्म्मफलासक्ति-अनासक्ति के माध्यम से शास्त्रीय-उद्देश्य का नीरक्षीर-विवेक-समन्वय—

यदि शास्त्रीय सभी आदेशों का अनुगमन करते हुए भी आपने फलाशा न छोड़ी, तो शास्त्रादेशानुगमन न केवल व्यर्थ, अपितु हानिकर। ठीक इस के विपरीत यदि शास्त्र के महाजाल में न पड़कर आपने केवल थोड़े समय से (यतात्मवान्) काम लेते हुए फलाशा का परित्याग कर दिया, तो आप मुक्त होगए, शास्त्रोद्देश्य सिद्ध होगया।

३२-गीताशास्त्र के एक रहस्यपूर्ण श्लोक का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धना कर्म्मफलानासक्ति से अनुप्राणिता पारिभाषिकी सङ्गति, तथा-'मा कर्म्मफलहेतुर्भूः' का फलितार्थ-समन्वय—

धर्म्म-कर्म्म-शास्त्र-ईश्वर-परलोक-आदि को न मानने से कोई हानि नहीं होती, न किसी कर्म्म से ही कोई क्षति। कर्म्म स्वस्वरूप से कर्म्म है, भगवान् की विभूति है, फिर वह शास्त्रीय हो, अथवा लौकिक। हानि का एकमात्र कारण है-कर्म्मलेप, कर्म्मलेप की एकमात्र जननी है-फलाशा। इसे छोडना कोई कठिन नहीं है। एक घोर नास्तिक भी यह तो बिना किसी आपत्ति के मान ही लेगा कि, फल को हम उत्पन्न नहीं करते, अपितु हमारा कर्म्म ही फल को उत्पन्न करता है। एक इंजिनीयर का आत्मा-बुद्धि-मन-किंवा शरीर किसी प्रासाद के फलरूप नक्शे का निर्म्माण नही करता। अपितु उसके इन अवयवों से संचालित क्रिया ही नक्शा तय्यार करती है। कर्म्म करना हमारा काम, कर्म्मफल उत्पन्न करना कर्म्म का काम। कर्म्मफल कर्म्म है, न कि कर्म्मफल हमारा फल है। हमारा फल कर्म्म है, कर्म्मफल कर्म्म का फल है। हम कर्म्ममात्र के

अधिकारी हैं, कर्म्ममात्र के हेतु हैं, न कि कर्म्मफल के। –"**मा कर्म्मफलहेतु र्भूः**"। हम मानते हैं कि–बिना फल के कर्म्मप्रवृत्ति सम्भव नहीं। परन्तु यह कौन कहता है कि, आप निरुद्देश्य कर्म्म कीजिए। अवश्य ही किसी उद्देश्यसिद्धि के लिए कर्म्म कीजिए। भगवान् केवल यही कहना चाहते हैं कि, कर्म्मकाल में कर्म्मफल की चर्वणा न कीजिए। मानवीय मन में शक्ति परिमित है। कर्म्मप्रवृत्तिकाल में फलचर्वणा करने से मानसशक्ति बँट जायगी, कर्म्मसिद्धि में जितना बल लगना चाहिए, न लगेगा, फलांश अपूर्ण रह जायगा, एक हानि। जब आप यह जानते है कि, फल पैदा करना कर्म्म का काम है, तो फिर इस अनधिकृता फलचर्वणा से क्यालाभ ?। आप को तो अनन्यभाव से केवल कर्म्म में हीं जुट जाना चाहिए। फल तो धरा ही है। साथ ही आप आसक्ति से भी बच जायँगे, पुरुषार्थ सिद्ध होजायगा। यही वह उपाय है, जिस से हम जैसे संसारी मायावी जीव भी कालान्तर में आत्माभ्युदय कर सकते हैं, और पूर्वश्लोकने इसी उपाय का स्पष्टीकरण किया भी है। कर्म्मफलत्याग ही ज्ञान–ध्यान-अभ्यासादि इतर मार्गों का चरम उद्देश्य है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, दीखने में सबसे नीचे के अधिकारियों का कर्म्मफलत्यागलक्षण यह अन्तिम मार्ग परमार्थतः सबसे श्रेष्ठ है। यही सूचित करते हुए भक्तिप्रकारों का उपसंहार करते हुए भगवान् सर्वान्त में कहते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्, ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्म्मफलत्यागः, त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
(१२।१२।)।

——*——

३३–विश्वयज्ञस्थिति का उपोद्बलक कर्म्ममार्ग, एवं तन्निबन्धना समर्पणमूला यज्ञप्रजापत्युपासना—

जैसाकि पूर्व में बतलाया गया है, कर्म्मफलत्यागलक्षण शास्त्रीय यज्ञकर्म्मात्मक कर्म्मयोग, एवं कर्म्मफलत्यागलक्षण लौकिक कर्म्ममार्ग, दोनों को भगवान् ने समान आसन पर प्रतिष्ठित रक्खा है। पहिला यज्ञ प्रजापति से सम्बन्ध रखता है, दूसरा विश्वप्रजापति से सम्बन्ध रखता है। फलांश में दोनों समान हैं, अतएव रूपान्तर से इसे फलत्यागलक्षण लौकिक कर्म्म में हीं अन्तर्भूत मान लिया है। और शास्त्रीय-दृष्टि से भी यह मान्यता सुसङ्गत बन जाती है। चाहे लौकिक कर्म्म हो, अथवा शास्त्रीय, यदि फलवासना नहीं है, तो स्वार्थबुद्धि का अपने आप उच्छेद होजाता है। फलतः ऐसा कर्म्ममार्ग विश्वयज्ञस्थिति का उपोद्बलक बनता हुआ यज्ञप्रजापति में अर्पित होजाता है।

३४–भक्तिमार्गापेक्षया भी तथाविध कर्म्ममार्ग की श्रेष्ठता का स्वरूप–समन्वय—

यद्यपि पूर्व में हमने कर्म्मयोग की अपेक्षा ध्यानात्मक भक्तिमार्ग को श्रेष्ठ बतलाया था, परन्तु यह श्रेष्ठता उपास्य की श्रेष्ठता पर ही निर्भर है। यदि लोकसंग्रहदृष्टि से विचार किया जाता है, तो कर्म्ममार्ग (भक्तिमार्ग की अपेक्षा कहीं अधिक) लोकसंग्राहक बनता हुआ भक्तिमार्ग से भी श्रेष्ठ बन जाता है।

३५–आत्मस्वार्थमूलक–उपसनातत्त्व का पारिभाषिक–समन्वय–प्रयास—

निष्कर्ष यह निकला कि, वैराग्यलक्षण श्रद्धायुक्त बुद्धियोग तो एक स्वतन्त्र, एवं श्रेष्ठतम मार्ग है। इसे किसी अन्य योग की तुलना में नहीं रक्खा जासकता। अवशेष बचते हैं-भक्तियोग, कर्म्मयोग, इष्टयोग, कामयोग।

कामयोग भगवदर्पणभावना से अभ्युदय बन जाता है। इष्टयोग अभ्यासात्मक देवोपासना से फलप्रद बन जाता है। ज्ञानयोग अक्षर के द्वारा इष्टसाधक बनजाता है। कर्म्मयोग यज्ञेश्वर के द्वारा सिद्धि का जनक बन–जाता है। एवं भक्तियोग सर्वकर्म्मगृहीत अव्ययज्ञान के द्वारा सिद्धि का प्रवर्त्तक बन जाता है। इन पाँचों में कामयोग कामभाव के समावेश से निम्न है। इष्टयोगात्मक अभ्यासयोग इससे श्रेष्ठ है। अभ्यासयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग श्रेष्ठ है। ज्ञानयोग की अपेक्षा ध्यानयोगात्मक भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है। एवं इस की अपेक्षा कर्म्मफलत्यागलक्षण शास्त्रीय लौकिक कर्म्मयोग श्रेष्ठ है। त्यागसे शान्ति मिलती है। आत्मा का बोझा उतर जाता है, आत्मा स्वस्थदशा में आजाता है।

* बुद्धियोगः–अव्ययोपासना (उपासना) सर्वोपकारकमार्गः	
१–भक्तियोगः–षो० प्र० उपासना (भक्तिः)	द्विजातीनामेव
२–कर्म्मयोगः–यज्ञप्र० उपासना (कर्म्म)	
३–ज्ञानयोगः–यज्ञप्र० उपासना (ज्ञानम्)	
४–इष्टयोगः–विराट्प्र० उपासना (कर्म्म)	--द्विजबन्धूनां, द्विजातीनाञ्च
५–कामयोगः–विश्वप्र० उपासना (कर्म्म)	–स्त्री–शूद्रद्विजबन्धूनाम्
*–फलत्यागयोगः–वैभवोपासना (कर्म्म)	सर्वोपकारकमार्गः

* बुद्धियोगः—सर्वथा स्वतन्त्रः–त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् (परमार्गः)	
१–कर्म्मयोगः (२)–शास्त्रीयः } —कर्म्मफलत्यागयोगः	श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ध्यानात् कर्म्मफलत्यागः (मध्यममार्गः)
२–फलत्यागयोगः (*) लौकिकः }	
३–भक्तियोगः (१)शास्त्रीयः—ध्यानयोगः	
४–ज्ञानयोगः (३) शास्त्रीयः—ज्ञानयोगः	
५–इष्टयोगः (४) शास्त्रीयः—अभ्यासयोगः	

* कामयोगः–(शास्त्रीयः)—साधारणमार्गः (अवममार्गः)

३६–भक्तियोगानुबन्धी–'साकारब्रह्म' का संस्मरण, एवं साकारब्रह्म के माया-कला-गुण-विकार–अञ्जन–आवरण–नामक षड्विध परिग्रहों का संस्मरण—

उक्त उपासना–भेदों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में तो अब कोई विशेष वक्तव्य नहीं रहा। अवश्य ही पूर्व के पाँच प्रकरणों में प्रतिपादित पाँचों हीं उपासनामार्ग प्रामाणिक हैं। इस प्रामाणिकता के साथ साथ यह भी हमें निर्विवाद मान हीं लेना चाहिए कि, अधिकारीभेद से सभी मार्ग उपासना के माध्यमिक बनते हुए अपने अपने स्थान में सर्वथा उपादेय हैं। और सर्वान्त में यह भी सिद्ध हो ही जाता है कि, उपासना, किंवा भक्तियोग का एकमात्र सम्बन्ध "साकारब्रह्म" से ही है, फिर चाहे वह आकार-भाव माया–कला–गुण–विकार–अञ्जन–आवरण–इन ६ परिग्रहों में से किसी भी परिग्रह से सम्बन्ध रखता हो।

३७–उपासनापथ के महान् पारिभाषिक सूत्र–'असत्ये वर्त्मनि स्थित्त्वा ततः सत्यं समीहते' का स्वरूप–समन्वय—

इन उपासना–विवर्त्तों को हमनें युगभेद से विभक्त माना है। एवं इसी युगभेद के आधार पर इनमें श्रेणि–विभाग किया गया है। शास्त्र ने [वेद–पुराणादि ने] अधिकारी के भेद की मर्य्यादा को सुरक्षित रखते हुए जहाँ सभी उपासना–भेदों को पूर्ण आदर दिया है, वहाँ युगधर्म्म-भेद–सम्बन्धी श्रेणि–विभाग की दृष्टि से इन में उत्तम–मध्यमादि व्यवस्था भी की है। "असत्ये वर्त्मनि स्थित्त्वा ततः सत्यं समीहते" सिद्धान्त को मुख्य मानने वाला शास्त्र यह कभी नहीं चाहता कि, आवरणपरिग्रह से युक्त आत्मा के विश्व–लक्षण मूर्त्तभाव [प्रतिमा] को माध्यामिक बनाने वाला प्रतिमोपासक यावज्जीवन उसी माध्यमिक पर प्रतिष्ठित रहै। अपितु वह चाहता है कि–इस माध्यमिक के द्वारा क्रमशः विराट्, यज्ञ, षोडशी पर पहुँचता हुआ निर्गुण अव्यय से सम्बन्ध रखने वाली ज्ञान–वैराग्यलक्षणा बुद्धियोगरूपा आत्मभक्ति का अनुगामी बनता हुआ वह समवलयलक्षण विदेहभाव को प्राप्त होजाय।

३८–अवतार–तीर्थ–व्रत–प्रतिमा–आदि–भेदभिन्ना विश्वोपासना के सम्बन्ध में क्रमिकाभ्युदयमूलक–रहस्य–पूर्ण–पारिभाषिक–उद्बोधन—

यही कारण है कि, लोकसंग्रहदृष्टि से सिद्धि, अवतार, प्रतिभा आदि की उपासनाओं का पूर्ण आदर करने के साथ साथ ही [उपासक यहीं न रह जाय, इस दृष्टि से] इनकी अपेक्षा वैराग्यज्ञानलक्षणा बुद्धियोगात्मिका भक्ति का ही यशोगान किया है। वेदशास्त्र को तो छोड़िए। पुराणशास्त्र को ही लीजिए, जिसके सम्बन्ध में अज्ञजनों की यह भ्रान्ति है कि, पुराण वैदिक नहीं हैं। अपितु वेदविरुद्ध अवतार–प्रतिमा–तीर्थ आदि की कल्पित उपासना वतलाने वाला एक कल्पित शास्त्र है। अवतारादि का निरूपण करने के कारण, सामान्यज्ञान की सीमा से वहिर्भूत, ऐसे सामान्यज्ञानियों की दृष्टियों में केवल कल्पनारूप आख्यानोपाख्यानों के निरूपण के कारण हीं यदि पुराणशास्त्र एक कल्पित शास्त्र है, तव तो उन वेदभक्तों की वेदभक्ति भी सुरक्षित नहीं रह सकती। कारण–स्वयं वेद में भी अवतार–प्रतिमा–तीर्थादि की उपासना का, एवं पौराणिक आख्यानोपाख्यानों का विस्तार से निरूपण हुआ है, जिनके कि स्पष्टीकरण का प्रकृत में अवसर नहीं है।

३९–पुराणशास्त्र से अनुप्राणिता उपासना के सम्बन्ध में तत्त्वविमर्श, एवं भ्रान्तों की भ्रान्ति का निराकरण--प्रयास—

हाँ, यदि पुराणशास्त्र केवल अवतार-प्रतिमा-सिद्धि आदि--उपासनाओं के निरूपण पर ही अपना वक्तव्य समाप्त कर देता, वेद की भाँति परात्पर–पुरुषादि सम्बन्धिनी निर्गुण, वैराग्य, ज्ञानादि भक्तियों का निरूपण न करता, इनकी श्रेष्ठता सिद्ध न करता, तो अवश्य ही यह शास्त्र एक अपूर्ण शास्त्र रह जाता। परन्तु हम देखते हैं कि, उपासनामार्ग के सम्बन्ध में वेदशास्त्रने, विशेषतः वेदशास्त्र के अन्तिम पर्वरूप उपनिषत् ने, एवं तदनुगामिनी स्मार्त्ती गीतोपनिषत् ने जिन श्रेणियों का स्पष्टीकरण किया है, पुराण में उन सब का ज्यों का त्यों स्पष्टीकरण मिलता है। उदाहरण के लिए लोक में विशेषरूप से प्रचलित श्रीमद्भागवत पुराण को ही लीजिए।

४०-भक्तिपथक्षेत्र में षट्त्रिंशद्विध (३६) पुराणोपपुराणों के समतुलन में श्रीमद्भागवत का ही प्राधान्य—

और किसी पुराण का नामोल्लेख न कर भागवत पुराण को ही इस प्रकरण में मुख्य स्थान क्यों दिया ?, इसमें भी कुछ रहस्य है। यों तो सभी पुराणों में इतर विषयों के साथ साथ भक्ति, एवं उपास्य ईश्वरविवर्त्त का निरूपण हुआ है। परन्तु भक्तिवाद के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत सब पुराणों से आगे निकल गया है। यही कारण है कि, १८ पुराण, १८ उपपुराण, इन ३६ पुराणों से भागवत पुराण स्वतन्त्र है। कहा जाता है कि– व्यासदेवनें संहिता, व्याससूत्र, ३६ पुराणोपपुराणादि का संकलन करके भी आत्मतुष्टि का अनुभव नहीं किया। सर्वान्त में जब उन्होंनें श्रीमद्भागवत का, उसकी भी रासपञ्चाध्यायी का निर्म्माण किया, तब कहीं व्यास के भागवत हृदय को पूर्ण शान्ति मिली।

४१–श्रीभागवत के पारिभाषिक–'भागवत' नाम का पारिभाषिक--स्वरूप-समन्वय—

पुराणमर्य्यादा के अनुसार भागवत में पौराणिक १८ विषयों का तो निरूपण हुआ ही है, परन्तु प्रधानतया ईश्वरस्वरूप, भगवन्माया, भगवद्भक्ति इन तीन विषयों का ही उपबृंहण हुआ है। ईश्वर भी भगवान् हैं, ईश्वरमाया भी भगवान् की चिच्छक्ति बनती हुई भगद्रूपा है, एवं भगवद्भक्ति (ज्ञानवैराग्ययुक्ता) भी भगवद्रूपा ही है। इस भगवत्ता के सम्बन्ध से ही यह ही ग्रन्थ 'भागवत' कहलाया है। भक्ति मायामय भगवान् की ही सम्भव है, एवं भागवत इस विषय का स्पष्टीकरण करने वाला मुख्य ग्रन्थ है, अतएव भक्तिप्रकरण के सम्बन्ध में और किसी पुराण को आगे न करते हुए हमने भागवत को ही मुख्य मान लिया है।

४२–भक्तिपुत्र वैराग्य, एवं ज्ञान का कलौ युगे वार्द्धक्य, एवं भक्ति का करुणविलाप—

भागवत ज्ञानवैराग्ययुक्त भक्तिमार्ग का ही ग्रन्थ है, इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा प्रमाण-भागवतमाहात्म्य ही है। आरम्भ में हीं नारद यह बतलाते हैं कि, मैंने घूमते घूमते यमुनातट पर एक बड़ा आश्चर्य्य देखा। देखा कि एक--तरुणी स्त्री खिन्नमना बन कर रुदन कर रही है। और दो वृद्धपुरुष ऊर्ध्वश्वास लेते हुए अचेतनावस्था में उसके समीप पड़े हुए हैं। वह उन वृद्धों की परिचर्य्या कर रही है, साथ ही चारों ओर

आँख फाड़–फाड़ कर किसी ऐसे व्यक्ति की प्रतीक्षा कर रही है, जो इसके शरीर को सुरक्षित रख सके। मेरे प्रश्न करने पर उस बाला स्त्री ने उत्तर दिया कि–मैं भक्ति हूँ, ये दोनों वृद्ध पुरुष **ज्ञान–वैराग्य** नाम के मेरे पुत्र हैं। कालयोग से दोनों वृद्ध होगए हैं। घोरकलिकाल के योग से, एवं पाखण्डियों के पाखण्ड से मेरा शरीर पुत्रों सहित खण्डित होगया है" इत्यादि (भा० मा० १ अध्याय २७ से ५४ पर्य्यन्त)

४३–श्रीमद्भागवत की भक्ति–प्रधानता के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

सर्वप्रथम भागवत का उपदेश महामुनि वीतराग श्रीश्रीशुकदेव के द्वारा परीक्षित के प्रति हुआ था, यह सर्वविदित है। परीक्षित का यह उपदेशश्रवणकाल कलिसीमा के गर्भ में प्रविष्ट था, यह भी निर्विवाद है। इस युगधर्म्म के प्रभाव से ही शास्त्रीय योगों का स्वरूप लुप्तप्राय होचुका था। * बुद्धियोगलक्षण योग (योगात्मिका उपासना), ज्ञानयोग, कर्म्मयोग, विराडुपासनात्मक सिद्धिमार्ग इत्यादि का स्वरूप विकृत होचुका था। ज्ञानवैराग्ययुक्त भक्ति का मौलिक स्वरूप अस्तप्राय होचुका था। उसी भक्तिमार्ग के प्रसार के लिए भागवत ग्रन्थ अवतीर्ण हुआ। इस दृष्टि से भी भागवत को भक्तिप्रधान ग्रन्थ--मानना हीं न्यायसंगत प्रतीत होता है।

४४–श्री मद्भागवत के द्वारा भक्ति के ज्ञान--वैराग्य नामक वृद्धपुत्रों को जीवनप्रदान–

हमें तो यह कहने में भी कोई संकोच नहीं होरहा कि, उपनिषत् ने जिस निर्गुणभक्ति को जन्म दिया, विवस्वान् के प्रति गीतोपदेश के द्वारा जो भक्ति विकसित हुई, व्याससूत्रों के द्वारा जिस भक्ति का उपबृंहण हुआ, श्रीमद्भागवत् ने (लोकसंग्रह की दृष्टि से लीलाचरित्र, नामस्मरण, प्रतिमार्च्चन आदि अवरभक्तिमार्ग का प्रतिपादन करते हुए) मुख्यरूप से भक्ति के विलुप्तप्राय ज्ञान–वैराग्य–पुत्रों को हीं पुनरुज्जीवित किया। इसी दृष्टि से हम भागवत को भगवद्गीता–समकक्ष मानने के लिए तय्यार हैं।

४५–श्रीमद्भागवत की समाधिभाषा, एवं तत्प्रमाणाधारेण प्रतिष्ठित वेदसिद्ध शुद्धाद्वैतसम्प्रदायात्मक-पुष्टिमार्ग का संस्मरण—

यही कारण है कि, परम वैदिक शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय--प्रवर्त्तक आचार्य्यश्री ने वेद–गीता–व्याससूत्रों के साथ साथ भागवत की समाधिभाषा को भी प्रमाण माना है। भागवत में–**लौकिकभाषा, परमतभाषा, समाधिभाषा** भेद से तीन दृष्टियाँ हैं। व्यास का (ज्ञानवैराग्ययुत निर्गुणाव्यय–भक्तिरूप अपना) प्रातिस्विक मत ही समाधिभाषा है। समाधिभाषा के आधार पर ही पुष्टिमार्ग का विकास हुआ है, जैसाकि निम्न लिखित पद्यों से स्पष्ट है—

*** न योगी, नैव सिद्धा वा न ज्ञानी, सत्क्रियो नरः।**
कलिदावानलेनाद्य साधनं भस्मतां गतम् ॥

सात्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः ॥
भ्रान्तसम्भवा दैवात् तेषामर्थे निरूप्यते ॥१॥
वेदाः, श्रीकृष्णवाक्यानि, व्याससूत्राणि चैव हि ।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं सचतुष्टयम् ॥२॥
लौकिकी, चान्यभाषा च. समाधेः पोषिकेतु नु ॥३॥

४६-पौराणिक-दृष्टिकोण के अभिव्यञ्जक कतिपय सन्दर्भ—

हाँ, तो कहना यह था कि, पुराणने युगधर्म्मानुसार भक्तिमार्गों का श्रेणि-विभाग करते हुए ज्ञानवैराग्य-युत भक्तिमार्ग की ही श्रेष्ठता सिद्ध की है। दूसरे शब्दों में—उसने बुद्धियोगपक्ष का ही समर्थन किया है। यही नहीं, एक स्थान पर तो स्पष्ट शब्दों में उसने प्रतिमापूजन को सामान्य अधिकारियों की ही वस्तु मान लिया है। विशेष विस्तार का अवसर नहीं हैं। केवल कुछ एक वचन ही उद्धृत कर दिए जाते हैं, जिन के आधार पर पाठक स्वयं हीं यह निर्णय करलेंगे कि, पुराण का वास्तविक दृष्टिकोण क्या है—

४७ [१]-निगु णाव्ययोपासनात्मक (वैराग्यमय अद्वैतलक्षण-सर्व-श्रेष्ठ) भक्तिमार्ग (बुद्धियोग)—

१-तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया ।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत् ॥ (३।२६।७२।)

२-प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैगु णैः ।
अविकारादकर्तृ त्वान्निगुणत्वाज्जलार्कवत् ॥ (३।२७।१।) ÷ ।

३-यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना ।
सर्वत्र जातवैराग्य आ ब्रह्मभुवनान्मुनिः ॥ (३।२७।२७।) ।

४-मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा ।
निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम् ॥ (३।२७।२८।)

५-प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशाच्छिन्नसंशयः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तेत योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे ॥ (३।२७।२९।) ।

६-यदा न योगोपचितासु चेतो-
मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग ।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्यात्-
आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ॥ (३।२७।३०) ।

÷-अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति, न लिप्यते ॥ (गीता)

७–लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥ (३।२९।१२) ।
८–स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्यत्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥ (३।२९।१४) ।

१

—*—

४८–निर्गुणाव्ययोपासनात्मकस्य बुद्धियोगमार्गस्य सर्वोत्कर्षसूचनार्थ-प्रतिमोपासनायाः–अवरत्वनिरूपणम्—

१—अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
२—यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् * ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः ॥
३—द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥
४—अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥
५—अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्म्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥
६—आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥

—३।२९।२१ से २५ पर्य्यन्त ।

—*—

* यह सुना गया है कि, अज्ञानतावश शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होने वाले सनातनियों, एवं आर्य्यसमाजियों में ऐसे श्लोकों के द्वारा ही स्वार्थसिद्धि की वृथा चेष्ट की जाती है । अवश्य ही यह देश का दुर्भाग्य है कि–आज हमारा बौद्धिक-जगत् सर्वथा ही निर्बल बन चुका है । विचार किस पद्धति से करना चाहिए ?, पूर्वापर की सँगति से शास्त्रीय वचनों का क्या मर्म्म निकलता है ?, यह वृत्ति आज सर्वथा उच्छिन्न होचुकी है । यदि कोई "त्र्यम्बकं यजामहे" से प्रतिमापूजन के मण्डन का अभिमान करता है, तो कोई उक्त पुराणवचन का मर्म्म न समझ कर प्रतिमापूजन का खण्डन करता है । विधि की यह कैसी विडम्बना है ? ।

४६-(२)-सगुण-षोडशोप्रजापत्युपासनात्मक-(भक्तिमय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग-(भक्तियोग)

१- मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥ (११।१२।१५।) ।

२-यस्मिन्निद प्रोतमशेषमोतं पटो यथ। तन्तुवितानसंस्थः ।
स एष संसारतरुः पुराणः कर्म्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते ॥ (११।१२।२१।) ।

३-द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः ।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कप्रविष्टः ॥ (११।१२।२२।) ।

४-अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः ।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥ (११।१२।२३।) ।

५-एवं गुरूपासनयैकभक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः ।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥ (११।१२।२४)।

६-मनसा वचसा दृष्टया गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥ (११।१३।२४।) ।

७-एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था—
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः ।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्णा—
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम् ॥ (११।१३।३३।) ।

८-न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म्म उद्धव ! ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथाभक्तिर्ममोर्जिता ॥ (११।१४।२०।) ।

९-वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥(११।१४।२४।)।

१०-विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥ (११।१४।२७।) ।

११-तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनोमद्भावभावितम् ॥ (११।१४।२८।) ।

२

—:*:—

५०-[३]-सविकार-यज्ञप्रजापत्युपासनात्मक-(कर्म्ममय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग-(कर्म्मयोग)।

१-यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन् विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः।
तावत्स्थवीयः पुरुषस्य रूपं क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत ॥ (२।२।१४)।

२-एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः।
भगवत्यचलो भावो मद्भागवतसंगतः ॥ (२।३।११)।

३-अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाकम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥ (२।३।१०)।

४-कर्म्म प्रवृत्तं च निवृत्तमप्यृतं वेदे विविच्योभयलिङ्गमाश्रितम्।
विरोधि तद्यौगपदैककर्त्तरि द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म्म नर्च्छति ॥ (४ ४।२०)

५-राज्यकामो मनून् देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत्।
कामकामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम् ॥ (२।३।९)।

३

—*—

५१-(४)-सविकार-यज्ञप्रजापत्युपासनात्मक-(ज्ञानमय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग (ज्ञानयोग)

१-आकर्त्तुः कर्म्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः।
गुणेषु सत्सु प्रकृतिः कैवल्यं तेष्वतः कथम्? (३।२७।१९)

२-ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ॥ (३।२७।२२)।

३-प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम्।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः ॥ (३।२७।२३)।

४-अतएव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम् ॥ (३।२७।५)।

५-यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना ।
सर्वत्र जातवैराग्य आ ब्रह्मभुवनान्मुनिः ॥ (३।२७।२७)।

६-प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम् ॥ (३।२८।९)।

७-मनोऽचिरात् स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥ (३।२८।१०)।

८-यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम् ।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत् स्वनासाग्रावलोकनः ॥ (३।२८।१२)।

४

५२-(५)-साञ्जन-विराट्प्रजापत्युपासनात्मक-(काम्यकर्म्ममय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग (इष्टयोग)—

१-ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम् ।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन् ॥

२-देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम् ।
वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्य्यकामोऽथ वीर्य्यवान् ॥

३-अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान् ।
विश्वान् देवान् राज्यकामः साध्यान् संसाधको विशान् ॥

४-आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत् ।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ ॥

५-रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम् ।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम् ॥

६-यज्ञं यजेद्यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम् ।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थं उमां सतीम् ॥

७-धर्म्मार्थमुत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितॄन् यजेत् ।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान् ॥

८–राज्यकामो मनून् देवान्निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत् ।
कामकामो यजेत् सोमम्.................॥

—श्रीमद्भागवते २।३।२। से ६ पर्य्यन्त

——**——

६ (१)–जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ।
स्थूले भगवतो रूपे मनः संचारयेद्धिया ॥

१० (२)–विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम् ।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत् ॥

११ (३)–आण्डकोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते ।
विराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः ।

—२।१।२३,२४,२५,।

१२ (४)–इयानसावीश्वरविग्रहस्य यः संनिवेशः कथितो मया ते ।
संधार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित् ॥

१३ (५)-स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा तथा स्वप्नजनेक्षितैकः ।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः ॥

—२।१।३८,३९,।

४

——**——

५३-(६)–सावरण-विश्वप्रजापत्युपासनात्मक-(काममय-द्वैतलक्षण) भक्तिमार्ग–[कामयोग]—

क–१–देवयोनिनिबन्धना सिद्ध्युपासना–विश्वोपासना—

१–जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥ (११।१५।१)

२–सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणायोगपारगैः ।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥ (११।१५।३) ।

३–सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः ।
अहं योगस्य सांख्यस्य धर्म्मस्य ब्रह्मवादिनाम् ॥ (११।१५।३५) ।

——१——

ख–२–मनुष्य-पशु-पक्षी-कीटादि-निबन्धना-उपासना [विश्वोपासना]

१–यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥ (११।११।४१)

२–सूर्य्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ॥ (११।११।४२)

३–सूर्य्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम् ।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना ॥ (१।११।४३) ।

४–वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥ (११।११।४४)

५–स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥ (११।११।४५) ।

६–धिष्ण्येष्वेष्विति मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत् समाहितः ॥ (११।११।४६)

७–मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् ।
परिचर्य्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्म्मानुकीर्त्तनम् ॥(११।११।३४)

८–मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव ! ।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥ (११।११।३५)

९–गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ।
मज्जन्मकर्म्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् ॥ (११॥११।३६) ।

१०–यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु ।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥ (११।११।३७) ॥

११–ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः ।
उद्यानोपवनक्रीडापुरमन्दिरकर्म्मणि ॥ (११।११।३८) ।

१२–संमार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्त्तनैः ।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया ॥ (११।११।३९) ।

१३--अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम् ।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥ (११।११।४०) ।

१४--नामसंकीर्त्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥ (१२।१३।२३) ।

---*---

५४-युगधर्म्मभेद-निबन्धन-भक्तिमार्ग-स्वरूप—

कृतयुगे—

१-आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः ।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात् कृतयुगं विदुः ॥ (११।१७।१०।)

२-वेदः प्रणव एवाग्रे धर्म्मोऽहं वृषरूपधृक् ।
उपासते तपोनिष्ठां हंसं मां मुक्तिकिल्विषाः ॥ (११।१७।११।)

---*---

त्रेतायुगे च—

द्वापरयुगे—

३--त्रेतायुगे महाभाग ! प्राणान्मे हृदयात्त्रयी ।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मुखः ॥ (११।१७।१२।)

४-विप्रक्षत्रियविट् शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ।

---*---

कलियुगे—

५-एकाकारं कलिं दृष्ट्वा सारवत् साऽरनीरसम् ।
विष्णुरातः स्थापितवान् कलिजानां सुखाय च ॥

६-कुकर्म्माचरणात् सारः सर्वतो निर्गतोऽधुना ।
पदार्थाः संस्थिता भूमौ बीजहीनास्तुषा यथा ॥

७-विप्रैर्भागवती वार्त्ता गेहे गेहे जने जने ।
कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गतः ॥

८–कामक्रोधमहालोभतृष्णाव्याकुलचेतसः।
तेऽपि तिष्ठन्ति तपसि तपः सारस्ततो गतः॥
९–मनसश्चाजयाल्लोभदम्भात्पाखण्डसंश्रयात्।
शास्त्रानभ्यसनाच्चैव ध्यानयोगफलं गतम॥
१०–अत्युग्रभूरिकर्म्माणो नास्तिका रौरवा जनाः।
तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गतः॥
११–पण्डितास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव।
पुत्रस्योत्पादने दक्षा अदक्षा मुक्तिसाधने॥
१२–न हि वैष्णवता कुत्र सम्प्रदायपुरःसरा।
एवं प्रलयतां प्राप्तो वस्तुसारः स्थले स्थले॥
१३–अयं तु युगधर्म्मो हि वर्त्तते कस्य दूषणम्।
अतस्तु पुण्डरीकाक्षः सहते निकटे स्थितः॥

५५–पौराणिक-उद्धरणों से अनुप्राणित भक्तिमार्ग का स्वरूप-समन्वय, एवं वर्त्तमानयुगे तदुपासना की भी स्वरूप-विच्युति का दुःखपूर्ण इतिवृत्त—

उक्त पौराणिक उद्धरणों से यह तो सर्वथा स्पष्ट ही है कि, कलहमूलक कलियुग में प्रचलित भक्तिमार्ग अपनी ज्ञान–वैराग्य–तपः–प्रणिधान आदि मौलिक सम्पत्तियों से वञ्चित हो ही गया है, साथ ही प्रतिमा–पूजन, नामस्मरण, गुरूपासन आदि भक्ति के जो रूप [विश्वप्रजापत्युपासनारूप] विशेषरूप से कलियुग के लिए ही विहित हुए हैं, उन का स्वरूप भी एकप्रकार से लुप्तप्राय ही बन चुका है। प्रतिमापूजन ने **स्वार्थ–सिद्धि** का, नामस्मरण ने **लोकख्याति** का, गुरूपासना ने साम्प्रदायिक रूढिवादमूलक **व्यक्तिपूजन** का आसन ग्रहण कर लिया है। साधन ने साध्य का बाना पहिन लिया है। यदि इन्हीं सब अनाचारों से देश में प्रतिमापूजन के विरोधी उत्पन्न होजायँ, तो इसमें इन विरोधियों का कोई दोष नहीं माना जासकता। और यह भी निःसंदिग्ध है कि, यदि प्रतिमापूजन का यही अर्थ है, तो ऐसे प्रतिमापूजन का शास्त्र में तो विधान भी नहीं है।

५६–उपासनामार्ग के सम्बन्ध में अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित-'मध्यस्थ' का स्वरूप-समन्वय–

शास्त्र किस लक्ष्य से प्रतिमापूजन का विधान करता है ?, इस प्रश्न की आलोचना तो पाठक आगे के उपासनाभेदों में देखेंगे। यहाँ इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना अलं होगा कि, निर्गुण–निर्धर्म्मक–निराकार, अतएव व्यापक आत्मतत्त्व के साथ समबलयभाव प्राप्त करने के लिए किसी सगुण, सर्वधर्म्मोपपन्न, साकार, अतएव परिच्छिन्न विश्वविभूति का माध्यमिकदृष्टि से (मनःसंयम के लिए) आश्रय लेना ही प्रतिमापूजन है। बिना इस माध्यमिक के उपासना में कभी सफलता नहीं मिल सकती।

५७–ज्ञान-कर्म्म-उपासना-नामक तीनों हीं पथों में अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित मध्यस्थ 'भूतभावों' का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तत्सम्बन्ध में सर्वथा अपेक्षित शब्दप्रमाण का संस्मरण—

न केवल उपासना हीं, अपितु ज्ञानकाण्ड, एवं कर्म्मकाण्ड में भी हमें लक्ष्यसिद्धि के लिए आरम्भ में भौतिक द्रव्यों को ही मध्यस्थ बनाना पड़ता है। ज्ञान का उदय मूर्त्त द्रव्यों के समाश्रय पर ही निर्भर है। एवमेव कर्म्मसिद्धि भी भौतिक पदार्थों के आश्रय की ही अपेक्षा रखती है। निर्विकल्पक ज्ञान, भूतविरहित कर्म्म, प्रतिमावञ्चिता उपासना, तीनों हीं साधनाकोटि में सर्वथा निरर्थक हैं। इसप्रकार बिना प्रतिमा-माध्यम के भारतीय महर्षियों की शास्त्रीया योगत्रयी, एवं लौकिकी योगत्रयी कभी समन्वित नहीं होसकती। प्रश्न है—प्रमाणवाद का। और प्रश्न आवश्यक भी है, जबकि निम्न लिखित आदेश हमें अपने ज्ञातव्य–कर्त्तव्य मार्गों के निर्णय के सम्बन्ध में शास्त्रप्रमाण की आवश्यकता की ओर ही आकर्षित कर रहे हैं। देखिए!

१–"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि"॥

२–"शब्दप्रमाणका वयं. यच्छब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्"।

३–"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्म इत्याह जैमिनिः।
न भवेच्चोदना यत्र सोऽधर्म्म इति निश्चितः"॥

४–"प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्"।

५८–आर्य्यसमाज की मान्यता से अनुप्राणित चतुःसंहितात्मक वेदशास्त्र, और तत्सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

प्रमाण अपेक्षित है प्रतिमापूजन के विधान के सम्बन्ध में। और वह प्रमाण होना चाहिए शास्त्रीय। शास्त्र एक नहीं, अनेक हैं। किस शास्त्र के प्रमाण से प्रमाणभक्त तुष्ट होसकेगें ?, यह भी एक आवश्यक प्रश्न है। यदि प्रश्नकर्त्ता का यह आग्रह हो कि, हमें इस सम्बन्ध में केवल उस वेदशास्त्र का ही प्रमाण चाहिए, जिसकी **ऋक्, यजुः, साम, अथर्व** नाम की चार संहिताएँ प्रसिद्ध, एवं आर्य्यजगत् में प्रचलित हैं। ऐसे प्रमाण की अपेक्षा रखने वाले का अभिप्राय यही है कि, अपौरुषेयवेद की केवल चार ही संहिताएँ हैं, जिन्हें कि आर्य्यसमाज के प्रवर्त्तक आचार्य, एवं तदनुगामी सामाजिक विद्वान् वेद नाम से व्यवहृत करते हैं। एवं जिनकी कि दृष्टि में इतर ११२७ वेदशाखाएँ, ११३१ ब्राह्मणग्रन्थ, ११३१ आरण्यकग्रन्थ ११३१ उपनिषद्ग्रन्थ साक्षात् वेद न होकर वेद के व्याख्याग्रन्थमात्र ही हैं।

५९–प्रतिमापूजन की अवैदिकता से अनुप्राणिता अविचारितरमणीया विचा

इसप्रकार अनन्तवेद के एकदेश को ही वेद मानने का अभिमान करने वाले **महाशय** ही हमारे सामने यह प्रश्न रखते हैं कि, "जबतक इन चार संहिताओं के मन्त्रों के द्वारा पाषाणादि की प्रतिमाओं का

अर्चन पूजन सिद्ध नहीं कर दिया जाता, किंवा जबतक इन संहिताओं में मूर्त्ति शब्द नहीं दिखला दिया जाता, तबतक प्रतिमापूजन कभी वेदशास्त्रसम्मत नहीं माना जासकता। और ऐसी दशा में यह प्रतिमापूजन-सिद्धान्त विशुद्ध पौराणिक बनता हुआ, अतएव वेदशास्त्रविरुद्ध बनता हुआ सर्वथा त्याज्यकोटि में हीं आ-जाता है।"

६०-वर्त्तमान-प्रतिमापूजन-प्रकारों की तथाकथित वेदशास्त्र में अनुपलब्धि, एवं तन्नि-बन्धना महती जिज्ञासा—

जहाँतक हमें स्मरण होता है, इन चार संहिताओं में सचमुच प्रतिमापूजन का विधान नहीं है। एवं न कहीं मूर्त्ति शब्द ही उपलब्ध होता है। ऐसी दशा में तो परप्रश्न का अनुगमन करते हुए हमें भी थोड़ी देर के लिए तो यही मान लेना पड़ता है कि "प्रतिमापूजन का वर्त्तमानरूप सर्वथा वेदविरुद्ध बनता हुआ अप्रामाणिक, अतएव सर्वथा त्याज्य ही है"। "परन्तु......."।

६१-आक्षेपकर्त्ता की मान्यताओं के सम्बन्ध में समुपस्थिता महती-विप्रतिपत्ति—

इस 'परन्तु' ने आजतक कितने भावुकों की आशाएँ निर्मूल कर दीं?, इस सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। आज वही पुरातन **'परन्तु'** उक्त सिद्धान्त को भी निराश करने के लिए सन्नद्ध प्रतीत होरहा है। **"संहिता में प्रतिमापूजन का विधान नहीं, संहिता में मूर्त्ति शब्द नहीं, इसलिए मूर्त्तिपूजन अवैदिक, एवं त्याज्य है"** यदि इस हेतु को प्रामाणिक मान लिया जायगा, तो आक्षेप-कर्त्ता का कर्त्तव्यात्मक कोई भी विधान सुरक्षित न रह सकेगा।

६२-'संस्कारविधि' से अनुप्राणित संस्कारों की इतिकर्त्तव्यताओं से एकान्ततः असंस्पृष्ट वेदशास्त्र, और महाशयवर्ग से प्रतिप्रश्नात्मिका जिज्ञासा—

उदाहरण के लिए संस्कारविधि में प्रयुक्त गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म्म, नामकरण, अन्नप्राशन, यज्ञोपवीत, विवाह, आदि जितने भी संस्कार हैं, जिन संस्कारों को आर्य्यजगत् वेदसिद्ध मानने का अभिमान कर रहा है, उक्त हेतुवाद के आगे इन में से किसी की भी प्रामाणिकता सुरक्षित न रह सकेगी। कारण स्पष्ट है। जिसप्रकार संहिता में प्रतिमापूजन की पद्धति नहीं है, एवमेव उक्त संस्कारों की पद्धति (इतिकर्त्तव्यता) का भी वहाँ आत्यन्तिक अभाव है। आश्चर्य्य तो यह है कि, अभिनिविष्ट लोग साहसपूर्वक जिस यज्ञसूत्र को स्त्री-शूद्रादि के गले में डालना एक वेदसिद्ध कर्म्म समझते हैं, चारों संहिताओं का अथ से इति पर्य्यन्त पारायण करने पर भी वह **"यज्ञोपवीत"** शब्द न मिलेगा, जबकि मूर्त्तिशब्द का ही रूपान्तर प्रतिमाशब्द, एवं पूजनशब्द का ही रूपान्तर **अर्चा**, किंवा **अर्चन** शब्द सैंकड़ों स्थानों में स्वयं मूलसंहिताओं में हीं प्रयुक्त मिलेगा।

६३-ज्ञातव्यभाव-निबन्धन वेदशास्त्र का 'विद्याशास्त्रत्त्व'-समन्वय—

इसी आधार पर क्या हम उन आग्रहकर्त्ताओं से यह निवेदन नहीं कर सकते कि, पद्धति के न मिलने से, मूर्त्ति शब्द के न मिलने से ही यदि प्रतिमापूजन आप की दृष्टि में अवैदिक है तो, आज ही से आप को धर्म्मसम्बन्धी सम्पूर्ण क्रियाकलाप छोड़ देने चाहिएँ। क्योंकि आचरणीय किसी भी धर्म्म की पद्धति संहिता में निरूपित नहीं है। और निरूपण होना भी नहीं चाहिए, जबकि वेद का संहिता भाग केवल ज्ञातव्यभाग में प्रतिष्ठित होता हुआ केवल विद्यापुस्तक है, विद्याशास्त्र है।

६४–सर्वथा विभक्त 'विद्याशास्त्र,' एवं 'धर्म्मशास्त्र,' तथा तन्निबन्धन 'ज्ञातव्य,' और 'कर्त्तव्य' वेद का संस्मरण—

भारतीयशास्त्र को **विद्याशास्त्र**, एवं **धर्म्मशास्त्र** भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है । धर्म्म का मौलिक रहस्य बतलाने वाला शास्त्र विद्याशास्त्र है, एवं मौकिल रहस्यों के आधार पर प्रतिष्ठित कर्त्तव्य-इतिकर्त्तव्यता–निरूपक शास्त्र धर्म्मशास्त्र है । हमें क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, इस कर्त्तव्या-कर्त्तव्य-कर्म्मजाल की (आदेशनावाक्यों के द्वारा) व्यवस्था करने वाला शास्त्र धर्म्मशास्त्र है, एवं "क्यों करना चाहिए, क्यों नहीं करना चाहिए ?, इस क्यों का (रहस्यशिक्षण के द्वारा) समाधान करने वाला शास्त्र विद्याशास्त्र कहलाता है ।

६५–विद्या-उपनिषत्-एवं श्रद्धा से समन्वित कर्म्म की वीर्य्यवत्ता का स्वरूप-समन्वय, तथा-'विद्या धर्म्मेण शोभते' का संस्मरण—

विद्या का केवल सम्यग्दर्शन, एवं सम्यग्ज्ञान से सम्बन्ध है, एवं धर्म्म का सम्यक् आचरण से सम्बन्ध है । जानना विद्या है, करना धर्म्म है । सिद्धान्त विद्या है, सिद्धान्तानुगमन धर्म्म है । यदि धर्म्म विद्याशून्य है, तो **"अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे"** के अनुसार वह पतन का कारण बन जाता है । **"यदेव विद्ययोपनिषदा श्रद्धया करोति, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति"** इत्यादि श्रुति विद्यायुक्त धर्म्माचरण (कर्त्तव्यानुष्ठान) को ही वीर्य्यवत्तर बतला रही है । एवमेव यदि विद्या धर्म्मशून्य है, तो वह निरर्थक है । **"ततो भूय ते तमो य उ विद्यायां रताः"** इत्यादि श्रुति केवल विद्या को भी बुरा बतला रही है । विद्या (ज्ञान) की शोभा धर्म्म (आचरण) है–**"विद्या धर्म्मेण शोभते ।"**

६६–विज्ञान-स्तुति-इतिहासात्मक ज्ञातव्य-वेदशास्त्र, एवं कर्म्म-उपासना-ज्ञानात्मक-कर्त्तव्य-वेदशास्त्र का तात्त्विक-स्वरूप-संस्मरण—

इस कर्त्तव्यात्मक धर्म्मशास्त्र के आगे जाकर श्रुति स्मृति ये दो भेद हो जाते हैं । वैदिक ज्ञातव्य, एवं वैदिक कर्त्तव्य भेद से एक ही वेदशास्त्र दो भागों मे विभक्त होजाता है । **विज्ञान, स्तुति, इतिहास**, ये तीन ज्ञातव्य विषय हैं । एवं संहितारूप मन्त्रवेद में इन्हीं तीनों ज्ञातव्य विषयों का निरूपण हुआ है । **कर्म्म**[१], **उपासना**[२], **ज्ञान**[३] (भौतिककर्म्म, माध्यमिककर्म्म, आध्यात्मिककर्म्म) ये तीन कर्त्तव्य विषय हैं । ब्राह्मणात्मक वेद के **विधि, आरण्यक, उपनिषत्** तीन भागों में क्रमशः इन तीन कर्त्तव्यभागों का निरूपण हुआ है । वैदिक कर्त्तव्य, एवं स्मार्त्तकर्त्तव्य में कर्त्तव्य दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है । कर्त्तव्यात्मक वेदभाग में जिन कर्त्तव्यों का निरूपण हुआ है, मन्वादि स्मृतियों नें उन्हीं का स्पष्टीकरण किया है । विशेषता है-निरूपणीया पद्धति–मात्र में ।

६७–धर्म्मरहस्य–प्रतिपादक श्रुतिशास्त्र, एवं धर्म्माचरण–प्रतिपादक-स्मृतिशास्त्र, तथा तत्सम्बन्ध में राजर्षि मनु—

स्मृतिशास्त्र केवल कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में विधि--निषेध कर के तटस्थ बैठ जाता है । वह इन कर्त्तव्यों का मौलिक रहस्य (विद्या) नहीं बतलाता । यही नहीं, यदि उससे कोई उसकी आज्ञा के

सम्बन्ध में-"-ऐसा ही क्यों करें?" यह हेतु सामने रखने की धृष्टता कर बैठता है, तो पहिले तो सीधे शब्दों में वह—"धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" (यदि तुम्हें धर्म्म का मौलिक रहस्य जानना है, तो वेद का आश्रय लो) यह उत्तर देता है। यदि हेतुवादी दुराग्रह करने लगता है, तो उसके मुख से निम्न लिखित उत्तर मिलता है कि –

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्य्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

—मनुः

६८-'विद्याशास्त्र,' तथा 'धर्म्मशास्त्र'-अभिधाओं का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

उधर कर्त्तव्यात्मक (ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषद्रूप) वेदशास्त्र कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में विधि–निषेध करता हुआ साथ साथ इनका मौलिक रहस्य (विद्या) भी बतलाता जाता है। प्रत्येक कर्म्म–उपासना–ज्ञानरूप कर्त्तव्य के साथ ही उसकी उपपत्ति प्रतिपादित है। अपनी इस विद्यात्मिका विशेषता से ही आगे जाकर कर्त्तव्यात्मक सोपपत्तिक वेदरूप यह 'धर्म्मशास्त्र' **'विद्याशास्त्र'** नाम से प्रसिद्ध होगया है, एवं केवल स्मृतिशास्त्र ही **'धर्म्मशास्त्र'** नाम का अधिकारी बच रहा है।

६९–विशुद्ध-विद्याशास्त्र, विद्यागर्भित-धर्म्मशास्त्र, एवं विशुद्ध-धर्म्मशास्त्र-भेदनिबन्धना शास्त्रत्रयी का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

निष्कर्ष यह निकला कि, विद्याशास्त्र वेदशास्त्र है। इसके ज्ञातव्य–कर्त्तव्य–भेद से दो विभाग हैं। ज्ञातव्या विषयत्रयी (विज्ञान–स्तुति–इतिहासत्रयी) का निरूपक संहितारूप मन्त्रभाग है। इसमें किसी भी कर्त्तव्यकर्म्म का निरूपण नहीं है। एवं कर्त्तव्यविषयत्रयी (कर्म्म–उपासना–ज्ञानत्रयी) का निरूपक, विधि–आरण्यक-उपनिषदात्मक ब्राह्मणभाग है। इसप्रकार **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"** इस आर्षोक्ति से प्रमाणीकृत मन्त्रात्मक वेद विद्यात्मक बना हुआ है, ब्राह्मणात्मक वेद विद्यागर्भित धर्म्मात्मक बना हुआ है। धर्म्मात्मक वेदभाग के आधार पर प्रतिष्ठित, दूसरे शब्दों में श्रौतकर्त्तव्यों का प्रतिपद अनुसरण करने वाला विशुद्ध विधि-निषेधात्मक स्मृतिशास्त्र विशुद्ध धर्म्मशास्त्र बना हुआ है। इस दृष्टि से प्रमाणरूप शास्त्र के –१– **विशुद्ध विद्याशास्त्र**, –२–**विद्यागर्भित–धर्म्मशास्त्र**, –३–**विशुद्ध धर्म्मशास्त्र**, ये तीन भेद होजाते है। इन तीनों में से विशुद्ध धर्म्मशास्त्र (स्मृतिग्रन्थ) वह प्रामाणिक माना जाता है, जिस का मूल विद्यागर्भित धर्म्मशास्त्र के किसी पर्व में (विधि, आरण्यक, एवं उपनिषत् में], एवं विशुद्ध विद्याशास्त्र में [संहिता में] प्रतिष्ठित रहता है। वेदशास्त्र से विरुद्ध धर्म्मशास्त्र सर्वथा उपेक्षणीय है, जैसाकि निम्न लिखित आदेश से ही स्पष्ट है–

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥

१ { १--विज्ञानम्—खण्डखण्डात्मकावन्तरविज्ञानगर्भितम्
२-स्तुतिः—प्राणदेवतास्वरूपपरिचयरूपा
३-इतिहास:—सृष्टीतिवृत्तयुक्तो वेदयुगानुगत: } ज्ञातव्यत्रयी [विद्यात्मिका]

—*—

२ { १-कर्म्म—आधिभौतिकं विशुद्धं कर्म्म
२-उपासना—अधिभूताधिदैवयुक्तं कर्म्म
३-ज्ञानम्—आधिदैविकं विशुद्धं-कर्म्म } कर्त्तव्यत्रयी [विद्यागर्भिता]

—*—

३ { १-गृह्यधर्म्माः—आधिभौतिकाः
२-वानप्रस्थधर्म्मा:—आधिभौ०आधिदैविकाः
३-संन्यासधर्म्माः—आधिदैविकाः } धर्म्मत्रयी [धर्म्मात्मिका]

—*—

विद्याशास्त्रम् / वेदशास्त्रम् { १-ज्ञातव्यत्रयी-विशुद्धविद्यात्मिका—विद्याशास्त्रम्-वेद: (संहिता:-मन्त्र:)
२-कर्त्तव्यत्रयी-विद्यागर्भितधर्म्मात्मिका—विद्यायुक्तधर्म्मशास्त्रम्-श्रुतिः(वि०आ०उ०-ब्राह्मणम्)

धर्म्मशास्त्रम् / स्मृतिशास्त्रम् { ३-धर्म्मत्रयी-विशुद्धधर्म्मात्मिका—धर्म्मशास्त्रम्-स्मृति: (स्मृतय:)

—*—

७०-शास्त्रभारवृद्धि से अनुप्राणिता एक प्रासङ्गिकी जिज्ञासा, एवं तत्समन्वय-प्रयास—

इस सम्बन्ध में पाठकों के हृदय में एक नवीना जिज्ञासा उत्पन्न होसकती है । ज्ञातव्य--कर्त्तव्य के अतिरिक्त जब पुरुषार्थ के सन्बन्ध में और कुछ नहीं बच रहता, एवं ज्ञातव्यत्रयी का जब मन्त्रभागने, कर्त्तव्यत्रयी का विधि-आरण्यक--उपनिषद्रूप ब्राह्मणभागने निरूपण कर दिया, तो फिर तीसरे धर्म्मशास्त्र, किंवा स्मृति--शास्त्र की आवश्यकता ही क्या रह गई ? । क्यों स्मृतिशास्त्र का निर्म्माण कर शास्त्रभार बढाया गया ? ।

७१-भारतीय-शास्त्रतालिका की गुरुभारान्विता परम्परा के सम्बन्ध में जिज्ञासु की विप्रतिपत्ति का दिग्दर्शन—

प्रश्नमर्य्यादा यहीं समाप्त नहीं होजाती । मन्वादि स्मृतियों के अतिरिक्त १८ पुराण, १८ उपपुराण-भेदभिन्न षट्त्रिंशद्विध पुराणशास्त्र, षड्विध (६) कल्पग्रन्थ, चतुर्द्दशविध (१४) [ऊर्ध्वाधराद्याम्ना-

यादि-लक्षण] **सिद्धान्तग्रन्थ,** अष्टविध (८) **डामरग्रन्थ,** दशविध (१०) **यामलग्रन्थ,** चतुःषष्टिविध (६४) तन्त्रग्रन्थ, सम्भूय विंशोत्तरशत् (१२०) अवान्तर भागों में विभक्त षड्विध **आगमशास्त्र,** श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, सामयाचारिकसूत्र भेदभिन्न त्रिविध **कल्पग्रन्थ,** अवान्तर अनेकों विभागों को अपने गर्भ में रखने वाले शिक्षा, कल्प, छन्द व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष, नामक **अङ्गग्रन्थ, महाभारत,** ३६ अवान्तर भागों में विभक्त **षड्दर्शनग्रन्थ,** शुक्रादिनीतिग्रन्थ, आदि आदि उन असंख्य ग्रन्थों के निर्म्माण की ही क्या आवश्यकता थी, जबकि, सब काम शाखा-विभक्त वेदशास्त्र से ही सिद्ध था ?।

७२-वेदशाखाग्रन्थों के सम्बन्ध में महती-विप्रतिपत्ति का समुत्थान—

और फिर उन ११२७ संहिताओं की, ११३० ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों की ही क्या आवश्यकता थी, जबकि ४ संहिताग्रन्थों से, एवं एक एक ब्राह्मण आरण्यक--उपनिषत् से ही सब कुछ गतार्थ था ?।

७३-प्रतिमापूजन की अवैदिकता के उद्घोषक-वर्ग से प्रतिप्रश्नात्मिका जिज्ञासा—

प्रतिमापूजन को वेदविरुद्ध बतलाने वाले उन बुद्धिमानोंनें क्या कभी उक्त प्रश्नों की मीमांसा करने का कष्ट उठाया है ?। और फिर हम उन्हीं से यह प्रश्न क्यों न करें कि, भगवन् ! कर्त्तव्यकर्म्म के लिए जब अनादिकाल से कल्पद्धतियाँ प्रचालित हैं, तो फिर आपने इन स्वतन्त्र **संस्कारविधि** आदि महाग्रन्थों ? को जन्म देने का कष्ट क्यों उठाया ?। जब आगम-पुराणादि सब कल्पित हैं, वेदविरुद्ध हैं, केवल वेद ही अभ्युदय-कर है, तो, उन मन्त्रसंहिताओं से ही आपने क्यों नहीं अपने मतवाद को सुरक्षित रखने का कष्ट उठाया ?।

७४-वास्तविक शास्त्र, तथा शास्त्राभासों का समतुलन, एवं शास्त्राभासों की उपेक्षणीयता-

ग्रन्थकलेवर की वृद्धि से सम्बन्ध रखने वाली भीति अर्गला लगा रही है। नहीं तो उक्त शास्त्रों के सभी अवान्तर विभागों का मौलिक रहस्य सेवा में उपस्थित किया जाता, और उसके आधार पर श्रीमानों को यह विश्वास कराया जाता कि, सभी शास्त्र किसी आवश्यकतम प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर ही अवतीर्ण हुए हैं। हाँ, उन शास्त्राभासों की बात तो जाने दीजिए, जो वेदपद्धतियों से सर्वथा विरुद्ध बनते हुए एकान्ततः उपेक्षणीय ही हैं।

७५-मूलात्मक-यज्ञपुरुष, तूलात्मक कालपुरुष, एवं तन्निबन्धन पुरुष, तथा प्रकृति-विवर्त्तों का तात्त्विक-पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय, और पुरुष की समष्टि-व्यष्टि-रूपा पूर्णता का स्वरूप-संस्मरण—

प्रकरण-सङ्गति के लिए अभी उक्त शास्त्रभेद के सम्बन्ध में केवल यही जान लेना आवश्यक होगा कि, पुरुषव्याप्ति ही शास्त्रतत्त्व की प्रतिष्ठा है। गीता के शब्दों में--प्रकृतियुक्त अव्ययपुरुष, एवं मन्त्रसंहिता के शब्दों में अजब्रह्म (अव्ययब्रह्म) सर्वत्र-व्याप्त होरहा है। इस पुरुषतत्त्व के अक्षरलक्षणा महामाया, एवं क्षरलक्षणा योगमाया के सम्बन्ध-तारतम्य से **यज्ञ, काल,** भेद से दो रूप होजाते हैं। यज्ञपुरुष मूलब्रह्म है, कालपुरुष तूलब्रह्म है। यज्ञपुरुष पुरुषप्रधान है, कालपुरुष प्रकृतिप्रधान है। कारण स्पष्ट है। अक्षरयुक्त

महामायावच्छिन्न यज्ञपुरुष (षोडशीप्रजापति) अपरिवर्त्तनीया गुणातीता महामाया के सम्बन्ध से निर्गुण रहता हुआ, स्वस्वरूप से विकसित रहता हुआ प्रधान बना रहता है। उधर क्षरयुक्त योगमायावच्छिन्न कालपुरुष (विराट्प्रजापति) परिवर्त्तनीय त्रिगुणभावमयी योगमाया के सम्बन्ध से सगुण–सविकार–साञ्जन–सावरण–बनता हुआ स्व-स्वरूप से आवृत होकर प्रकृति से तिरोहित बना रहता है–**"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः"**। इसप्रकार अक्षर-क्षर-प्रकृति के भेद से उस एक ही पुरुष के **पुरुषप्रधान यज्ञपुरुष, प्रकृति-प्रधान कालपुरुष** ये दो विवर्त्त होजाते हैं। दोनों हीं विश्वव्यापक हैं, परन्तु एक (यज्ञपुरुष) समष्टिरूप रूप से—**"तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्"**। एवं एक (कालपुरुष) व्यष्टिरूप से–**"पुरश्चक्रे द्विपदः"-"पुरुष एवेदं सर्वम्"**।

७६–विश्वहृदयमूर्त्ति यज्ञपुरुष की त्रयीविद्यात्मकता का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

"यज्ञो विश्वस्य हृदयम्" के अनुसार अपने सहस्रांकों से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त रहता हुआ यज्ञपुरुष उक्थरूप से विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित होता है। पाठक यह जानते ही हैं कि, विश्वकेन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है—**"आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्"**। केन्द्रप्रतिष्ठित इसी सूर्य्य में, किंवा सौरमण्डल में गायत्री-मात्रिक वेदतत्त्व के आधार पर यज्ञ–पुरुष की यज्ञविभूति का विकास होता है, जैसा कि—**"सैषा त्रयीविद्या–तपति"—"सैषा त्रयीविद्या यद्यज्ञः"** इत्यादि निगमवचनों से स्पष्ट है।

७७–पुरुषानुगत-यज्ञात्मक-सौरपुरुष से अनुप्राणिता नित्या-अपौरुषेया निगमविद्या, तथा प्रकृत्यनुगता-कालात्मिका-पार्थिवी प्रकृति से अनुप्राणिता नित्या आगमविद्या का रहस्यपूर्ण समन्वय, और तन्निबन्धना निगमागमशास्त्रद्वयी का संस्मरण—

दूसरे व्यष्ट्यात्मक प्रकृतिप्रधान कालपुरुष से कालात्मक पार्थिवसम्वत्सरचक्र का आविर्भाव होता है। यही पार्थिव सम्वत्सर कलनात्मिका पार्थिवी सृष्टि का भाग्यविधाता बनता है। यही उस वेदात्मक यज्ञपुरुष का दूसरा रूप है, जिसे पूर्व प्रकरणों में हमने त्रैलोक्य–त्रिलोकात्मक पार्थिव विराट् कहा है। वह यज्ञतत्त्व स्वयं निर्गत होने से **निगम** है, यह कालतत्त्व निगम से आगत होने से **आगम** है। बस नित्य शास्त्रों के ये ही दो प्रधान रूप हैं। सूर्य्यविद्या यज्ञविद्या है, पुरुषविद्या है। पार्थिवविद्या कालविद्या है, प्रकृतिविद्या है। पुरुषविद्या नित्या निगमविद्या है, पार्थिवविद्या नित्यनिगमांशभूता शाश्वत–आगमविद्या है। निगमविद्या नित्य निगमशास्त्र है, आगमविद्या नित्य आगमशास्त्र है।

७८–निगमागममूलक मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र, एवं तन्मूलक पुराण-स्मृति-इतिहासात्मक शास्त्र का स्वरूप-संस्मरण—

इन्हीं दोनों नित्यविद्याओं के आधार पर प्राकृत-शास्त्रों के आधार पर महामहर्षियों के द्वारा शब्दात्मक निगम–आगम-शास्त्रों का निर्म्माण हुआ है। निगमशास्त्र के उन्होंने (प्रकृदि भेद के अनुसार ही) मन्त्र–ब्राह्मण दो भाग कर डाले हैं, एवं आगमशास्त्र के पुराण–इतिहास–स्मृति आदि विभाग कर डाले हैं। आगम के अवान्तर अनेक भेद ही स्मृतिशास्त्र है। इसीलिए इतिहासग्रन्थान्तर्गत (महाभारतान्तर्गत) गीता

आदि के लिए भी भगवत्पाद श्रीशंकर आदिने—"**यथाह स्मृतिः**" इत्यादि रूप से स्मृति शब्द का ही व्यवहार किया है। जब निगम के मन्त्र–ब्राह्मण भागों से ही ज्ञातव्य–कर्त्तव्य की सिद्धि गतार्थ थी, तो तीसरे स्मृतिशास्त्र का जन्म क्यों हुआ ?, इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

७९–ज्ञातव्यत्रयी का निरूपक वेदशास्त्र, एवं तदाधारेण आर्य्यजगत् के सम्मुख महती विप्रतिपत्ति का संस्थापन—

संहितात्मक वेदभाग जब केवल ज्ञातव्यत्रयी का निरूपण करता है, तो उसमें कर्त्तव्य-विधि का अन्वेषण करना, दूसरे शब्दों में आचार, व्यवहार, वर्णाश्रम, संस्कार, अवतारपूजन, मूर्तिपूजन, श्राद्ध, आदि धर्म्म-कर्म्मों की पद्धति ढूँढना पागलपन नहीं, तो और क्या है ?। यदि इसी उन्मत्तता का नाम ही वेदभक्ति है, तो छोड़िए आज से ही सन्ध्या, तर्पण, जीवितपितर श्राद्ध, यज्ञोपवीतादि संस्कार, हवन, भजन। क्योंकि इनमें से किसी एक की भी इतिकर्तव्यता संहिता में विहित नहीं है। एवं जिस इतर शास्त्रीय आदेश की पद्धति मूलसंहिता में न हो, वह आदेश आपकी दृष्टि में अवैदिक, किंवा वेद–विरुद्ध बनता हुआ सर्वथा त्याज्य है।

८०–प्रिय महाशयवर्ग से प्रणतभावेन किञ्चिदिव सामयिक-आवेदन—

प्रिय महाशय ! आपको स्मरण रखना चाहिए कि, आर्य्यजाति के जितने भी धर्म्मादेश हैं, जितने भी कर्तव्यानुष्ठान हैं, उन सब का संहिताओं में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्षरूप से आपको मूलमात्र मिल सकता है, पद्धति नहीं। हाँ यदि किसी कर्त्तव्यानुष्ठान का मूल संहिता में न मिले, तो वह स्मार्त्तादेश अवश्य ही अप्रामाणिक माना जायगा, एवं वेदबाह्य उन्हीं स्मृतियों को तमोनिष्ठा कहा जायगा।

८१–प्रतिमापूजनोपलब्धि के सम्बन्ध में किञ्चिदिव प्रासङ्गिक-नम्र निवेदन—

पूर्व में कहा जाचुका है कि, वेदशास्त्र के विशुद्ध विद्यात्मक, एवं विधागर्भित धर्म्मात्मक, दो विभाग हैं। संहिताभागरूप मन्त्रभाग तो विशुद्ध विद्यात्मक हैं। इनमें तो केवल कर्त्तव्यानुष्ठानों के केवल मूल ही उपलब्ध होंगे। दूसरा विधि -आरण्यक–उपनिषद्रूप ब्राह्मणभाग विद्यागर्भित धर्म्मशास्त्र है। इसमें अवश्य ही प्रतिमापूजन की इतिकर्त्तव्यता भी विहित हुई है। और बड़े विस्तार से विहित हुई है। जहाँतक हमारा विश्वास है, आक्षेपकर्त्ता ब्राह्मणभाग को साक्षात् वेद न मानता हुआ भी इनकी प्रामाणिकता अवश्य ही स्वीकार करता है। ऐसी दशा में तो स्वयं उसके मतानुसार भी प्रतिमापूजन सर्वथा प्रामाणिक बन जाता है। हाँ, तो पहिले उस संहितारूप मूलवेद का ही, आक्षेपकर्त्ता के मताभिमत चार संहिताओं का ही अन्वेषण कीजिए। देखें-उनमें प्रतिमा पूजन का मूल उपलब्ध होता है, अथवा नहीं ?।

८२–यज्ञात्मक विष्णु के पूर्ण, तथा अंशावतारों का पावन संस्मरण—

मूलान्वेषण से पहिले इस सम्बन्ध में एक रहस्यभाव को लक्ष्य बनाना आवश्यक होगा। सम्भवतः पाठक यह न भूले होंगे कि, पूर्व के उपासनामार्गों में यत्र यत्र यह स्पष्टीकरण किया गया है कि, अवतार–मर्य्यादा का विशेषरूप से वैदिक विष्णुदेवता के ही साथ सम्बन्ध है। यज्ञप्रजापति ही विष्णु है, एवं सम्पूर्ण अवतार इसी के पूर्णावतार, किंवा अंशावतार हैं।

८३–व्यक्षरमूर्त्ति-प्रजापति का स्वरूप-संस्मरण, एवं तन्निबन्धना संयती-क्रन्दसी-रोदसी-त्रिलोकी, और सर्वव्यापक-अश्वत्थवृक्ष का स्वरूप-समन्वय—

नियन्ता प्रजापति के प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्मा, आगतिलक्षण विष्णु, गतिलक्षण-इन्द्र ये, तीन पर्व हैं। ब्रह्मा स्वतन्त्र हैं, एकाकी हैं, एवं ये संयतीत्रैलोक्य के अधिष्ठाता हैं। विष्णुदेवता इन्द्र के युज्य–सखा हैं—"इन्द्रस्य युज्यः सखा"। पारमेष्ठ्य–सोम (अक्षरगणना के अनुसार चौथा अक्षर) इनकी प्रतिष्ठा है। अतएव विष्णु को सोमवंशी, किंवा सोममूर्त्ति माना गया है—"यो वै विष्णुः सोमः सः" (शतपथ)। इस–प्रकार विष्णु, सोम, इन्द्र, इन तीनों की समष्टि ही विष्णुतत्त्व है, एवं यों विष्णुदेवता क्रन्दसी-त्रैलोक्य के अधिष्ठाता हैं। तीसरे इन्द्रदेवता अग्निप्रधान, सोमगर्भित बनते हुए त्रिमूर्त्ति हैं। इन्द्र का सूर्य्यसंस्था में, सोम का चन्द्रसंस्था में, एवं अग्नि का पृथिवीसंस्था में विकास है। सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी की समष्टि ही इन्द्र–सोम–अग्निमूर्त्ति इन्द्र देवता हैं, यही त्रिनेत्रशिव, किंवा महादेव हैं। "महो देवो मर्त्यां आविवेश" वाले यही वृषभवाहन देवादिदेव महादेव हैं। सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी की समष्टि ही रोदसी त्रिलोकी है। इसके अधिष्ठाता ये ही इन्द्र–प्रधान महादेव हैं।

८४–अश्वत्थवृक्ष के अधोभाग में अवस्थित भगवान् भूतनाथ के आगमिक ध्यान का पावन संस्मरण—

अश्वत्थवृक्ष के मूल में ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं, मध्य में विष्णु प्रतिष्ठित हैं, एवं अन्तिम पर्वरूप रोदसी में ये त्रिनेत्र महादेव प्रतिष्ठित हैं। पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाली वर्णलिपि ही लिपिमय कमल है। यही "पद्भ्यां भूमि प्रतिष्ठितः" के अनुसार इनका आसन (प्रतिष्ठाभूमि) है। वृद्रुम (अश्वत्थवृक्ष) के अधस्तलोपलक्षित-रोदसी-त्रिलोकी में प्रतिष्ठित इसी गुह्यतत्त्व का स्वरूप बतलाता हुआ आगमशास्त्र कहता है—

> व्याख्या मुद्राक्षमालाकलशपुलखिते बाहुभिर्वाममादं।
> बिभ्राणो जानुमूर्ध्ना पदतलनिहितापस्मृतिद्रु दुमाधः॥
> सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्रः।
> क्षीराभश्चन्द्रमौलिर्वितरतु विबुधां शुद्धबुद्धिं शिवो नः॥१॥

८५–अमृत-मृत्यु-संस्थान-विवेक, एवं मृत्युविजेता भगवान् मृत्युञ्जय महादेव का माङ्गलिक संस्मरण, तथा तदनुगता लिङ्गोपासना का दिग्दर्शन—

सूर्य्य से उपर का भाग अमृत–प्रधान बनता हुआ अव्यक्त है। एवं नीचे का भाग मृत्यु–प्रधान बनता हुआ व्यक्त है। सूर्य्य ही व्यक्तीभाव का उपक्रम–स्थान है। प्रत्यक्ष में इसी सौरत्रिलोकी की अभि–व्यक्ति होरही है। मृत्युपाश से त्राण पाने के लिए इसी मृत्युञ्जय का यजन आवश्यक है। यही तत्त्व अव्यक्त विष्णु–ब्रह्मा का लिङ्ग (परिचायक) है, व्यक्त ही अव्यक्त का लिङ्ग बनाता है, अतएव इस व्यक्त महोदेव (महादेव) की "लिङ्ग" रूप से ही उपासना की जाती है, जैसाकि आगे के प्रकरणों में स्पष्ट होने वाला है।

८६–क्षत्ररुद्रात्मक सौर महादेव, एवं विड्रुद्रात्मिका रुद्रप्रजा का स्वरूप-समन्वय, तथा व्यक्त-मूर्त्त-मूर्त्ति-भावानुबन्धी इन्द्रात्मक-शिव के औपासनिक स्वरूप का दिग्दर्शन–

प्रकृत में इस देवत्रयी के स्वरूप–दिग्दर्शन से यही बतलाना है कि, तीनों में ब्रह्मा एक तटस्थदेवता हैं, विष्णु और इन्द्रात्मक शिव देवता ही आगति–गति धर्म्म से सहस्रत्रयीरूप विश्व के सर्वेसर्वा बन रहे हैं। जैसाकि-'इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इन में यज्ञमूर्ति विष्णु अव्यक्त बनते हुए अनिरुक्त हैं, एवं भूतमूर्त्ति शिव व्यक्त बनते हुए निरुक्त हैं। अनिरुक्त विष्णु अमूर्त्त जगत् के संचालक हैं, एवं व्यक्त शिव मूर्त्त जगत् के सञ्चालक हैं। मूर्त्ति (भौतिक दृश्य पदार्थ) भाव दृश्य जगत् है, एवं यह मृत्युप्रधान है। सूर्य्य से आरम्भ कर नीचे नीचे इसी मूर्त्तिलक्षण दृश्यमर्त्य विश्व का प्राधान्य है, जैसाकि—'तद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्–सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है। इस का 'जय' करने वाले वही मृत्युञ्जय महादेव है। मृत्युञ्जयरुद्र के क्षत्र-विट्–भेद से दो रूप माने गए हैं। प्रत्यक्षदृष्ट ताम्र सूर्य्य क्षत्ररुद्र है, एवं सूर्य्य की अनन्तरश्मियाँ विड्रुद्र (रुद्रप्रजा) हैं, जैसाकि–निम्नलिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।
ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशो वैषां हेड़ ईमहे ॥
असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।
उतैनं गोपा अदृश्यन्नदृश्यन्नुदहार्य्यः-स दृष्टो मृडयातु नः' ॥

—यजुःसंहितायाम्

८७-ताम्र-सुमङ्गल–नीलग्रीवादि–लक्षण त्र्यम्बक शिवतत्त्व, एवं उन के शिवशरीर, तथा घोरशरीर का पावन–संस्मरण—

'असौ, ताम्रः,सुमङ्गलः, नीलग्रीवः, विलोहितः, दृष्टः, इत्यादि शब्द इस के व्यक्तीभाव का ही समर्थन कर रहे हैं। इस व्यक्त रुद्रतत्त्व का मौलिक स्वरूप है 'सावित्राग्नि'। इस अग्नितत्त्व के ही **शिवशरीर, घोरशरीर,** भेद से दो स्वरूप बन जाते हैं। जबतक अग्नि के साथ सोमाहुति का सम्बन्ध है, तबतक तो इन्द्र देवता यज्ञरक्षक बनते हुए शिव बने रहते हैं। सोमाहुति के अवरूद्ध होजाने पर ये ही रुद्ररूप धारण करयज्ञ विध्वंसक बन जाते हैं। जैसाकि पौराणिक दक्ष–यज्ञध्वंसाख्यान से स्पष्ट है।

८८-यज्ञियरुद्राग्निदेवता की शान्ततनु, एवं आहुतिनिरोधानुगता घोरतनु का संस्मरण–

शारीराग्नि को रुद्र समझिए। जबतक सायं प्रातः इस में सोमरूप अन्न की आहुति होती रहती है, तबतक तो यज्ञिय रुद्राग्नि शान्त बना हुआ शरीरसंस्था की, दूसरे शब्दों में शरीरयज्ञ की रक्षा करते रहते हैं। अन्नाहुति बन्द होजाने पर यही विशुद्ध घोररूप धारण करता हुआ विनाश का कारण बन जाता है। रुद्र के इन्हीं दोनों स्वरूपों को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्त! अभिचाकशीहि ॥

—यजुःसंहितायाम्

८९–श्रावणमासे उपास्य शान्तशरीरी साम्बसदाशिव, एवं फाल्गुनमासे उपास्य घोर-शरीरी रुद्रदेव का संस्मरण—

'अग्निर्वा रुद्रः, तस्यैते द्वे तन्वे घोराऽन्या च, शिवान्या च'। घोरशरीर विशुद्ध अग्निमय बनकर संसार को रुलाता हुआ 'रुद्र' है। शिव–शरीर आपोमय बनता हुआ संसार को स्वस्थ रखता हुआ "साम्ब सदाशिव" है। पारमेष्ठ्य आप: (सोम) के सम्बन्ध से वही साम्बसदाशिव है, विशुद्धरूप से वही रुद्र है। श्रावणमास साम्बसदाशिव की उपासना का समय है, एवं फाल्गुनमास रुद्रोपासनाकाल है। अस्तु, इस विस्तार क्रम को छोड़ कर प्रकृत का अनुसरण कीजिए।

९०–अवतारभावनिबन्धन अव्यक्त विष्णु, एवं उपास्यभावानुबन्धी व्यक्त शिव का स्वरूप-संस्मरण, तथा शिवोपासना की शाश्वतता का स्वरूप–समन्वय, और साम्प्रदायिक जगत् की अर्वाचीना वैष्णवी–उपासना का दिग्दर्शन—

अवतार का सम्बन्ध जहाँ अव्यक्त, अनिरुक्त, अमूर्त्त विष्णु से है, वहाँ मूर्त्ति का सम्बन्ध व्यक्त, निरुक्त, मूर्त्त इन्द्रप्रधान शिवतत्त्व से है। इसी आधार पर भारतवर्ष में अवतार के सम्बन्ध में जहाँ विष्णु का यशोगान किया जाता है, वहाँ प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में शिवतत्त्व को ही प्रधानता दी जाती है। यद्यपि यह ठीक है कि, आज शिवप्रतिमा के स्थान में विष्णुप्रतिमा प्रधान बन गई है। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें कहना पड़ेगा कि, वैष्णवसम्प्रदायों के प्रचार बाहुल्य ने हीं शिवप्रतिमोपासनामार्ग को शिथिल बनाया है। विगत शताब्दियों में प्रादुर्भूत श्रीरामानुज, बल्लभ, निम्बार्क, माध्व आदि साम्प्रदायिक आचार्य्यों के प्रचार–विशेष से ही विष्णुपूजन को आज वर्त्तमानरूप मिल गया है। वस्तुत: देखा जाय, तो आदिकाल से (देवयुग से) आरम्भ कर सम्प्रदाययुग से पहिले पहिले पर्य्यन्त शिवपूजन ही प्रधान रहा है। और ऐसा होना न्याय सङ्गत भी है। जबकि मूलसंहिता में प्रतिमा, अर्च्चन, भजन, पूजन आदि के सम्बन्ध में इन्द्रात्मक शिवतत्त्व का ही निरूपण उपलब्ध होता है। यही कारण है कि, सम्प्रदायाचार्य्यों को छोड़कर भारतवर्ष में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उस सबने प्रतिमोपासना के सम्बन्ध में शिवप्रतिमा को ही विशेष महत्त्व दिया है। स्वयं अवतारपुरुषोंनें भी (भगवान् राम परशुरामदिनें भी) शिवपूजन का ही अनुगमन किया है। स्वयं ऋग्वेद-काल भी इस पक्ष का समर्थक बन रहा है, जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होगा।

निष्कर्ष यह हुआ कि, अवतार का प्रधान सम्बन्ध जहाँ विष्णु से है, वहाँ प्रतिमापूजन का प्रधान सम्बन्ध (अग्निसोमगर्भित, अतएव शिव नाम से प्रसिद्ध) इन्द्र तत्त्व के साथ ही है। इस का सब से प्रबल प्रमाण यही है कि, संहिताग्रन्थों में जहाँ जहाँ प्रतिमा शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ वहाँ सर्वत्र वह एकमात्र इन्द्रतत्त्व से ही सम्बन्ध रखता है, जैसाकि निम्न लिखित मन्त्रों से सर्वथा स्पष्ट है—

६२-(१)-संहिताभाग में प्रतिमापूजन के मौलिक-सूत्रात्मक-संस्मरण—

१-ऋक्संहिता—

१-कासीत् प्रमा, प्रतिमा, किं निदानमाज्यं, किमासीत्, परिधिः क आसीत।
छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वम् ॥
— ऋक्सं० १०।१३०।३। ।

(१)-जिस समय देवतालोगोंनें उस विराट्प्रजापति का यज्ञ के द्वारा यजन किया था, उससमय यजन-साधनभूत यज्ञ की प्रमा (इयत्ता) क्या थी, वह प्रतिमा कौनसी थी, जिसे निमित्त बनाकर हविःप्रदान किया गया ?। उसका निदान (मूलकारण) कौनथा ?, परिधियाँ क्या थीं ?, आज्य क्या था ?, छन्द क्या था ?, प्रउग, शस्त्र क्या थे''। यज्ञपति इन्द्र की प्रतिमा ही यहाँ प्रतिमा शब्द से अभिप्रेत है। उस त्रैलोक्य-व्यापक इन्द्र-प्रतिमा को लक्ष्य बना कर ही भौमदेवताओंने यज्ञकर्म्म के द्वारा विराट्प्रजापति की उपासना की थी। मन्त्रोपात्त 'प्रतिमा' शब्द इन्द्र का वाचक है, यह आगे के १०-१३०-४, १०-१३०-५, दोनों मन्त्रों से स्पष्ट है।

२—अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः ॥
—ऋक्० १।३२।७।

(२)-जिसप्रकार छिन्न अण्डकोशवाला एक हीनवीर्य्यपुरुष रेतःसेक में समर्थ (अण्डयुक्त) अन्य पुरुष के सादृश्य का वृथा अभिमान किया करता है, एवमेव इन्द्र के वज्र से क्षतविक्षताङ्ग बने हुए, हस्तपादशून्य उस वृत्र नाम के असुरने एक ऐसे पुरुष के सादृश्य का वृथा अभिमान करते हुए, जो कि पुरुष हाथ पैर से प्रहार करने में समर्थ है, इन्द्र से पुनः युद्ध करने की इच्छा प्रकट की''।

मन्त्र का यही अभिप्राय है कि, मूढ वृत्र ने उस इन्द्र के साथ स्पर्द्धा करने की धृष्टता की, जिस इन्द्र का कि प्रतिमान (समकक्ष) दूसरा नहीं है। जिस इन्द्र ने कि अपने वज्रप्रहारसे जिसे सर्वथा निर्वीर्य्य बना डाला है। यहाँ के "प्रतिमान" शब्द से हमें प्रतिमापूजन सिद्ध नहीं करना है, अपितु यही बतलाना है कि "प्रतिमान" शब्द यहाँ तुलनार्थ में प्रयुक्त हुआ है। जो अर्थ "न तस्य प्रतिमास्ति" के प्रतिमा शब्द का है, वही अर्थ उक्त मन्त्र के प्रतिमान शब्द का है। साथ ही मन्त्र से यह भी ध्वनि निकल रही है कि, इन्द्र का प्रतिमान अन्य नहीं है।

३-*त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽप स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥ (१।५२।२)।

* इन सब मन्त्रों के उल्लेख से प्रकृत में केवल यही कहना है कि, संहिताभाग में प्रतिमा, प्रतिमान, प्रतिमानानि शब्द इन्द्र के सम्बन्ध में हीं प्रयुक्त हुए हैं। कारण-संहिताकाल में शिवात्मिका इन्द्रप्रतिमाएँ हीं उपासनासिद्धि का कारण बनतीं थीं। आरम्भ में ये प्रतिमा नित्येन्द्रावतार मानुष-इन्द्राकार की बनतीं थीं, आगे जाकर त्रेतायुग में इसीने लिङ्गरूप धारण कर लिया।

४—गोजिता बाहू अमितक्रतुः सिमः कर्म्मन् कर्म्मञ्छतमूतिः खजङ्कर ।
अकल्प इन्द्रः **प्रतिमानमो**जसाथा जनावि ह्वयन्ते सिषासवः ॥ (१।१०२।६।) ।

५—त्रिविष्टि धातु **प्रतिमानमो**जसस्तिस्त्रो भूमीर्नृपते त्रीणि रोचना ।
अतीदं विश्वं भुवनं ववक्षिथा शत्रुरिन्द्र जनुषा सनादसि ॥ (१।१०२।८।)

६—यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य **प्रतिमानं** बभूव यो अच्युतच्युत्सजनास इन्द्रः ॥ (२।१२।६।) ।

७ सतः सतः **प्रतिमानं** पुरोऽभूर्विश्वा वेद जनिमा हन्ति शुष्णम् ।
प्रणो दिवः पदवीर्गव्यू-**"रर्चन्"** त्सखा सखीरमुञ्चन्निरवद्यात् ॥ (३।३१।८।) ।

८—किं स ऋधक्कृणवद्यं सहस्रं मासो जभार शरदश्च पूर्वीः ।
नही न्वस्य प्रतिमानमस्त्यन्तर्जातेषूत ये जनित्वाः ॥ (४।१८।५।) ।

९—प्र तु विशुनस्य स्थाविरस्य धृष्वेर्दिवो ररप्शे महिमा पृथिव्याः ।
नास्य शत्रुर्न **प्रतिमान**मस्ति न प्रतिष्ठिः पुरुमायस्य सह्योः ॥ (६।१८।१२) ।

१०—इन्द्रो दिवः प्रतिमानं पृथिव्या विश्वा वेद सवना हन्ति शुष्णम् ।
महीं चिद्यामातनोत सूर्येण चास्कम्भ चित्स्कम्भनेन ॥ (१०।११।५।) ।

११—वि सूर्यो मध्ये अमुचद्रथं दिवो विदद्दासाय **प्रतिमान**मार्यः ।
दृढानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्विना ॥ (१०।१३८।३)।

१२—स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्यानाम् ।
आ दर्षते शवसा सप्त दानून् प्रसाक्षते प्रतिमानानि भूरि ॥ (१०।१२०।६।) ।

——*——

२-यजुःसंहिता—

१—आदित्यं पयसा समङ्धि सहस्रस्य **प्रतिमां** विश्वरूपम् ।
परिवृङ्धि हरसा माभि मँस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥ (यजुः १३।४१।) ।

२—सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य **प्रतिमासि** सहस्रस्योन्मासि ।
साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा (१५।६५।) ।

——*——

३--अथर्वसंहिता—

१—वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः ।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥ (८।४।६) ।

२—अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी ।
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु ॥ (६।४।२) ।

३—यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव या अच्युतच्युत् सजनास इन्द्रः ॥ (२०।४।३५।१०)।

——*——

६३-मूलसंहितानुगत प्रतिमा-प्रतिमान-अर्च्चन-भजन-सेवा-आदि औपासनिक शब्दों का संस्मरण, एवं प्रतिमोपासना की प्रामाणिकता का स्वरूप-समन्वय—

निरुक्तभाव के लिए ही संहिता में प्रतिमा-प्रतिमान-शब्द प्रयुक्त हुए हैं, एवं उन प्रतिमा, और प्रतिमान-भावों का एकमात्र इन्द्र, किंवा शिव के साथ ही सम्बन्ध है, यह तो निर्विवाद है। रही बात प्रतिमापूजन की। अर्च्चन-भजन-सेवा-ये-सभी शब्द पूजन के ही समर्थक हैं। एवं इन सभी शब्दों का स्वयं मूलसंहिता में हीं प्रयोग हुआ है, जैसाकि ऋक्संहिता के—१।३८।१, ६।२१।६, ६।६७।४, इत्यादि स्थलों से, यजुः-संहिता के—३४।१६, ४।२५, ३३।२३, २०।५४, इत्यादि स्थलों से, सामसंहिता के पू. ३।२।५, ८।१६।३, इत्यादि स्थलों से स्पष्ट है। इन सब स्थलों के आधार पर इस सिद्धान्त को स्वीकार करलेने में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि, **"मूर्त्त स्थूल भौतिक प्रपञ्च का अर्च्चन, पूजन, सेवन, भजन अवश्य ही विद्यात्मक वेदशास्त्र से सर्वात्मना सम्मत, अतएव सर्वथा प्रामाणिक, अतएव च सर्वथा ही उपादेय है"** ।

६४-स्थूल-साकार-मूर्त्त-मध्यस्थ-भावों से अनुप्राणिता उपासना का स्वरूप-समन्वय—

विज्ञानदृष्टि से भी प्रत्येक विचारशील को यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि, द्वैतमूलक उपासना काण्ड में उपास्यदेव की प्राप्ति के लिए प्रत्येक दशा में स्थूल-साकार-मूर्तद्रव्य को ही उपासना का साधक बनाना पड़ेगा, फिर वह साधन शब्दब्रह्मरूप हो, अर्थब्रह्मावयवरूप वैकारिक धातु, मृत्-पाषाणादि की प्रतिमाएँ हों, अथवा तत्तद्देवताओं के तत्तद्भावनामय चित्र हों।

६५-भौतिकी आकारमर्य्यादा से अतीत भी उपास्य-ब्रह्म की उपासनासिद्धि के अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित भौतिक-माध्यमों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

इस में कोई सन्देह नहीं कि, उपास्यतत्त्व आत्मदेवता है, ब्रह्मतत्त्व है। यह भी निर्विवाद है कि-विशुद्ध ब्रह्म का भौतिक आकार से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु इसके साथ ही यह भी ध्रुव सत्य है कि, वहाँ पहुँचने के लिए उसी के सोपाधिक निरुक्त भूतरूप को मध्यस्थ बनाना भी आवश्यकतम है। माध्यमिक

आकारों के अधिकारी-भेद से अनेकरूप होसकते हैं। एवं अधिकारी के भेद से वे सभी रूप उपादेय हैं, यह भी निःसंदिग्ध विषय है।

६६–प्रतिमात्मिका 'मूर्त्ति' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कतिपय ब्राह्मणग्रन्थ-वचनों का स्वरूप-संस्मरण—

यह तो हुआ मूलवाद का विचार। अब कर्त्तव्यात्मक ब्राह्मणभाग की मीमांसा कीजिए। इस सम्बन्ध में तो विशेष वक्तव्य है ही नहीं। कारण–वेद के कर्त्तव्यात्मक विधि–आरण्यक–उपनिषदों में बड़े ही विस्तार के साथ प्रतिमा–निर्म्माण–प्रतिमापूजन–भूताश्रय आदि का उपबृंहण हुआ है। यज्ञकाण्ड में वल्मीकवपा से महावीर की प्रतिमा बनाई जाती है, उस में प्राणप्रतिष्ठा कराई जाती है। विज्ञ पाठकों के परितोष के लिए तो निम्न लिखित कुछ एक श्रौतवचन हीं पर्य्याप्त होंगे। रही बात अभिनिविष्टों की। उन के लिए तो "न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्" इससे अधिक और दूसरा श्रेष्ठ उत्तर हो नहीं सकता—

१—"मूर्त्तिर्निर्म्माणाय तां वल्मीकवपां परिगृह्णाति। मूर्त्तिनिर्म्माणाय वराहविहितां मृदं परिगृह्णाति" (काण्व० शत० ११।१।२।१०।११)।

२—एता वाऽएतदकुर्वत, यथा यथैतद्यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत। तस्मान्निर्म्माणाय तां वल्मीक-वपां परिगृह्णाति। ताभिरेवैनमेतद् रसेन समर्द्धयति, कृत्स्नं करोति" (माध्यं० शत० १४।१।२।१०)।

३—* स पर दिवमन्वावर्त्तते। अथ यदास्यायुक्तानि यानानि भवन्ति, **देवतायतनानि (मन्दिराणि) कम्पन्ते, दैवतप्रतिमा हसन्ति, रुदन्ति, नृत्यन्ति, स्फुटन्ति, उन्मीलन्ति, निमीलन्ति,** प्रतिप्रयान्ति नद्यः, कबन्धमादित्ये दृश्यते, विजले च परिविष्यते, केतुपताका छत्रवज्र-विषाणानि प्रज्वलन्ति, अश्वानां च बालधीष्वङ्गाराः क्षरन्ति, अहतानि मर्म्माणि कनिक्रदन्त, इत्येवमादीनि, तान्येतानि सर्वाणि विष्णुदेवताद्भूतानि * प्रायश्चित्तानि भवन्ति—**"इदं विष्णुर्विचक्रमे"** इति। स्थालीपाकं हुत्वा पञ्चभिराहुतिभिरभिजुहोति, विष्णवे स्वाहा, सर्वाधिपतये स्वाहा, चक्रपाणये-स्वाहा, सर्वपायशमनाय स्वाहा, **सर्वभूताधिपतये स्वाहा**, इति व्याहृतिर्भिहुत्वा अथ साम गायेत्" इति शाम्यति, हातः शान्त्यर्थः, शान्त्यर्थः (षड्विंशब्राह्मण ५।१०)।

---

* इन्द्र, यम, वरुण, वैश्रवण, अग्नि, वायु सोम, विष्णु इन प्राकृतिक देवताओं के स्वरूप में (मानव–समाज के अनाचार से) जब क्षोभ उत्पन्न होता है, तो बड़े बड़े (प्रकृतिविपर्य्ययमूलक) अनिष्ट होने लगते हैं। ये ही अनिष्ट "अद्भुतकर्म्म" नाम से व्यवहृत हुए हैं। इन की शान्ति के लिए ही तत्तद्देवता का तत्तदाहुतिविशेषों से शमन किया जाता है।

४— अग्निर्वायुरादित्यः कालः प्राणोऽन्नं ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरिति । एकेऽन्यमभिध्यायन्ति, एके ऽन्यम् । श्रेयः कतमो, यः सोऽस्माकं बूहीति । तान् होवाच-ब्रह्मणो वावैता अग्र्यास्तनवः परस्य, अमृतस्य, अशरीरस्य । तस्यैव लोके प्रतिमा उदेति, इह यो यस्यानुषक्त इति । एवं ह्याह । ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम् । य अस्या अग्र्यास्तनवस्ता अभिध्यायेत्, अर्चयेत्" (प्रजापतिबालखिल्बसंवाद, यजुर्वदीयोपनिषत्-४ प्रपाठक, ४ कण्डिका) ।

६७–सम्प्रदायविशेष के द्वारा भारतीय सनातन-आचारधर्म्म पर कुठाराघात, तद्दुष्परिणाम, एवं सनातनी, तथा आर्य्यसमाजियों का निरर्थकतम वाक्कलह—

सचमुच भारतवर्ष का यह आत्यन्तिक अधःपतन ही माना जायगा कि, आज उसी के देश में एक ऐसा सम्प्रदाय खड़ा होगया है, जिस ने वेद का अणुमात्र भी स्पर्श न कर क्रियात्मक धर्म्मानुष्ठान के प्रति साधारण मनुष्यों में बुद्धिभेद उत्पन्न कर दिया है । श्रद्धालु समझते होंगें कि, विवाद केवल मूर्त्तिपूजन, श्राद्ध, अवतार आदि परिगणित विषयों में हीं हैं । परन्तु मीमांसा करने पर उन्हें विदित होगा कि, वहाँ का सम्पूर्ण कार्य्यकलाप अथ से इति पर्य्यन्त एकान्ततः वेदविरुद्ध विषयों की सिद्धि के लिए ही बड़े अभिमान से शास्त्रार्थ के लिए आह्वान करता रहता है । और दुर्भाग्य से वेदतत्त्वानभिज्ञ ऐसे सनातनी विद्वानों की भी कमी नहीं है, जो आवेश में पड़ कर तत्काल कमर कस के सन्नद्ध होजाते हैं । परिणाम में दोनों ओर से "हमारा विजायह मारा विजय" के उद्घोष पत्र निकलते हैं । शास्त्रार्थ में होता क्या है ?, यह भी नमूना देख लीजिए । आर्य्यसमाजी यदि "**न तस्य प्रतिमा अस्ति**" केवल इस वाक्य को आगे कर प्रतिमापूजन को अवैदिक बतलाने का वानरनृत्य करता है, तो सनातनी "**एहि अश्मानमातिष्ठ**" इस मन्त्र को आगे कर पाषाणप्रतिमा की सिद्धि में अपना पसीना बहाता है । वस्तुतः देखा जाय, तो दोनों हीं महानुभाव भ्रान्त हैं । पहिले प्रतिमामण्डनाभिनिविष्ट को ही लीजिए । पूरे मन्त्र का स्वरूप निम्न लिखित है—

एहि–अश्मानमातिष्ठ अश्मा भवति ते तनुः ।
कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टि शरदः शतम् ॥
—अथर्वसं० २।१३।४।

६८–प्रतिमापूजक सनातनी की वेदार्थ के सम्बन्ध में महती भ्रान्ति—

प्रतिमापूजन-समर्थक सनातनी इसका अर्थ यह समझता है कि, "पाषाण की भगवत्प्रतिमा बनाई जाती है, एवं इस में ईश्वरतत्त्व का आह्वान किया जाता है, जो कि आह्वानकर्म्म प्राणप्रतिष्ठा नाम से प्रसिद्ध है" ।

६९–ऋग्वेदीय–अश्माभावानुगत मन्त्र के वास्तविक-मन्त्रार्थ का समन्वय–प्रयास, एवं तद्द्वारा सम्भावित उद्बोधन—

वस्तुस्थिति कुछ और ही है । जिस का पिता शान्त होजाता है, वह माणवक अमङ्गल--भावना से (कुछ काल के लिए) युक्त होजाता है । जब वह सबान्धव श्मशानयात्रा से घर लौटता है, तो कुलपुरोहित

द्वार के बाहिर एक पाषाण पर उसे खड़ा करता है, एवं उस पर उक्त मन्त्र बोलता हुआ जल डालता है । "हे माणवक आओ ! इस पाषाण पर खड़े हो जाओ । तुह्मारा शरीर पाषाणरूप बन जाय, विश्वेदेव तुह्में सौ वर्ष की आयु प्रदान करें" यही वास्तविक मन्त्रार्थ है । स्वयं सायणाचार्य्य ने भी यही अर्थ किया है । अन्य श्मशानयात्री भी घर आने से पहिले स्नानादि से निवृत्त होकर (उसी अमङ्गलभावना को दूर करने के लिए) मृत्युञ्जय महादेव के दर्शन किया करते हैं ।

१००–'न तस्य प्रतिमा अस्ति' के सम्बन्ध में लीलाधरों की लीला का नग्नचित्रण, एवं तदनुगता भ्रान्ति का स्वरूप-विश्लेषण–

अब उन लीलाधरों की लीला का दर्शन कीजिए, जो स्वार्थसिद्धि के बिगड़ने के भय से पूरा मन्त्र न लिखकर प्रतिमापूजन के खण्ड के सम्बन्ध में केवल–"**न तस्य प्रतिमास्ति**" यह एक चरण उद्धृत करते हुए भोली जनता को कहा करते हैं कि, "देखों वेदों में साफ साफ लिखा है कि, उस की मूर्त्ति नहीं होती, नहीं होसकती" । परन्तु जब सम्पूर्ण मन्त्र पर दृष्टि डाली जाती है, तो सम्पूर्ण रहस्य प्रकट होजाता है । मन्त्र का स्वरूप निम्न लिखित है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्यगर्भ इत्येष मामा हिंसीदित्येषा, यस्मान्नजात इत्येषः ॥

१०१–'न तस्य प्रतिमा अस्ति' के वास्तविक तात्पर्य्य का समन्वय प्रयास, एवं लीलाधरों का सम्भावित उद्बोधन—

मन्त्र के पूर्वार्द्ध पर दृष्टि डालिए । सीधा सा अर्थ यही है कि–"जिस ईश्वर का यश महान् है, व्यापक है, उस ईश्वर के समकक्ष ओर दूसरा नहीं है' । प्रतिमाशब्द प्रतिकृति (मूर्त्ति) का भी वाचक माना गया है, एवं उपमान (सादृश्य) का भी । विषयभेद से, दूसरे शब्दों में प्रसङ्ग, उपोद्घात, हेतुता, अवसर, निर्वाहकैक्य, कार्य्यैक्यमीमांसा-सम्मत षोढासंगति के अनुसार विषयभेद से प्रकरणानुसार दोनों अर्थ नियत हैं । यदि "**न तस्य प्रतिमा अस्ति**" का प्रतिमा शब्द प्रतिकृति का वाचक होता, तब तो अवश्य ही इस मन्त्र को मूर्त्तिखण्डन-परक माना जासकता था । परन्तु देखते हैं कि, यहाँ के प्रतिमा शब्द को मूर्त्तिपरक मान लेने से मन्त्र का कोई अर्थ ही नहीं होता । लोक में, किंवा वेद में (लौकिक वाक्यव्यवहारों में, एवं शास्त्रीय वाक्यव्यवहारों में) शब्दों का वही अर्थ युक्तिसंगत बनता हुआ प्रामाणिक माना जाता है, जो कि शब्द स्वरूपतः भावतः उभयथा वाक्यार्थ के साथ सर्वात्मना अन्वित रहते हैं । जैसा प्रसङ्ग होता है, तदनुसार ही प्रसङ्गोपात्त शब्दों का अर्थ मानना पड़ता है । यदि प्रसङ्ग की, किंवा वाक्यार्थसङ्गति की उपेक्षा कर उन शब्दों का (वाक्यार्थ, प्रसङ्गसङ्गति से सर्वथा विरूद्ध अप्रासङ्गिक, वाक्यार्थ में अनन्वित) अर्थ किया जाता है तो, वह शब्दार्थ अर्थ के स्थान में अनर्थ का ही कारण बन-जाता है ।

१०२–मीमांसा–सम्मता प्रकरणसङ्गति से अनुप्राणित-समन्वय का स्वरूप–दिग्दर्शन—

पाकशाला में बैठा हुआ देवदत्त भोजन कर रहा है । सेवक को "**सैन्धवमानय**" आदेश देता है । मूर्ख सेवक यदि भोजनप्रसङ्ग की उपेक्षा कर उस समय घोड़ा ला खड़ा करदेता है, तो क्या यहाँ का सैन्धव–

शब्द अर्थसिद्धि का प्रयोजक माना जायगा ?। एवमेव भ्रमणार्थ सज्जीभूत देवदत्त का "सैन्धवमानव" वाक्य सुनकर नमक की डली लाने वाला सेवक क्या अर्थ के स्थान में अनर्थ नहीं कर रहा ?। तात्पर्य्य यही हुआ कि, प्रसङ्गवश ही शब्दार्थ–सङ्गति लगाने का प्रयास करना चाहिए।

१०३ 'प्रतिमान' शब्द का प्रकरणसङ्गति--निबन्धन--वास्तविक--स्वरूप--समन्वय-प्रयास–

प्रकृत स्थल का विचार कीजिए। "जिसका यश महान् है, उसकी कोई मूर्त्ति नहीं" क्या यह अर्थ ठीक होगा। क्या मूर्त्ति का न होना महद्यश के चार चाँद लगाने वाला है ?। हम तो देखते हैं कि, लोक में जो यशस्वी महापुरुष होते हैं, उनके स्मारक खड़े किए जाते हैं, चित्र छापे जाते हैं। जो यथाजात हैं, उन की न मूर्त्ति बनती, न स्मारक खड़े किए जाते। इसप्रकार महायश तो मूर्त्ति का कारण हीं, बन रहा है। ऐसी दशा में यहाँ के प्रतिमा शब्द का अर्थ 'मूर्त्ति' लगाना सर्वथा अनर्थक बन जाता है। क्या विश्व के चराचर प्राणी उसकी मूर्त्तियाँ नहीं है ?। क्या गीता का **"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"** यह सिद्धान्त मिथ्या है ?। फलतः आप को बाध्य होकर प्रकृत 'प्रतिमान' शब्द का उपमान (सादृश्य) अर्थ ही करना पड़ेगा। उपमान अर्थ मान लेने पर "जिस का यश महान् है, जो यशोरूप से सर्वव्यापक बन रहा है, उस के सदृश विश्व में दूसरा नहीं है" यह अर्थसङ्गति ठीक बैठ जाती है। अन्यत्र भी ऐसे स्थानों में प्रतिमान का अर्थ सादृश्य ही हुआ है। देखिए!

स तन्नियोगात् खलु सत्यवादी सत्यां प्रतिज्ञां नृपपालयँस्ते।
इतो महात्मा वनमेव रामो गतः सुखान्यप्रतिमानि हित्वा॥

—वा० रामायणे

"रूपेणाप्रतिमो भुवि" (नलचरित्र–महाभारत)

१०४–'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते' के माध्यम से वास्तविक--स्थिति का स्वरूप–समन्वय-प्रयास—

उक्त समाधान से ही **"तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिमुपासते"** इत्यादि आक्षेपों का भी समाधान होजाता है। "जिसकी तुम उपासना कर रहे हो, वह ब्रह्म नहीं, अपितु ब्रह्म की प्रतिकृति है, सोपाधिक मूर्त्तरूप है, मूर्त्ति है" इस अर्थ से सब कुछ सुसङ्गत बन जाता है।

१०५–प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में बुद्धानुगत ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभिनिवेश—

यह तो हुई प्रामाणिक-शास्त्रीयदृष्टि। अब संक्षेप से प्रामाणिक-ऐतिहासिक-दृष्टि से भी विचार कर लीजिए। कुछ समय से इतिहासधुरीणों की सम्प्रदाय की ओर से यह भी कलकल–चीत्कार सुनाई पड़ने लगा है कि "प्रतिमापूजन बौद्धधर्म्म के संसर्ग का ही फल है"। इन सत्यनिष्ठों का कहना है कि, जब बुद्ध निर्वाण कर गए, तो कुछ समम तक तो उनकी प्रतिमाओं का द्वार अवरूद्ध रहा। सौगतों का विश्वास था कि, बुद्ध का यथार्थ में निर्वाण होगया है। * जब देह का निर्वाण होगया, तो उसकी प्रतिकृति (मूर्त्ति) बनाना अनुचित है।

---

* बुद्ध के मतानुसार देह ही आत्मा है। देहातिरिक्त नित्यात्मसत्ता वहाँ अस्वीकृत है।

१०६–बुद्धनिर्वाणानन्तर बुद्ध की प्रतिमाओं का उपासना--प्रचार--दिग्दर्शन—

कुछ समय पीछे ही एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हुआ जिसने बुद्ध की प्रतिमाओं का पूजन आरम्भ कर दिया। बुद्ध देवताओं के समान पूजे जाने लगे। तत्कालीन समर्थ राजाओं की ओर से स्थान स्थान पर स्तूप, ध्वजा, तोरण, शिलालेख, बुद्धप्रतियाँ, उनके लीलाचरित्र, भिक्षुसंघ आदि की प्रतिकृतियाँ बनने लगीं। आगे जाकर तो इस कला का ऐसा विकास हुआ कि, आज भी पुरातत्त्वान्वेषण में येही स्मारक प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

१०७–हीनयान, तथा महायान--भेदनिबन्धन बुद्धमत के दो विभिन्न पथ, एवं तत्-सम्बन्धिनी प्रतिमोपासना—

यही दूसरा (प्रतिमापूजक) सम्प्रदाय **"महायान"** नाम से प्रसिद्ध हुआ, एवं वास्तविक निर्वाण के अनुयायी प्रतिमाविरोधी बौद्धगण **"हीनयान"** कहलाए। बुद्धकालीन प्रतिमा-प्रचार केवल भारतवर्ष में हीं नहीं पनपा। अपितु सम्राट् अशोक, एवं तत्पुत्र, तत्कन्या के द्वारा तथा और और उपदेशकों के द्वाराजावा, सुमात्रा, सिंहल, आदि द्वीपों में भी बुद्धप्रतिमाएँ व्याप्त होगईं। स्तूपनिर्म्माण, मूर्त्तिनिर्म्माण, एवं शिलालेखादि के लिए बौद्धकाल अर्वाचीन इतिहास में बहुत प्रसिद्ध माना जाता है।

१०८–बुद्धमत के प्रभाव से आक्रान्त ब्राह्मणधर्म्म का भी प्रतिमापथानुगतत्त्व, एवं ऐतिहासिकों का भ्रान्त दृष्टिकोण—

प्रबलवेग से बढ़ते हुए इस बौद्धकाल के आक्रमण से ब्राह्मणधर्म्म भी अपने मौलिक स्वरूप को सुरक्षित न रख सका। बौद्धों के संसर्ग से इस में भी मूर्त्तिपूजन-पद्धति का नवीनरूप से समावेश होने लगा। चतुर्भुज विष्णु, शिव, गणपति, सरस्वती, दुर्गा, काली, भैरव, नटराज, आदि की प्रतिमाएँ बनने लगीं। इसप्रकार बौद्धकाल के संसर्ग से ब्राह्मणधर्म्म का मौलिक उपासनाकाण्ड अशास्त्रीय प्रतिमापूजन का अनु–गामी बनगया।

१०९–प्रतीच्य–भक्ति के अन्धानुकरण से अनुप्राणिता, तथा साम्प्रदायिक आचार्य्यों के अभिनिवेश से समन्विता भारतीयों की परप्रत्ययेनयता के भीषण परिणामों का किञ्चिदिव–निदर्शन—

कहना न होगा कि, केवल पश्चिमी विद्वानों के बुद्धिवाद के आधार पर ही जीवित रहने वाले इन ऐतिहासिकों की उक्त कल्पना में कोई भी सार नहीं है। पश्चिमी विद्वानों के नीतिपूर्ण ऐतिह्यग्रन्थों ने भारतीय प्राचीन संस्कृति की ओर से लोगों का मुख मोड़ दिया। इधर भारतीय इतिहास के संस्कृतभाषा में लिपिबद्ध होने से साधारण जनसमाज इस अपने घर की मौलिक निधि के वास्तविक स्वरूपज्ञान से वञ्चित होगया। परिणाम इस का यह हुआ कि, विदेशियों ने हमें जो कुछ लिखाया पढ़ाया, समझाया, उसी को हम वेद–वाक्य मानने लग पड़े। दुर्भाग्यवश ब्राह्मणवर्ग ने, एवं दम्भी उपदेशक आचार्य्यवर्ग ने भी अपनी वैय्य–

क्तिक-स्वार्थसिद्धि के लिए वेद-शास्त्रों की ओट में मिथ्योपदेश के द्वारा हमारे पतन का मार्ग और भी अधिक सुगम बना दिया। अगत्या हमें अपनी सभ्यता, संस्कृति, धर्म्मादेश आदि के सम्बन्ध में परमुखापेक्षी बन कर सबकुछ अपमान सहना पड़ा, और सहते जारहे हैं। इन्हीं उच्छिष्ट प्रसादों से हमारा आत्म निर्बल बन गया, आत्मनिर्भरता, स्वावलम्बित्व, सत्यनिष्ठा आदि हम से किनारा कर गए। जिसने हमें जैसे बहका दिया, "**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः**" को चरितार्थ करते हुए हम उसी प्रवाह में बहने लगे। वैष्णवाचार्य्यों की शिवसम्बन्धिनी निन्दा से हम कभी शिवनिन्दक बनने लगे, कभी शैवों के आडम्बर से विष्णु की निन्दा करने लग पड़े। कभी बुद्ध का यशोगान करने लगे, तो कभी स्वामी दयानन्द को ही एकमात्र वेदज्ञ मानने का दम भरने लगे। और धारावाहिकरूप से प्रवाहित होने वाली उसी अविद्या के कारण आज तो हम विशुद्ध राष्ट्रवादी बनने में हीं अपना अभ्युदय समझ रहे हैं।

११०-युक्ति-तर्क-प्रमाणादि के आवेशों से आविष्ट भी वर्त्तमान गतानुगतिक भारतीय-मानवों का आश्चर्य्यप्रद--प्रतीच्य--अन्धानुकरण—

एक सबसे बड़ा आश्चर्य्य, आश्चर्य्य ही नहीं-महान् आश्चर्य। भारतीय कर्त्तव्यानुष्ठानों के प्रति उदासीनता दिखलाने वाले ये भले मानुष कहा करते हैं कि, जबतक किसी कर्त्तव्यादेश, किंवा धर्म्मादेश को तर्क, युक्ति अनुभव आदि की कसौटी पर न कस लिया जाय, तबतक अन्धभक्त बन कर, केवल शास्त्रादेश पर ही विश्वास कर कभी उसे प्रामाणिक नहीं मानना चाहिए। अपने इसी महातर्क को एक अभेद्य दुर्ग समझने का अभिमान करते हुए ये सत्याभिमानी भारतीय धर्म्मादेशों का उपहास करने में अणुमात्र भी तो लज्जा का अनुभव नहीं करते। उधर जिन उपदेशकों को इन्होंनें महाप्रभु मान रक्खा है, उनके आदेशों के सम्बन्ध में उक्त तर्कवाद की एकान्ततः उपेक्षा कर-"अजी! हम क्या जाने, उनके रहस्य को। हमें तो (न समझते हुए भी) उन के आदेश पर चलना हीं चाहिए" इस वाक्य का प्रयोग करते हुए पूरे पूरे अन्धभक्त बने हुए हैं। विधि का कैसा विचित्र विधान है, तर्कवाद का कैसा सदुपयोग होरहा है। इसी सदुपयोग के आधार पर यदि हम भारतीय शास्त्रसिद्ध, शाश्वतसिद्ध प्रतिमापूजन को भी बुद्धसंसर्ग का प्रतिफल बतलाने की भूल कर बैठें, तो कोई आश्चर्य नहीं है।

१११--ब्राह्मणधर्म्म, तथा बुद्धमत के समतुलन-माध्यम से प्रतिमापूजन की अनादिता-सादिता का नीरक्षीरविवेक--प्रयास—

उन ऐतिहासकों को यह न सूझा कि, जब बुद्ध ने ब्राह्मणधर्म्म के स्थान में अपने नवीन धर्म्म को प्रतिष्ठित किया था, तो ब्राह्मणधर्म्म की प्रतिच्छाया से वह अधिक समय पर्य्यन्त कैसे बच सकता था?। अवश्य ही बुद्ध ने प्रतिमापूजन, सगुणेश्वरवाद, पशुहिंसायुक्त यज्ञकर्म्म आदि ब्राह्मणधर्म्मों का किसी कारणविशेष से

---

* वस्तुतस्तु हमारे विचार से बुद्ध में आर्यसत्यचतुष्टयात्मक जिस **मज्झिमनिकाय** (मध्यमपथ) का आविष्कार किया है, वह कोई अपूर्व नहीं है। बुद्ध के सभी सिद्धान्तों का मूल ब्राह्मणधर्म्म में ज्यों का त्यों उपलब्ध होता है। विशेषतः भारतवर्षीय उपवेदशास्त्र (आयुर्वेदशास्त्र), एवं पातञ्जलयोगशास्त्र के सिद्धान्त तो ज्यों के त्यों समतुलित हैं।

विरोध करते हुए अहिंसाधर्म्म को रूपान्तर प्रदान किया । प्रतिमापूजन का विरोध, निर्वाणकाल के समय में प्रधानशिष्यों के प्रति होने वाला-"मेरे निर्वाण के अन्तर मेरी प्रतिमाएँ न बनाना" यह उपदेशवाक्य ही यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, बुद्धकाल से पहिले ही भारतवर्ष में प्रतिमापूजन प्रचलित था ।

११२-पुरातत्त्वान्वेषणानुबन्धी कारणाभास की भ्रातिसिद्धता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यही कारण था कि, बुद्धनिर्वाण के अनन्तर कुछ ही समय पर्य्यन्त निर्वाणवादियों का निर्वाणवाद सुरक्षित रहा । ब्राह्मणधर्म्म के शाश्वत प्रतिमापूजन से बौद्धधर्म्म अधिक समय पर्य्यन्त अपने आपको सुरक्षित नहीं रख सका । फलतः महायान-सम्प्रदायने जन्म ले ही तो लिया । क्या इन सब विस्पष्ट परिस्थितियों को देखते हुए भी ऐतिहासिक यह भ्रान्ति करेंगे कि, बुद्धधर्म्म से सहयोग से ब्राह्मणधर्म्म में प्रतिमापूजन का समावेश हुआ" । एक और उपहासास्पद तर्क सुनिए । प्रमाणवादी कहते हैं कि, 'पुरातत्त्वान्वेषकोंनें अबतक जिन प्रतिमाओं की खोज की है, वे सब बुद्धावतार से अर्वाचीन ही हैं । बुद्धकाल से पहिले की प्रतिमाएँ अबतक उपलब्ध नहीं हुई हैं, जिन के आधार पर यह प्रमाणित किया जासके कि, प्रतिमापूजन बुद्ध से पहिले भी विद्यमान था ।

११३-बौद्धमत से पूर्वयुग के प्रतिमा--चिह्नों के सम्बन्ध में किञ्चिदिव सामयिक-आवेदन—

पाठक स्वयं विचार करें, इस युक्ति में कहाँतक तथ्य है ? । बौद्धधर्म्म का प्रसार भारतवर्ष में कई शताब्दियों पर्य्यन्त रहा । स्वयं ऐतिहासिक इस सत्य को स्वीकार करते हैं कि, बौद्धधर्म्म के अनुयायी समर्थ राजाओं की ओर से ब्राह्मणधर्म्मानुयायियों पर घोर अत्याचार हुआ । उस समय की भीषण परिस्थिति को देखते हुए एक बार तो ऐसा प्रतीत होने लगा था कि, अब भविष्य में ब्राह्मणधर्म्म कभी जीवित न होसकेगा । इस भीषणता के आवेश में आ र यदि ब्राह्मणधर्म्म के पुरातन चिह्नों को नष्ट करने का कोई बृहदायोजन हुआ हो, तो यह अधिकांश में सम्भव है । और सम्भव है, इसीलिए बुद्धधर्म्म से पहिले के प्रतिमाचिह्न अभीतक पुरातत्त्वविदों को उपलब्ध न हुए हों ।

११४-सप्तद्वीपा वसुमती--पृथिवी से अनुप्राणित अन्वेषणकर्म्म की अनन्तकालानुगता--व्याप्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तत्सम्बन्ध में भगवान् पतञ्जलि के उद्गार—

परन्तु कौन कहता है कि, अन्वेषण का कार्य्य चरम सीमा पर पहुँच चुका ? । जो कुछ मिलना था, मिल चुका ? । वसुन्धरा बहुत बड़ी है, कालपुरुष भी अनन्त है । अवश्य ही हम प्रतिमापूजकों के सौभाग्य से, एवं अन्वेषकों के अजस्र अव्यर्थ परिश्रम से इसी धरित्री के किसी सौभाग्यशाली गह्वर में हमारे पूर्वस्मृति-चिह्न उपलब्ध होंगे, और अवश्य उपलब्ध होंगे । इस सम्बन्ध में हमें भगवान् पतञ्जलि, एवं कात्यायन का वह प्रियसंवाद याद आजाता है, जिस में वररुचि के कात्यायन के-**'न चैत्रोपलभ्यन्ते'** कहने पर भाष्यकार ने—**'उपलब्धौ यत्नः कियताम् । सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाश्चत्त्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः, बहुधाभिन्न एकशतमध्वर्यु शाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधास्याथर्वणो वेदाः, वाकोवाक्यं, इतिहासः, पुराणं, वैद्यकमिति । एतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः । एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुशिशम्य-'सन्त्यप्रयुक्ता' इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव'** (पा० म० १।१।१।) । यह उत्तर दिया था ।

११५–सर्वशास्त्रसमर्थिता प्रतिमोपासना के अनादित्व के सम्बन्ध में धृष्टतापूर्ण आपात-रमणीय–आक्षेप–प्रत्याक्षेप–विडम्बना—

हम भी आर्षपद्धति का अनुसरण करते हुए आज उस ऐतिहासिकों से यह कहने का साहस करते हैं कि, जिस प्रतिमापूजन का मूल स्वयं नित्य वेदग्रन्थों में उपलब्ध होता है, त्रेतायुगचरित्रात्मक वाल्मीकि-ग्रन्थ जिस का पूर्ण समर्थन कर रहा है, दर्शन, पुराण, स्मृति, आगम आदि सब शास्त्र जिस की एकस्वर से प्रामाणिकता घोषित कर रहे हैं, उस सत्य तत्त्व को केवल कल्पना के आधार पर, उन पुरातत्त्व की अधूरी खोजों के आधार पर अप्रामाणिक बतलाना केवल साहस है, अपराध है, अपराध ही नहीं अक्षम्य अपराध है।

११६–अलक्षेन्द्र (सिकन्दर)–युगानुगत उदाहरण, और मेगस्थनीज—

एक दूसरे प्रसङ्ग में विचार। भगवान् पाणिनि के समय में तो प्रतिमापूजन का प्रचार था ही, जैसाकि अनुपद में हीं बतलाया जानेवाला है। परन्तु पाणिनि से पहिले भी प्रतिमापूजन का प्रचार तो वर्त्तमान इतिहास लेखक युनानी भी स्वीकार करते हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक कर्टिस लिखता है कि, जब अलक्षेन्द्र सिकन्दर) का सामना करने के लिए महाराज पोरुस युद्ध के मैदान में उपस्थित हुए, तो इन के साथ वह सूर्य्य की प्रतिमा होगी, जिस के कि साक्षी सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक **मेगस्थानीज़** हैं। पाठकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि, सिकन्दरने भारतवर्ष पर कब आक्रमण किया था, एवं मेगस्थनीज कब अत्र आए थे ?।

११७–बुद्धसंसर्ग से असंस्पृष्ट भारतीय–प्रतिमापूजन–प्रवाह का पावन–संस्मरण—

अनुमानतः यह सिद्ध होचुका है कि, ईसा से ३२५-२६, अथवा ३०० वर्ष पूर्व, एवं देवानांप्रियदर्शी भारत के अन्तिम सम्राट् अशोक से १०० वर्ष पहिले भी भारतवर्ष में प्रतिमापूजन का प्रचार था। इस में तो कोई सन्देह नहीं कि, उक्त समय भी बुद्ध एवं जिन से तो अर्वाचीन ही है। तथापि हमें यह मान लेनें में कोई संकोच नहीं करना चाहिए कि, उस समय न तो बुद्धधर्म्म का विशेष प्रचार ही था, एवं न महायान सम्प्रदाय का ही प्राबल्य था। यदि प्रचार होगा भी, तो हीनयान का ही प्राबल्य होगा, जोकि प्रतिमा-पूजन का विरोधी था। इस युग के १०० वर्ष पीछे उत्पन्न होने वाले स्वयं सम्राट् अशोक भी आरम्भ में ब्राह्मणधर्म्म के ही कट्टर पक्षपाती थे, यह भी सुविदित है ही। कलिङ्गविजय में होने वाली हिंसा से क्लान्त होकर तदनन्तर ही अशोक ने बुद्ध का अनुगमन किया था। फलतः यह स्पष्ट सत्य है कि, भारतीय प्रतिमा-पूजन बुद्धसंसर्ग से कोई सम्बन्ध न रखता हुआ हजारों वर्षों से प्रचलित था।

११८–सम्भावित–चिह्नों की प्रतीक्षा, एवं भारतीय–प्रतिमापूजन का अनादित्व—

'जब कि आजतक की खुदाई में एक भी चिह्न बुद्धयुग से पहिले का नहीं मिला, तो किस आधार पर प्रतिमापूजन को बुद्ध से पहिले का माना जाय' इस प्रत्यक्ष तर्क का यद्यपि शब्द प्रमाणभक्त आर्य्यपुत्र की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। तथापि प्रत्यक्ष को ही सर्वेसर्वा मानने वालों के लिए अवश्य ही उक्त तर्क का कुछ मूल्य है। सम्भव है, भविष्य में ऐसे भी चिह्न मिलें, जिन से इस सम्बन्ध में सन्तोष किया जासके।

११६–पुरातनयुगानुगता मृण्मयीं प्रतिमाएँ, एवं तदनुपलब्धि के कालिक–सहज–कारण–का स्वरूप–दिग्दर्शन—

चिह्न न मिलने का कारण यह भी हो सकता है कि, आरम्भ में मिट्टी की ही प्रतिमाएँ बनाई जाती थीं। ब्राह्मणग्रन्थोक्त महावीर की प्रतिमा वल्मीकवपा से बनती थी। सुरथ नामक राजा, एवं समाधि नामक वैश्य ने मृण्मयी प्रतिमा से ही जगन्माता को प्रसन्न किया था। गुरुभक्त एकलव्य ने मिट्टी की प्रतिमा को उपास्य–देवता मान कर ही धनुर्विद्या में निपुणता प्राप्त की थी। ये कुछ एक निदर्शन ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि, आरम्भ में प्रतिमाएँ मिट्टी की हीं बनतीं थीं। मृण्मयी प्रतिमाएँ चिरकाल पर्य्यन्त नहीं ठहर सकतीं। और बहुत सम्भव है, इसीलिए पुरातन–प्रतिमाओं के चिह्न पुरातत्त्वविदों को उपलब्ध नहीं होंरहे हों।

१२०–मृण्मयीं प्रतिमाओं के अनन्तर काष्ठमयीं प्रतिमाओं का स्वरूपाविर्भाव, एवं तत्सम्बन्ध में वेदव्याख्याता सर्वश्री यास्काचार्य्य—

आगे जाकर मिट्टी के स्थान में काष्ठ की प्रतिमाएँ बननें लगीं होंगीं, यह भी अनुमान सत्य प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में सर्वथा प्रामाणिक यास्कनिरुक्तं की सम्मिति देखिए!

"कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके। बभ्रू यामेषु शोभेते। (ऋक्‌स४।३२।२३)। कनीनके–कन्यके। कन्या कमनीया भवति। क्वेयं नेतव्येति वा। कमनेनानीयत इति वा। कनतेर्वा स्यात् कान्तिकर्म्मणः। कन्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि, सप्तम्या एकवचनानीति शाकपूणिः। विद्धयोर्दारुपाद्योः। दारु दृणातेर्वा द्रूणातेर्वा। तस्मादेव द्रु। नवे नवजाते अर्भके अवृद्धे ते यथा तदधिष्ठानेषु शोभेते, एवं बभ्रूयामेषु शोभेते। बभ्रोरश्वयोः संस्तवः"

(या० निरुक्त अ० ४। खं० १५।)।

१२१-इन्द्रप्रतिमा का स्वरूप–समर्थक ऋग्वेदीय मन्त्र—

इसे यास्क की सम्मति न मान कर स्वयं ऋग्वेद की सम्मति मानना ही उचित होगा। स्वयं सायणाचार्य्य ने 'विद्रधे' का 'शालभञ्जिके' अर्थ करते हुए यह संकेत किया है कि, पहिले दारुमयी प्रतिमाएँ भी बनतीं थीं। आरम्भ में ही संहिता–सम्बन्धी कुछ एक मूल उद्धृत किए जाचुके हैं। अब इस सम्बन्ध में प्राचीनतमा (वर्तमान मतानुसार) ऋक्‌संहिता का एक ऐसा मन्त्र उद्धृत किया जा रहा है, जिसके आधार पर इस सिद्धान्त की प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं रह जाता कि, प्रतिमा–निर्म्माण–पद्धति ने आर्य्यसभ्यता के जन्मकाल में हीं अन्तर्य्याम–सम्बन्ध उपलब्ध कर लिया था। देखिए !

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।
यत्रा वृत्राणि जंघनदथैनं मे पुनर्ददुः ॥

—ऋक्० ४।२४।१०।

१२२–महर्षि वामदेव के द्वारा भौमेन्द्र की प्रतिमा के माध्यम से देवेन्द्रोपासना, और प्रतिमाभाव का संस्मरण—

महर्षि वामदेव के उपास्य इन्द्र थे। तत्कालीन भौम–मानवेन्द्र उसी इन्द्र तत्त्व के अवतार थे। अतएव इन पर भी वामदेव की वैसी ही भक्तिनिष्ठा थी। इस निष्ठाकर्षण से वामदेव नराकार इन्द्र की प्रतिमा को मध्यस्थ बना कर इन्द्रतत्त्व की उपासना किया करते थे। एक समय इन्द्र (मानवेन्द्र) का वृत्रासुर के साथ युद्ध छिड़ गया। वामदेव भी वहाँ जाने के लिए सन्नद्ध हुए। कारण-ऐसे अवसरों पर स्वयं इन्द्र की ओर से वामदेव निमन्त्रित किए जाते थे, जैसाकि ऋग्वेद के कई स्थलों से स्पष्ट है।

१२३–ऋग्वेदीय-मन्त्रार्थ--समन्वय—

जाने से पहिले वामदेव ने इन्द्रप्रतिमा के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की थी, उक्त मन्त्र उसी का स्मरण करा रहा है। तत्रोपस्थिता मण्डली से सम्बोन्ध करते हुए वामदेव कहते हैं कि—

"आप लोगों में से कौन १० धेनुओं * से इस मेरे (उपास्य) इन्द्र का (इन्द्रप्रतिमा का) क्रय–करेगा ?। परन्तु इसके साथ यह संधा (शर्त्त है कि, युद्ध में जब इन्द्र वृत्रासुरवर्ग को मार डालें, अनन्तर जब मैं वापस लौटूँ, तो पुनः मेरा इन्द्र वापस लौटा दिया जाय"। इसप्रकार स्पष्ट ही प्रतिमाक्रय-व्यवहार प्रतिमाव्यवहार का अनादित्व, किंवा प्राचीनत्व सिद्ध कर रहा है।

१२४–प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण—

वाल्मीकिरामायण एक प्रामाणिक साहित्य है। उसने भी स्पष्टरूप से त्रेतायुग में प्रतिमापूजन का समर्थन किया है। महाभारत और वाल्मीकिरामायण, दोनों हीं हम भारतीयों के प्रामाणिक इतिहासग्रन्थ हैं। अन्तर दोनों में केवल यही है कि, महाभारत जहाँ चन्द्रवंश का प्रधानरूप से निरूपण करता हुआ द्वापरयुगकालीज इतिहास का विशेषरूप से विश्लेषण करता है, वहाँ वाल्मीकिरामायण सूर्य्यवंश को प्रधानता देता हुआ त्रेतायुगकालीन इतिहास को विशेषता देता है। दोनों में से पहिले वाल्मीकि को ही लिजिए।

१२५–राक्षसेश्वर रावण के द्वारा जाम्बुनद-सुपर्णात्मक शिवलिङ्ग की उपासना, और प्रतिमापूजन—

महाभारतकाल में सूर्य्यवंशियों के सुमित्र राजा अयोध्या में राज्य करते थे। ये विवस्वान् की १२८ वीं पीढी में थे, एवं भगवान् राम ६३ वीं पीढी में थे। रामयुग में भी मूर्तिपूजा प्रचलित थी, जैसाकि निम्न लिखित--वचनों से स्पष्ट है—

यत्र यत्र यातिस्म रावणो राक्षसेश्वरः ।
जाम्बुनदमयं लिङ्गं तत्र तत्र स्म नीयते ॥१॥
बालुका–वेदिमध्ये तु तल्लिङ्गं स्थाप्य रावणः ।
अर्च यामास गन्धाढयैः पुष्पैश्चागुरुगंधिभिः ॥२॥

(वा० रा० उ० का० ३१।४१।४१।११)

*–वैदिककाल में गौ के आकार के ही सुवर्ण के भी सिक्के बनाए जाते थे।

'राक्षसेश्वर रावण की शङ्करभक्ति प्रसिद्ध है। वे जहाँ जहाँ जाते थे, जाम्बुनसुवर्णमय अपने उपास्य शिवलिङ्ग को साथ रखते थे। बालुका की वेदि बनाकर उस पर लिङ्ग प्रतिष्ठित कर पुष्प-दीप-गन्धादि से रावण ने (अपने इष्टदेव शिवका) पूजन किया।'

१२६-सेतुबन्ध रामेश्वर के माध्यम से प्रतिमापूजन की आर्षता का पावन संस्मरण—

स्वयं भगवान् राम ने युद्ध से पहिले अपने इष्टदेव शङ्कर की प्रतिमा बनाकर उसका पूजन किया था, जो कि पावन तीर्थ आज भी 'सेतुबन्धरामेश्वर" नाम से प्रसिद्ध है। विभीषण को राज्य-तिलक प्रदान कर भगवान् राम सीता सहित जब लङ्का से वापस लौटते हैं, तो मार्ग में आने वाले दर्शनीय स्थानों की ओर संकेत कर जगन्माता को उनका परिचय कराते जाते है। समुद्रोल्लघंन के अनन्तर जब रामेश्वर का स्थान आता है, तो भगवान् कहते हैं—

एततु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ॥
'सेतुबन्ध' इति ख्यातं त्रैलोक्येन च पूजितम् ॥१॥
एतत् पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।
अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ॥२॥

—वा० रा० यु० १२३।२०-२१।

"हे सीते! महात्मा सागर का जो यह सेतुबन्ध तीर्थ दिखलाई पड़ता है, (आज) वह त्रैलोक्य में पूजित होगया है। इसी तीर्थ पर (रावण पर चढ़ाई करने से) पहिले विभु महादेव ने मुझ पर कृपा की थी। यह तीर्थ परम पवित्र है, एवं बड़े बड़े पापों का नाश करने वाला है।"।

१२७-शास्त्रीय वचनों के सम्बन्ध में दोषदृष्टि, एवं तन्निबन्धना महती भ्रान्ति—

क्या मूर्त्तिपूजन को अवैदिक मानने वाले, साथ ही वाल्मीकिरामायण को भी एक प्रामाणिक आर्षग्रन्थ मानने वालों की दृष्टि उक्त वचनों पर नहीं गई थी ?। गई थी, और अवश्य गई थी। परन्तु उन्होंने इस सम्बन्ध में भी उसी दोषदृष्टि का अनुगमन किया है, जिस के कि आधार पर स्वार्थसिद्धि के लिए पूरे वचन उद्धृत न कर अंश ही उद्धृत किए हैं, जैसा कि **"न तस्य प्रतिमा अस्ति"** में बतलाया जाचुका है।

१२८-नियोगविध्यात्मक प्रासङ्गिक-उदाहरण के माध्यम से वास्तविक-स्थिति का स्वरूप-विस्फोटन—

एक दूसरा उदाहरण नियोगविधि का लीजिए। नियोगविधि शास्त्रीया है, मानवधर्मशास्त्र से सम्मता है, इस में तो कोई सन्देह नहीं। परन्तु कौन, किस अवस्था में, किससे नियोग कर सकता है ?, यह निर्णीत विषय है। प्रकरण यह है—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥

—मनुः ६।६९।

"जिस कन्या का वाग्दत्त पति मर जाय, उसे निम्न लिखित विधान से उस वाग्दत्त पति के अनुज के साथ नियोग करलेना चाहिए" । तात्पर्य, यदि केवल वाग्दान हुआ हो, विवाह न हुआ हो, और उसी अवस्था में भावी पति मर जाय, तो अभी उस का कन्यात्त्व सुरक्षित है। इस दशा में उस मृतक के छोटे भ्राता के साथ इस का नियोग (विवाह नहीं) किया जासकता है।

१२६-'अत्र पूर्वं महादेवः'-इत्यादि श्रीरामायणीय-आर्षवचन के साथ परमतानुगामियों का वञ्चनापूर्ण-समन्वय-प्रकार—

उधर उक्त पूरे वचन का उल्लेख न कर केवल "**निजो विन्देत देवरः**" इस वाक्यांश को उद्धृत कर सत्याभिमानियोंनें मुग्धजनता को यह उलटा पाठ पढ़ाने का जघन्य कर्म्म किया है कि, "जिस स्त्री का पति मर जाय, उसे देवर के साथ पुनर्विवाह कर लेना चाहिए" । यही लीला प्रकृत स्थल में घटित हुई है। पूर्वोक्त वाल्मीकि-वचनों का पूरा उल्लेख न कर केवल निम्नलिखित अंश ही उन के सत्यग्रन्थ ? में उद्धृत हुआ है- अर्थ क्या किया गया है ? यह भी नमूना देख लीजिए—

"**अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ।**
......................सेतुबन्ध इति ख्यातम्" ॥

"हे सीते ! तेरे वियोग से हम व्यकुल होकर घूमते थे, और इसी स्थान में चातुर्मास्य किया था, और परमेश्वर की उपासना-ध्यान भी करते थे। वही जो सर्वत्र विभु देवों का देव महादेव परमात्मा है। उस की कृपासे हम को सब सामग्री प्राप्त हुई। और देख ! यह सेतु हमनें बाँधकर लङ्का में आके रावण को मार के तुझ को ले आए"

—सत्यार्थप्रकाश

१३०-श्रीरामायणमान्यतानुबन्ध के प्रति कृतज्ञतार्पण, एवं तन्निबन्धना वस्तुस्थिति का वास्तविक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

बड़ा अनुग्रह हुआ, जो उक्त ऐतिहासिक घटना को तो प्रामाणिक मान लिया गया। हम तो डर रहे थे कि, कहीं वेदों में उक्त चरित्र के न होने से इसे भी गप्प ही न मान लिया जाय। प्रतीत होता है-"**त्रैलोक्येन-च पूजितम्**" यह अंश उस युग की पुस्तकों में नहीं होगा, पीछे से जोड़ दिया गया होगा। नहीं तो "व्यापक ईश्वर को केवल इसी स्थान पर आके त्रैलोक्य के मनुष्य पूजते" यह कैसे संभव है। अस्तु, स्वयं निर्णय कीजिए कि, वस्तुस्थिति क्या है ?। दूसरा निदर्शन महाभारतोक्त एकलव्य की उपासना का है। गुरुद्रोण कौरव-पाण्डवों को धनुर्विद्या का शिक्षण करते थे।

१३१-वर्णाश्रमव्यवस्थानिष्ठ आचार्य्य द्रोण, एवं एकलव्य—

एक दिन प्रसन्न होकर द्रोणने अर्जुन को यह वर प्रदान किया कि, "अर्जुन ! धनुर्विद्या में हम तुम्हें संसार का सर्वश्रेष्ठ योद्धा बना देंगे" । इन्हीं दिनों भीलजाति में उत्पन्न एकलव्य द्रोणाचार्य्य की ख्याति सुन कर हस्तिनापुर आया। परन्तु-वर्णामर्य्यादा को लक्ष्य में रखते हुए गुरुद्रोणने-"श्रेष्ठराजवंश के साथ एक शूद्र शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता"-यह कहते हुए एकलव्य को निराश लौटा दिया।

१३२–एकलव्य की द्रोणप्रतिमोपासना का स्वरूप--समन्वय, एवं अर्जुन का आक्रोश—

सच्छिष्य एकलव्य गुरु को मन ही मन प्रणाम कर स्व-स्थान पर लौट आया। गुरु की मृण्मयी प्रतिमा बनाई। उसे सामने रखकर धनुर्विद्या का अभ्यास आरम्भ कर दिया। इस उपासना का फल यह हुआ कि, एकलव्य इस विद्या में महापारङ्गत होगया।

१३३–एकलव्य के द्वारा गुरुद्रोण के प्रति वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण—

कितनें एक दिनों वाद द्रोणाचार्य्य शिष्यमण्डली के साथ घूमते घूमते एक दिन एकलव्य के आश्रम की ओर जा निकले। दैववश राजपुत्रों का एक शिकारी कुत्ता आश्रम में पहुँच कर भों भों करता हुआ एकलव्य की साधना में बाधा डालने लगा। विद्याभ्यास में विघ्न होता देख कर एकलव्य ने वड़े चातुर्य्य से कुत्ते को जराभी पीड़ा न पहुँचाते हुए वाणों के आच्छादन से उस का मुख बँद कर दिया। कुत्ता दौड़ता हुआ मण्डली में पहुँचा। शिष्यमण्डली-सहित द्रोण यह दृश्य देख कर आश्चर्य्य में पड़ गए। अर्जुन उत्तेजित होकर कहने लगा कि, भगवन्! आपने मेरे को जो 'वर' दिया था, देखता हूँ, आज वह निष्फल सिद्ध होगया है। गुरुद्रोण स्वयं आश्चर्य्य मे डूब रहे थे, क्या उत्तर देते। सब को साथ लिए चुप चाप एकलव्य के आश्रम में पहुँचे। द्रोण को आया देख कर एकलव्य ने भक्तिभाव से प्रणाम किया, एवं द्रोण के –"एकलव्य! तुह्मारे गुरु कौन है?" यह प्रश्न करने पर पूर्व की घटना का स्मरण कराते हुए द्रोण का संशय दूर किया।

१३४–एकलव्य के द्वारा गुरुदक्षिणा में अङ्गुष्ठ प्रदान, और आचार्य्य के द्वारा वरप्रदान—

अर्जुन के साथ की गई प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए द्रोणाचार्य्य ने गुरुदक्षिणा में (एकलव्य का धनुर्विद्या चातुर्य्य नष्ट करने के लिए) (एकलव्य से दहिने हाथ का अँगूठा माँग लिया। स्वनामधन्य गुरुभक्त एकलव्य ने "गुरुदेव! अँगूठा ही क्या, समस्त शरीर भी यदि सेवा में काम आए, तो मुझे आनन्द मिलेगा। मैं हीं नहीं, अपितु आज से सम्पूर्ण भीलजाति आपको गुरुदक्षिणा में अपना अँगूठा समर्पित कर रही है" कहते हुए अँगूठा काट कर गुरु के चरणों में रख दिया। शिष्य के अपूर्व त्याग से द्रोण पुलकित हो उठे। उनके मुख से ही यह आशीर्वचन निकला कि 'वत्स! मैं तुह्में आशीर्वाद देता हूँ कि, जिस घोर कलियुग में धनुर्विद्या भारतवर्ष से लुप्त हो जायगी, उस समय भी तेरी जाती में इस विद्या का प्रचार रहेगा।'

१३५–राजस्थानी-भील की आश्चर्य्ययुक्ता धनु-वाण-कुशलता—

पाठकों को यह जान कर आश्चर्य्य होगा कि, राजपूतानान्तर्गत परमधन्य मेवाड़प्रान्त की भीलजाति आज भी धनुर्विद्या में निपुण है। एवं आज भी उस गुरुदक्षिणा का स्मरण कर भील तीर चलाते समय अपने दहिने हाथ के अँगुठे को सिकोड़ कर केवल अंगुलियों से ही काम लेते हैं। क्या उक्त आख्यान प्रतिमापूजन की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं कर रहा?।

१३६–भगवान् पाणिनि के कतिपय सूत्र, एवं प्रतिमापूजन—

और आगे बढिए। सिद्धान्तकौमुदी को त्याज्य ग्रन्थ समझने की मूर्खता करने वाले, **केवल अष्टाध्यायी, एवं पातञ्जल महाभाष्य पर ही अपनी निष्ठा प्रकट करने वाले महानुभावों के आत्मबोध के लिए सम्भव है,** निम्न लिखित वचन भी सहायक बने। देखिए!

१–इवे प्रतिकृतौ २–संज्ञायाञ्च ३–लुम्मनुष्ये ४–जीविकार्थे चापण्ये ५–देवपथादिभ्यश्च	"यास्त्वेताः सम्प्रति पूजार्थास्तास्तु भविष्यन्ति" पाणिनीय के समय मूर्त्तियाँ (आज की ही भाँति) बेचीं जातीं थीं। क्या यह निदर्शन मूर्त्तिपूजन की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं करते ?। क्या आज हम इतने बुद्धिशून्य होगए, जिस से कि पाणिनि, पतञ्जलि आदि की उक्ति के सामने हमनें एक अशास्त्रीय कल्पित असत्य मार्ग को वेदसम्मत मान लिया ?।

१३७–अध्यस्तरूपोपासनानुगता प्रतिमा की अनिवार्य्यता, और सांख्यदर्शन—

जिसप्रकार यज्ञ से स्वर्गफल मिलता है, एवमेव उपासना से ईश्वरानुग्रह होता है। स्वर्ग मिलता है यज्ञ से। परन्तु उसकी सिद्धि के लिए हवि–दर्भ–आदि भौतिक द्रव्यों को मध्यस्थ बनाना आवश्यक होता है। इसीप्रकार मूर्त्ति में तत्तद्देवताविशेषों का आरोप करके इस अध्यस्तरूपोपासना से परम्परया ही ज्ञाननिष्पत्ति होती है। जिसप्रकार शुक्ति में रजत का आरोप अध्यास कहलाया है, एवमेव पाषाणमपी प्रतिमा में देवारोप भी अध्यास ही है, जैसाकि उत्तरखण्ड में विस्तार से बतलाया जाते वाला है। यही उपासना '**अध्यस्तरूपोपासना**" कहलाई है। इसी का सर्वात्मना समर्थन करते हुए महामुनि कपिल कहते हैं—

"अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्य्येण–यज्ञोपासकानामिव"

(सांख्यद० ४।२)।

१३८–दृष्टियोग, तथा मनोयोग के विभिन्न क्षेत्रों से अनुप्राणिता उपासना, और प्रतिमानुगता जड़ता का समन्वय—

अब इस सम्बन्ध में केवल एक आक्षेप बच जाता है। "यदि उपासनाकाण्ड में हम जड़प्रतिमाओं को माध्यमिक बनावेंगे, तो उन के संसर्गसे आत्मा में अवश्य ही जड़ता उत्पन्न होगी। फलतः इस का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इस प्रश्न का विस्तृत समाधान तो आगे के प्रकरणों में होगा। अभी इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, उपासना का मूलसूत्र है-"**दृष्टिसंसर्ग प्रतिमा के साथ, एवं मानस–संसर्ग अध्यात्मदेवता के साथ**"। चक्षुर्योग परिच्छिन्न-प्रतिमाके साथ, एवं मनोयोग विभु आत्मा के साथ। क्या जड़ा लिपि पर दृष्टि रखते हुए एक स्वाध्यायनिष्ठ ज्ञान की उच्चभूमिका पर नहीं पहुँचता ?। वही समाधान यहाँ समझिए।

१३९–भूतमाध्यमानुगता उपासना, और तत्र उपनिषच्छ्रुति का संस्मरण—

विश्वास रखिए, वह यहीं, इन्हीं भूतों में, इसी अविद्या के गर्भ में मिलेगा। असत्यपथ को माध्यमिक बना कर ही आप वहाँ पहुँच सकेंगे। प्रतिमोपासना ही उस की उपासना का मूलद्वार बनेगा। देखिए श्रुति क्या कहती है–

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रचया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।
—कठोपनिषत् १।३।१२।

इह चेदवीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
—केनोपनिषत् २।५।

१४०-श्रद्धाविश्वासात्मक-उपास्यदेव, और महात्मा तुलसी—

श्रद्धा-विश्वास है, तो सब में भगवान् हैं, सब भगवान् हैं । यदि श्रद्धा (विश्वास) नहीं, तो सबकुछ रहते हुए भी कुछ नहीं ÷—

भवानीशङ्करौ बन्दे श्रद्धा-विश्वास-रूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम् ॥

१४१-परमत की दृष्टि में प्रतिमापूजन—

जो मुसलमानबन्धु बुतपरस्ती (मूर्त्तिपूजन) को कुफ्र (अविद्या) बतलाते हैं, उन में भी कुछ एक मनीषी उदारचेता महानुभावोंनें निम्न लिखित शब्दों में प्रतिमापूजन की उपयोगिता स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की है—

१-कूचए वहम * है तारीक, भटकने का है डर ।
चाहिए रोदनी शम यँकी थोड़ी सी ॥"
—अमीरमीनाई, लखनऊ

"संसार में पद पद पर संशयों का घना जंगल खड़ा हुआ है । अवश्य ही राहगीर के गुम होजाने का डर है । इस बदगुमानी से बचने के लिए यकीन (विश्वासरूप) रोदनी (प्रकाश) अवश्य चाहिए" ।

२-मुसलमाँ गर्बदानिस्ते कि बुत चीस्त ।
बिदानिस्ते कि दीदर बुत परस्तीत ॥
—मौलाना महमूद शबस्तरी, किताब गुलशनेराज

÷-"माने तो देव, नहीं भाटा का लेव" राजस्थान प्रान्त की सुप्रसिद्धा लोकोक्ति, जिस का अर्थ यही है कि, "श्रद्धा-विश्वासानुगता आस्थागर्भिता मान्यता से ही पाषाणमयी भी प्रतिमा देवभावस्थानीया बन जाती है । श्रद्धा-विश्वास नहीं है, तो फिर प्रतिमा पाषाणमात्र ही है" ।

* "संशयात्मा विनश्यति" (गीता) ।

"मुसलमान यदि यह जान लेता कि, प्रतिमा क्या वस्तु है, तो उसे मालूम होजाता कि-सारा दीनोईमान बुतपरस्ती में ही भरा पड़ा है"।

३-दरूनें हर बुतें जानेस्त पिनहा।
बजेरे कुफ्र ईमानेस्त पिनहा॥

"प्रत्येक प्रतिमा में गुप्तरूप से प्राण प्रतिष्ठित रहता है। और कुफ्रमें ईमान छुपा हुआ है"। अविद्या कुफ्र है। भौतिक पदार्थ अविद्या (तमः) प्रधान बनते हुए कुफ्र हैं। फलतः प्रतिमा भी कुफ्र है। ईमान विद्यातत्त्व है। विद्या की प्राप्ति का साधन अविद्या है*, असम्भूति से ही सम्भूति मिलती है, मृत्यु ही अमृत प्राप्ति का कारण है-"असत्ये वर्त्मनि स्थित्त्वा ततः सत्यं समीहते"।

१४२-प्रतिमापूजन का समर्थन, तथा "* परिशिष्ट-प्रकरणोपराम"—

इसप्रकार युक्ति, तर्क, अनुभव, विज्ञान, इतिहास, पुराण, वेद, स्मृति, दर्शन, षडङ्ग, परमत, इत्यादि, सभी प्रमाणों के द्वारा मूर्त्तिपूजन का प्राचीनत्त्व, प्रमाणत्त्व, एवं उपादेयत्त्व भलीभाँति सिद्ध होजाता है। जो महानुभाव मूर्त्तिपूजन के विरोधी हैं, वे सर्वशास्त्र-विरोधी बनते हुए दूर से ही प्रणम्य हैं-"**काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः**"।

इति—भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डे—

"प्रतिमापूजन, और उपासना"

नामक

"*-परिशिष्ट-प्रकरण"

उपरत

समाप्तश्चायं-भक्तियोगपरीक्षायां-पूर्वखण्डः



---

* अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।
—ईशोपनिषत्

श्रीः

इति—गीताविज्ञानभाष्यभूमिकायाः—

सर्वान्तरतमपरीक्षायाः—'क'कार विभागात्मकः

"भक्तियोगपरीक्षात्मकः-पूर्वखण्डः"

उपरतः

